☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्रीकन्हैयालालजी 'कमल'
श्रीदेवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्रीरतन मुनि
पण्डित श्रीशोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्रीविनयकुमार 'भीम'
श्रीमहेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वीरनिर्वाणसंवत् २५०८
विक्रम सं. २०३९
ई. सन् १९८२

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशनसमिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
ब्यावर—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय, केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य [illegible]

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

NANDĪ SUTRA

By

DEVAVĀCHAK

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Proximity
Up-pravartaka Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor
Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Sadhwi Umrāvakunwar 'Archanā'

Editor
Kamala 'Jiji', M. A.

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 12

☐ **Managing Editor**

Srichand Surana 'Saras'

☐ **Promotor**

Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

☐ **Date of Publication**

Vir-nirvana Samvat 2508
Vikram Samvat 2039, May 1982

☐ **Publishers**

Sri Agam Prakashan Samiti
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305901

☐ **Printer**

Satishchandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer—305001

☐ **Price** Rs. 28/-

समर्पण

जिनकी साहित्य-सेवा अमर रहेगी,

जिनके प्रकाण्ड पाण्डित्य के समक्ष जैन-
जैनेतर विद्वान् नतमस्तक होते थे,

जो सरलता, शान्ति एवं संयम की प्रति-
मूर्त्ति थे, भारत की राजधानी में जो अपने भव्य
एवं दिव्य व्यक्तित्व के कारण 'भारतभूषण'
के गौरवमय विरुद से विभूषित किए गए,

जिनके अगाध आगमज्ञान का लाभ मुझे
भी प्राप्त करने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ, उन
विद्वद्वरिष्ठ शतावधानी
मुनिश्रीरत्नचन्द्रजी महाराज
के कर-कमलों में।

—मधुकर मुनि

प्रकाशकीय

श्रीनन्दीसूत्र पाठकों के हाथों में है। इस सूत्र का अनुवाद और विवेचन श्रमणसंघीय प्रख्यात विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म. 'अर्चना' ने किया है। महासती 'अर्चना' जी से स्थानकवासी समाज भलीभांति परिचित है। आपके प्रशस्त साहित्य को नर-नारी बड़े ही चाव से पढ़ते-पढ़ाते हैं। प्रवचन भी आपके अन्तरतर से विनिर्गत होने के कारण अतिशय प्रभावोत्पादक, माधुर्य से ओतप्रोत एवं बोधप्रद होते हैं। प्रस्तुत आगम का अनुवाद सरल और सुबोध भाषा में होने से स्वाध्यायप्रेमी पाठकों के लिए यह संस्करण अत्यन्त उपयोगी होगा, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत सूत्र परम मांगलिक माना जाता है। हजारों वर्षों से ऐसी परम्परा चली आ रही है। अतएव साधु-साध्वीगण इसका सज्झाय करते हैं। अनेक श्रावक भी। उन सब के लिए न अधिक विस्तृत, न अधिक संक्षिप्त, मध्यम शैली में तैयार किया गया यह संस्करण विशेषतया बोधप्रद होगा।

समिति अपने लक्ष्य की ओर, यथाशक्य सावधानी के साथ किन्तु तीव्र गति से, आगे बढ़ रही है। विपाकसूत्र तथा औपपातिकसूत्र भी लगभग साथ ही प्रकाशित हो रहे हैं। भगवतीसूत्र का मुद्रण चालू है। राजप्रश्नीय भी प्रेस में जाने के लिए तैयार है।

यह सब श्रमणसंघ के युवाचार्य पण्डितप्रवर मुनिश्री मिश्रीमलजी म. सा. 'मधुकर' के कठिन श्रम और आगमज्ञान के अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार के प्रति तीव्र लगन तथा गंभीर पाण्डित्य के कारण संभव हो सक रहा है। अतएव हम युवाचार्यश्रीजी के प्रति आभार-निवेदन करने के लिए पर्याप्त शब्द नहीं पा रहे हैं।

अर्थसहायकों के और विशेषतः इस सूत्र के प्रकाशन में विशिष्ट आर्थिक सहयोग प्रदान करने वाले समाज के सजग एवं प्रमुख कार्यकर्त्ता श्रीमान् सेठ रतनचंदजी सा. चोरड़िया के भी हम आभारी हैं। आपका परिचय अन्यत्र दिया जा रहा है।

इनके अतिरिक्त अन्य सब सहायकों, कार्यकर्त्ताओं एवं वैदिक प्रेस के प्रबन्धक आदि महानुभावों के स्नेहपूर्ण सहयोग का भी हम हृदय से स्वागत करते हैं।

श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनागम-रत्नाकर आचार्यवर्य श्रीआत्मारामजी म. सा. के जो भी आगम प्रकाशित हुए हैं, वे हमारे पथप्रदर्शक हैं। इसके लिए हम कृतज्ञ हैं।

रतनचंद मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष

जतनराज मेहता
महामंत्री

चांदमल विनायकिया
मंत्री

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

१. श्रीमान् सेठ मोहनमलजी चोरड़िया	अध्यक्ष	मद्रास
२. श्रीमान् सेठ रतनचन्दजी मोदी	कार्यवाहक अध्यक्ष	ब्यावर
३. श्रीमान् कँवरलालजी बैताला	उपाध्यक्ष	गोहाटी
४. श्रीमान् दौलतराजजी पारख	उपाध्यक्ष	जोधपुर
५. श्रीमान् रतनचन्दजी चोरड़िया	उपाध्यक्ष	मद्रास
६. श्रीमान् खूबचन्दजी गादिया	उपाध्यक्ष	ब्यावर
७. श्रीमान् जतनराजजी मेहता	महामन्त्री	मेड़ता सिटी
८. श्रीमान् चाँदमलजी विनायकिया	मन्त्री	ब्यावर
९. श्रीमान् ज्ञानराजजी मूथा	मन्त्री	पाली
१०. श्रीमान् चाँदमलजी चौपड़ा	सहमन्त्री	ब्यावर
११. श्रीमान् जौहरीलालजी शीशोदिया	कोषाध्यक्ष	ब्यावर
१२. श्रीमान् गुमानमलजी चोरड़िया	कोपाध्यक्ष	मद्रास
१३. श्रीमान् मूलचन्दजी सुराणा	सदस्य	नागौर
१४. श्रीमान् जी. सायरमलजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
१५. श्रीमान् जेठमलजी चोरड़िया	सदस्य	बैंगलोर
१६. श्रीमान् मोहनसिंहजी लोढा	सदस्य	ब्यावर
१७. श्रीमान् वादलचन्दजी मेहता	सदस्य	इन्दौर
१८. श्रीमान् मांगीलालजी सुराणा	सदस्य	सिकन्दरावाद
१९. श्रीमान् माणकचन्दजी बैताला	सदस्य	वागलकोट
२०. श्रीमान् भंवरलालजी गोठी	सदस्य	मद्रास
२१. श्रीमान् भंवरलालजी श्रीश्रीमाल	सदस्य	दुर्ग
२२. श्रीमान् सुगनचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२३. श्रीमान् दुलीचन्दजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२४. श्रीमान् खींवराजजी चोरड़िया	सदस्य	मद्रास
२५. श्रीमान् प्रकाशचन्दजी जैन	सदस्य	भरतपुर
२६. श्रीमान् भंवरलालजी मूथा	सदस्य	जयपुर
२७. श्रीमान् जालमसिंहजी मेड़तवाल	(परामर्शदाता)	ब्यावर

प्रस्तुत आगम के विशिष्ट अर्थसहयोगी

श्रीमान् सेठ एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

[जीवन परिचय]

आपका जन्म मारवाड़ के नागौर जिले के नोखा (चांदावतों का) ग्राम में दिनांक २० दिसम्बर १९२० ई. को स्व. श्रीमान् सिमरथमलजी चोरड़िया की धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती गट्टूबाई की कुक्षि से हुआ। आपका बचपन गाँव में ही बीता। प्रारंभिक शिक्षा आगरा में सम्पन्न हुई। यहीं पर चौदह वर्ष की अल्पायु में ही आपने अपना स्वतंत्र व्यवसाय प्रारंभ किया। निरन्तर अथक परिश्रम करते हुए पन्द्रह वर्ष तक आढ़त के व्यवसाय में सफलता प्राप्त की।

सन् १९५० के मध्य आपने दक्षिण भारत के प्रमुख व्यवसाय के केन्द्र मद्रास में फाइनेन्स का कार्य शुरू किया जो आज सफलता की ऊँचाइयों को छू रहा है, जिसमें प्रमुख योगदान आपके होनहार सुपुत्र श्री प्रसन्नचन्दजी, श्री पदमचन्द जी, श्री प्रेमचन्दजी, श्री धर्मचन्दजी का भी रहा है। वे कुशल व्यवसायी हैं तथा आपके आज्ञाकारी हैं।

आपने व्यवसाय में सफलता प्राप्त कर अपना ध्यान समाज-हित में व धार्मिक कार्यों की ओर भी लगाया है। उपार्जित धन का सदुपयोग भी शुभ कार्यों में हमेशा करते रहते हैं। उसमें आपके सम्पूर्ण परिवार का सहयोग रहता है। मद्रास के जैनसमाज के ही नहीं अन्य समाजों के कार्यों में भी आपका सहयोग सदैव रहता है।

आप मद्रास की जैन समाज की प्रत्येक प्रमुख संस्था से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित हैं। उनमें से कुछेक ये हैं :—

भू. पू. कोषाध्यक्ष—श्री एस. एस. जैन एज्युकेशनल सोसायटी
(इस पद पर सात वर्ष तक रहे हैं)

अध्यक्ष—(उत्तराञ्चल)—श्री राजस्थानी एसोसिएशन,

कोषाध्यक्ष—श्री राजस्थानी श्वे. स्था. जैन सेवा संघ, मद्रास
(इस संस्था द्वारा असहाय व असमर्थ जनों को सहायता दी जाती है। होनहार युवकों व युवतियों को व विद्वानों को सहयोग दिया जाता है।)

महास्तम्भ—श्री वर्धमान सेवा समिति, नोखा

संरक्षक—श्री भगवान् महावीर अहिंसा प्रचार संघ

ट्रस्टी—स्वामीजी श्री हजारीमलजी म. जैन ट्रस्ट, नोखा

कार्यकारिणी के सदस्य—आनन्द फाउन्डेशन

भू. पू. महामंत्री—श्री वेंकटेश आयुर्वेदिक औषधालय-मद्रास,
(यहाँ सैकड़ों रोगी प्रतिदिन उपचारार्थ आते हैं)

सदैव सन्त-सतियाँजी की सेवा करना भी आपने अपने जीवन का ध्येय बनाया है। आज स्थानकवासी समाज के कोई भी सन्त मुनिराज नहीं हैं जो आपके नाम व आपकी सेवाभावना से परिचित न हों।

आपके लघुभ्राता सर्वश्री बादलचन्दजी, सायरचन्दजी भी धार्मिक वृत्ति के हैं। वे भी प्रत्येक सत्कार्य में आपको पूर्ण सहयोग प्रदान करते हैं। आपके स्व. अनुज श्री रिखबचंदजी की भी अपने जीवनकाल में यही भावना रही है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती रतनकंवर भी धर्मश्रद्धा की प्रतिमूर्ति एवं तपस्विनी हैं। परिवार के सभी सदस्य धार्मिक भावना से प्रभावित हैं। विशेषतः पुत्रवधुएँ आपकी धार्मिक परम्परा को बराबर बनाये हुए हैं।

आपने जन-कल्याण की भावना को दृष्टिगत रखते हुए निम्नलिखित ट्रस्टों की स्थापना की है जो उदारता से समाज सेवा कर रहे हैं।

(१) श्री एस. रतनचन्द चोरड़िया चेरिटेबल ट्रस्ट
(२) श्री सिमरथमल गट्टूबाई चोरड़िया चेरिटीज़ ट्रस्ट

आपका परिवार स्वामीजी श्री व्रजलालजी म. सा., पूज्य युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म. सा. का अनन्य भक्त है। आपने श्रीआगम-प्रकाशन-समिति से प्रकाशित इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपना उदार सहयोग प्रदान किया है। एतदर्थ-समिति आपका आभार मानती है एवं आशा करती है कि भविष्य में भी आपका सम्पूर्ण सहयोग समिति को मिलता रहेगा।

☐ **मन्त्री**

☐☐

आदि वचन

विश्व के जिन दार्शनिकों—दृष्टाओं/चिन्तकों, ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्बन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद् आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैन दर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारों—राग द्वेष आदि को, साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है, और विकार जब पूर्णतः निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियाँ ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित-उद्भासित हो जाती हैं। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी; वचन/कथन/प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिबोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यतः सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का संकलन नहीं किया जाता, वह बिखरे सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, संघीय जीवन पद्धति में धर्म-साधना को स्थापित करते हैं, वे धर्म प्रवर्तक/अरिहंत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्हीं के अतिशयसम्पन्न विद्वान् शिष्य गणधर संकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते हैं अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनों की मुक्त वृष्टि जब मालारूप में ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सब के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा में "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतों के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र-द्वादशांग में समाहित होते हैं और द्वादशांग/आचारांग-सूत्रकृतांग आदि के अंग-उपांग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए हैं। इस द्वादशांगी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी बारहवाँ अंग विशाल एवं समग्र श्रुतज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिए सामान्यतः एकादशांग का अध्ययन साधकों के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सबकी गति/मति रही।

जब लिखने की परम्परा नहीं थी, लिखने के साधनों का विकास भी अल्पतम था, तब आगमों/शास्त्रों/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवतः इसलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दों का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष बाद तक आगमों का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य; गुरुपरम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणों के लिए यह जहाँ चिन्ता का विषय था, वहाँ चिन्तन की तत्परता एवं जागरूकता को चुनौती भी थी। वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के संरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एवं संजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमों को लिपि-बद्ध किया गया।

जिनवाणी को पुस्तकारूढ करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुतः आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। संस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) में आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमों की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी; पर लिपिवद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रों का अन्तिम स्वरूप-संस्कार इसी वाचना में सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ होने के वाद आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-संघों के आन्तरिक मतभेद, स्मृतिदुर्वलता, प्रमाद एवं भारतभूमि पर वाहरी आक्रमणों के कारण विपुल ज्ञान-भण्डारों का विध्वंस आदि अनेकानेक कारणों से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थवोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एवं विलुप्त होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव में, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणों से आगम की पावन धारा संकुचित होती गयी।

विक्रमीय सोलहवीं शताव्दी में वीर लोंकाशाह ने इस दिशा में क्रान्तिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुनः चालू हुआ। किन्तु कुछ काल वाद उसमें भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धांतिक विग्रह, तथा लिपिकारों का अत्यल्प ज्ञान आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थवोध में बहुत बड़ा विघ्न वन गया। आगम-अभ्यासियों को शुद्ध प्रतियां मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवीं शताव्दी के प्रथम चरण में जव आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठकों को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वत्-प्रयासों से आगमों की प्राचीन चूर्णियाँ, निर्युक्तियाँ, टीकायें आदि प्रकाश में आई और उनके आधार पर आगमों का स्पष्ट-सुगम भाववोध सरल भाषा में प्रकाशित हुआ। इसमें आगम-स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनों को सुविधा हुई। फलतः आगमों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति वढ़ी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कहीं अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति वढ़ी है, जनता में आगमों में प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण में अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानों तथा भारतीय जैनेतर विद्वानों की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताव्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय-श्रुत-सेवा में अनेक समर्थ श्रमणों, पुरुषार्थी विद्वानों का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नींव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हों, पर विस्मरणीय तो कदापि नहीं, स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखों के अभाव में हम अधिक विस्तृत रूप में उनका उल्लेख करने में असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो हैं ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरों का नामोल्लेख अवश्य करना चाहूँगा।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमों—३२ सूत्रों का प्राकृत से खड़ी वोली में अनुवाद किया था। उन्होंने अकेले ही वत्तीस सूत्रों का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन में पूर्ण कर अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ लगनशीलता, साहस एवं आगम ज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वतः परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय में प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगमपठन बहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी-तेरापंथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमल जी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रातःस्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म० के सान्निध्य में आगमों का अध्ययन-अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलांक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेवश्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह संस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी है, अब तक उपलब्ध संस्करणों में प्रायः शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठों में व वृत्ति में कहीं-कहीं अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो हैं ही। चूंकि गुरुदेवश्री स्वयं आगमों के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हें आगमों के अनेक गूढ़ार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अतः वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञानवाले श्रमण-श्रमणी एवं जिज्ञासुजन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तड़प कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियों के कारण उनका यह स्वप्न-संकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन में प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल में आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म०, विद्वद्रत्न श्री घासीलालजी म० आदि मनीषी मुनिवरों ने आगमों की हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि में सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्त्वावधान में लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व० मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम-सम्पादन की दिशा में बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानों ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उस में व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान में आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय में आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हें देखकर विद्वानों को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय में काफी मतभेद की गुंजाइश है। तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० "कमल" आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमों में उनकी कार्यशैली की विशदता एवं मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्री बेचरदासजी दोशी, विश्रुत-मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमों के आधुनिक सम्पादन की दिशा में स्वयं भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहंगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज प्रायः सभी विद्वानों की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कहीं आगमों का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है तो कहीं आगमों की विशाल व्याख्यायें की जा रही हैं। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को सरलतापूर्वक आगमज्ञान प्राप्त हो सके, एतदर्थ मध्यम मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमों का एक ऐसा संस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, संक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही आगम-संस्करण चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की

थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ निश्चय घोषित कर दिया और आगमबत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलाल जी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्बल बना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्गृहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नहीं होगा। आगम अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म० "कमल", प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म० शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म० के प्रशिष्य भण्डारी श्री पदमचन्दजी म० एवं प्रवचन-भूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म०; स्व० विदुषी महासती श्री उज्ज्वलकुंवरजी म० की सुशिष्याएं महासती दिव्यप्रभाजी, एम. ए., पी-एच. डी.; महासती मुक्तिप्रभाजी एम. ए., पी-एच. डी. तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म० 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् पं० श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, स्व. पं. श्री हीरालालजी शास्त्री, डा० छगनलालजी शास्त्री एवं श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियों का सहयोग आगमसम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल बना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एवं महेन्द्र मुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुंवरजी, महासती श्री झणकारकुंवरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसंग पर इस कार्य के प्रेरणा-स्रोत स्व० श्रावक चिमनसिंहजी लोढ़ा, स्व० श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहजरूप में हो आता है जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नों से आगम समिति अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के अल्पकाल में ही दस आगम ग्रन्थों का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमों का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सब सहयोगियों की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमलजी महाराज आदि तपोपूत आत्माओं के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसंघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-संत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म० आदि मुनिवरों के सद्भाव-सहकार के बल पर यह संकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ,

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

□□

सम्पादकीय

मौलिक लेखन की अपेक्षा भाषान्तर-अनुवाद करने का कार्य कुछ दुरूह होता है। भाषा दूसरी और भाव भी स्वान्तःसमुद्भूत नहीं। उन भावों को भाषान्तर में बदलना और वह भी इस प्रकार कि अनुवाद की भाषा का प्रवाह अस्खलित रहे, उसकी मौलिकता को आंच न आए, सरल नहीं है। विशेषतः आगम के अनुवाद में तो और भी अधिक कठिनाई का अनुभव होता है। मूल आगम के तात्पर्य-अभिप्राय-आशय में किंचित् भी अन्यथापन न आ जाए, इस ओर पद-पद पर सावधानी बरतनी पड़ती है। इसके लिए पर्याप्त भाषाज्ञान और साथ ही आगम के आशय की विशद परिज्ञा अपेक्षित है।

जैनागमों की भाषा प्राकृत-अर्द्धमागधी है। नन्दीसूत्र का प्रणयन भी इसी भाषा में हुआ है। यह आगम जैनजगत् में परम मांगलिक माना जाता है। अनेक साधक-साधिकाएँ प्रतिदिन इसका पाठ करते हैं। अतएव इसका अपेक्षाकृत अधिक प्रचलन है। इसके प्रणेता श्री देव वाचक हैं। ये देव वाचक कौन हैं? जैन परम्परा में सुविख्यात देवर्धिगणि ही हैं या उनसे भिन्न? इस विषय में इतिहासविद् विद्वानों में मतभिन्नता है। पंन्यास श्रीकल्याणविजय जी म० दोनों को एक ही व्यक्ति स्वीकार करते हैं। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने अनेक प्रमाण भी उपस्थित किए हैं। किन्तु मुनि श्री पुण्यविजयजी ने अपने द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र की प्रस्तावना में पर्याप्त ऊहापोह के पश्चात् इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया है।

नन्दीसूत्र के आरम्भ में दी गई स्थविरावली के अन्तिम स्थविर श्रीमान् दूष्यगणि के शिष्य देववाचक इस सूत्र के प्रणेता हैं, यह निर्विवाद है। नन्दी-चूर्णि एवं श्रीहरिभद्र सूरि तथा श्रीमलयगिरि सूरि की टीकाओं के उल्लेख से यह प्रमाणित है।

इतिहास मेरा विषय नहीं है। अतएव देववाचक और देवर्धिगणि क्षमाश्रमण की एकता या भिन्नता का निर्णय इतिहासवेत्ताओं को ही अधिक गवेषणा करके निश्चत करना है।

अर्द्धमागधी भाषा और आगमों के आशय को निरन्तर के परिशीलन से हम यत्किञ्चित् जानते हैं, किन्तु साधिकार जानना और समझना अलग बात है। उसमें जो प्रौढ़ता चाहिए उसका मुझ में अभाव है। अपनी इस सीमित योग्यता को भली-भांति जानते हुए भी मैं नन्दीसूत्र के अनुवाद-कार्य में प्रवृत्त हुई, इसका मुख्य कारण परमश्रद्धेय गुरुदेव श्रमणसंघ के युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी म० सा० की तथा मेरे विद्यागुरु श्रीयुत पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल की आग्रहपूर्ण प्रेरणा है। इसीसे प्रेरित होकर मैंने अनुवादक की भूमिका का निर्वाह मात्र किया है। मुझे कितनी सफलता मिली या नहीं मिली, इसका निर्णय मैं विद्वज्जनों पर छोड़ती हूँ।

सर्वप्रथम पूज्य आचार्यश्री आत्मारामजी महाराज के प्रति सविनय आभार प्रकट करना अपना परम कर्त्तव्य मानती हूँ। आचार्यश्रीजी द्वारा सम्पादित एवं अनूदित नन्दीसूत्र से मुझे इस अनुवाद में सबसे अधिक सहायता मिली है। इसका मैंने अपने अनुवाद में भरपूर उपयोग किया है। कहीं-कहीं विवेचन में कतिपय नवीन

विषयों का भी समावेश किया है। तथापि यह स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं कि आचार्यश्री के अनुवाद को देखे विना प्रस्तुत संस्करण को तैयार करने का कार्य मेरे लिए अत्यन्त कठिन होता।

साथ ही अपनी सुविनीत शिष्याओं तथा श्रीकमला जैन जीजी एम० ए० का सहयोग भी इस कार्य में सहायक हुआ है। पंडितप्रवर श्री विजयमुनिजी म० शास्त्री ने विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिख कर प्रस्तुत संस्करण की उपादेयता में वृद्धि की है। इन सभी के योगदान के लिए मैं आभारी हूँ।

अन्त में एक वात और—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।

चलते-चलते असावधानी के कारण कहीं न कहीं चूक हो ही जाती है। इस नीति के अनुसार स्खलना की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। सुज्ञ एवं सहृदय पाठक यथोचित सुधार कर पढ़ेंगे, ऐसी आशा है।

☐ जैनसाध्वी उमरावकुंवर 'अर्चना'

प्रस्तावना

☐ विजयमुनि शास्त्री

आगमों की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि

वेद, जिन और बुद्ध—भारत की दर्शन-परम्परा, भारत की धर्म-परम्परा और भारत की संस्कृति के ये मूल-स्रोत हैं। हिन्दू-धर्म के विश्वास के अनुसार वेद ईश्वर की वाणी हैं। वेदों का उपदेष्टा कोई व्यक्ति विशेष नहीं था, स्वयं ईश्वर ने उसका उपदेश किया था। अथवा वेद ऋषियों की वाणी है, ऋषियों के उपदेशों का संग्रह है। वैदिक परम्परा का जितना भी साहित्य-विस्तार है, वह सब वेद-मूलक है। वेद और उसका परिवार संस्कृत भाषा में है। अतः वैदिक-संस्कृति के विचारों की अभिव्यक्ति संस्कृत भाषा के माध्यम से ही हुई है।

बुद्ध ने अपने जीवनकाल में अपने भक्तों को जो उपदेश दिया था—त्रिपिटक उसी का संकलन है। बुद्ध की वाणी को त्रि-पिटक कहा जाता है। बौद्ध-परम्परा के समग्र विचार और समस्त विश्वासों का मूल त्रि-पिटक है। बौद्ध-परम्परा का साहित्य भी बहुत विशाल है, परन्तु पिटकों में बौद्ध संस्कृति के विचारों का समग्र सार आ जाता है। बुद्ध ने अपना उपदेश भगवान् महावीर की तरह उस युग की जनभाषा में दिया था। बुद्धिवादी वर्ग की उस युग में, यह एक बहुत बड़ी क्रान्ति थी। बुद्ध ने जिस भाषा में उपदेश दिया, उसको पालि कहते हैं। अतः पिटकों की भाषा, पालि भाषा है।

जिन की वाणी को अथवा जिन के उपदेश को आगम कहा जाता है। महावीर की वाणी—आगम है। जिन की वाणी में, जिन के उपदेश में जिनको विश्वास है, वह जैन है। राग और द्वेष के विजेता को जिन कहते हैं। भगवान् महावीर ने राग और द्वेष पर विजय प्राप्त की थी। अतः वे जिन थे, तीर्थंकर भी थे। तीर्थंकर की वाणी को जैन परम्परा में आगम कहते हैं। भगवान् महावीर के समग्र विचार और समस्त विश्वास तथा समस्त आचार का संग्रह जिसमें है उसे द्वादशांगवाणी कहते हैं। भगवान् ने अपना उपदेश उस युग की जन-भाषा में, जन-बोली में दिया था। जिस भाषा में भगवान् महावीर ने अपना विश्वास, अपना विचार, अपना आचार व्यक्त किया था, उस भाषा को अर्द्ध-मागधी कहते हैं। जैन परम्परा के विश्वास के अनुसार अर्द्ध-मागधी को देव-वाणी भी कहते हैं। जैन-परम्परा का साहित्य बहुत विशाल है। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, तमिल, कन्नड़, मराठी और अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी विराट् साहित्य लिखा गया है। आगम-युग का कालमान भगवान् महावीर के निर्वाण अर्थात् विक्रम पूर्व ४७० से प्रारम्भ होकर प्रायः एक हजार वर्ष तक जाता है। वैसे किसी न किसी रूप में आगम-युग की परम्परा वर्तमान युग में चली आ रही है। आगमों में जीवन सम्बन्धी सभी विषयों का प्रतिपादन किया गया है। परन्तु यहाँ पर आगमकाल में दर्शन

की स्थिति क्या थी, यह बतलाना भी अभीष्ट है। जिन आगमों में दर्शन-शास्त्र के मूल तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया, उनमें से मुख्य आगम हैं—सूत्रकृतांग, भगवती, स्थानांग, समवायांग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी और अनुयोगद्वार। सूत्रकृतांग में तत्कालीन अन्य दार्शनिक विचारों का निराकरण करके स्वमत की प्ररूपणा की गई है। भूतवादियों का निराकरण करके आत्मा का अस्तित्व बतलाया है। ब्रह्मवाद के स्थान में नाना-आत्मवाद स्थिर किया है। जीव और शरीर को पृथक् बतलाया है। कर्म और उसके फल की सत्ता स्थिर की है। जगत् उत्पत्ति के विषय में नाना वादों का निराकरण करके विश्व को किसी ईश्वर या अन्य किसी व्यक्ति ने नहीं बनाया, वह तो अनादि-अनन्त है—इस सिद्धान्त की स्थापना की गई है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का निराकरण करके विशुद्ध क्रियावाद की स्थापना की गई है। प्रज्ञापना में जीव के विविध भावों को लेकर विस्तार से विचार किया गया है। राजप्रश्नीय में पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी केशीकुमार श्रमण ने राजा प्रदेशी के प्रश्नों के उत्तर में नास्तिकवाद का निराकरण करके आत्मा और तत्सम्बन्धी अनेक तथ्यों को दृष्टान्त एवं युक्तिपूर्वक समझाया है। भगवती सूत्र के अनेक प्रश्नोत्तरों में नय, प्रमाण और निक्षेप आदि अनेक दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं। नन्दीसूत्र जैन दृष्टि से ज्ञान के स्वरूप और भेदों का विश्लेषण करने वाली एक सुन्दर एवं सरल कृति है। स्थानांग और समवायांग की रचना बौद्ध-परम्परा के अंगुतर-निकाय के ढंग की है। इन दोनों में भी आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय, प्रमाण एवं निक्षेप आदि विषयों की चर्चा की गई है। महावीर के शासन में होने वाले अन्यथावादी निह्नवों का उल्लेख स्थानांग में है। इस प्रकार के सात व्यक्ति बताये गये हैं, जिन्होंने कालक्रम से महावीर के सिद्धान्तों की भिन्न-भिन्न बातों को लेकर मतभेद प्रकट किया था। अनुयोगद्वार में शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का वर्णन मुख्य है। किन्तु यथाप्रसंग उसमें प्रमाण, नय एवं निक्षेप पद्धति का अत्यन्त सुन्दर निरूपण हुआ है।

आगम-प्रामाण्य में मतभेद—

आगम-प्रामाण्य के विषय में एकमत नहीं है। श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद, और आवश्यक, इस प्रकार ३२ आगमों को प्रमाणभूत स्वीकार करती है। शेष आगमों को नहीं। इनके अतिरिक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं को भी सर्वांशतः प्रमाणभूत स्वीकार नहीं करती। दिगम्बर परम्परा उक्त समस्त आगमों को अमान्य घोषित करती है। उसकी मान्यता के अनुसार सभी आगम लुप्त हो चुके हैं। दिगम्बर-परम्परा का विश्वास है, कि वीर-निर्वाण के बाद श्रुत का क्रम से ह्रास होता गया। यहाँ तक ह्रास हुआ कि वीर-निर्वाण के ६८३ वर्ष के बाद कोई भी अंगधर अथवा पूर्वधर नहीं रहा। अंग और पूर्व के अंशधर कुछ आचार्य अवश्य हुए हैं। अंग और पूर्व के अंश-ज्ञाता आचार्यों की परम्परा में होने वाले पुष्पदन्त, और भूतबलि आचार्यों ने 'षट् खण्डागम' की रचना—द्वितीय अग्रायणीय पूर्व के अंश के आधार पर की, और आचार्य गुणधर ने पाँचवें पूर्व ज्ञानप्रवाद के अंश के आधार पर 'कषायपाहुड़' की रचना की। भूतबलि आचार्य ने 'महा-बन्ध की रचना की। उक्त आगमों में निहित विषय मुख्य रूप से जीव और कर्म है। बाद में उक्त ग्रन्थों पर आचार्य वीरसेन ने धवला और जयधवला टीका रची। यह टीका भी उक्त परम्परा को मान्य है। दिगम्बर परम्परा का सम्पूर्ण साहित्य आचार्यों द्वारा रचित है। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत ग्रन्थ—समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसार एवं नियमसार आदि भी दिगम्बर-परम्परा में आगमवत् मान्य हैं। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के ग्रन्थ—'गोम्मटसार', 'लब्धिसार' और 'द्रव्यसंग्रह' आदि भी उतने ही प्रमाणभूत और मान्य हैं। आचार्य कुन्द-कुन्द के ग्रन्थों पर आचार्य अमृतचन्द्र ने अत्यन्त प्रौढ़ एवं गम्भीर टीकाएँ लिखी हैं। इस प्रकार दिगम्बर आगम-साहित्य भले ही बहुत प्राचीन न हो, फिर भी परिमाण में वह विशाल है। उर्वर और सुन्दर है।

आगमों का व्याख्या-साहित्य:—

श्वेताम्बर—परम्परा द्वारा मान्य ४५ आगमों पर व्याख्या—सहित्य बहुत व्यापक एवं विशाल है। जैन-दर्शन का प्रारम्भिक रूप ही इन व्याख्यात्मक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता, वल्कि दर्शन-तत्त्व के गम्भीर से गम्भीर विचार भी आगम साहित्य के इस व्याख्यात्मक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। आगमों की व्याख्या एवं टीका दो भाषा में हुई है—प्राकृत और संस्कृत। प्राकृत टीका—निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि के नाम से उपलब्ध है। निर्युक्ति और भाष्य पद्यमय हैं और चूर्णि गद्यमय है। उपलब्ध निर्युक्तियों का अधिकांश भाग भद्रबाहु द्वितीय की रचना है। उनका समय विक्रम ५ वीं या ६ ठी शताब्दी है। निर्युक्तियों में भद्रबाहु ने अनेक स्थलों पर एवं अनेक प्रसंगों पर दार्शनिक तत्वों की चर्चाएँ बड़े सुन्दर ढंग से की हैं। विशेष कर बौद्धों और चार्वाकों के विषय में निर्युक्ति में जहाँ कहीं भी अवसर मिला उन्होंने खण्डन के रूप में अवश्य लिखा है। आत्मा का अस्तित्व उन्होंने सिद्ध किया। ज्ञान का सूक्ष्म निरूपण तथा अहिंसा का तात्विक विवेचन किया है। शब्दों के अर्थ करने की पद्धति में तो वे निष्णात थे ही। प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय में लिखकर भद्रबाहु ने जैन-दर्शन की भूमिका पक्की की है।

किसी भी विषय की चर्चा का अपने समय तक का पूर्ण रूप देखना हो तो भाष्य देखना चाहिए। भाष्यकारों में प्रसिद्ध आचार्य संघदास गणि और आचार्य क्षमाश्रमण जिनभद्र हैं। इनका समय सातवीं शताब्दी है। जिनभद्र ने 'विशेषावश्यक भाष्य' में आगमिक पदार्थों का तर्कसंगत विवेचन किया है। प्रमाण, नय, और निक्षेप की सम्पूर्ण चर्चा तो उन्होंने की ही है, इसके अतिरिक्त तत्वों का भी तात्विक रूप से एवं युक्तिसंगत विवेचन उन्होंने किया है। यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक चर्चा का कोई ऐसा विषय नहीं है जिस पर आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने अपनी समर्थ कलम न चलाई हो। 'बृहत्कल्प' भाष्य में आचार्य संघदास गणि ने साधुओं के आचार एवं विहार आदि के नियमों के उत्सर्ग-अपवाद मार्ग की चर्चा दार्शनिक ढंग से की है। इन्होंने भी प्रसंगानुकूल ज्ञान, प्रमाण, नय और निक्षेप के विषय में पर्याप्त लिखा है। भाष्य साहित्य वस्तुतः आगम-युगीन दार्शनिक विचारों का एक विश्वकोष है।

लगभग ७ वीं तथा ८ वीं शताब्दियों की चूर्णियों में भी दार्शनिक तत्व पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। चूर्णिकारों में आचार्य जिनदास महत्तर बहुविश्रुत एवं प्रसिद्ध हैं। इनकी सबसे बड़ी चूर्णि 'निशीथ चूर्णि' है। जैन आगम साहित्य का एक भी विषय ऐसा नहीं है, जिसकी चर्चा संक्षेप में अथवा विस्तार में निशीथ चूर्णि में न की गई हो। 'निशीथ चूर्णि' में क्या है? इस प्रश्न की अपेक्षा, यह प्रश्न करना उपयुक्त रहेगा, कि 'निशीथ चूर्णि' में क्या नहीं है। उसमें ज्ञान और विज्ञान है, आचार और विचार हैं, उत्सर्ग और अपवाद हैं, धर्म और दर्शन हैं और परम्परा और संस्कृति हैं। जैन परम्परा के इतिहास की ही नहीं, भारतीय इतिहास की बहुत सी बिखरी कड़ियाँ 'निशीथ चूर्णि' में उपलब्ध हो जाती हैं। साधक जीवन का एक भी अंग ऐसा नहीं है, जिसके विषय में चूर्णिकार की कलम मौन रही हो। यहाँ तक कि बौद्ध जातकों के ढंग की प्राकृत कथाएँ भी इस चूर्णि में काफ़ी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। अंहिसा, अनेकान्त, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, तप, त्याग एवं संयम—इन सभी विषयों पर आचार्य जिनदास महत्तर ने अपनी सर्वाधिक विशिष्ट कृति 'निशीथ चूर्णि' को एक प्रकार से विचार-रत्नों का महान् आकर ही बना दिया है। 'निशीथ चूर्णि' जैन परम्परा के दार्शनिक साहित्य में भी सामान्य नहीं एक विशेष कृति है, जिसे समझना आवश्यक है।

जैन आगमों की सबसे प्राचीन संस्कृत टीका आचार्य हरिभद्र ने लिखी है। उनका समय ७५७ विक्रम से ८५७ के बीच का है। हरिभद्र ने प्राकृत चूर्णियों का प्रायः संस्कृत में अनुवाद ही किया है। कहीं-कहीं पर

अपने दार्शनिक ज्ञान का उपयोग करना भी उन्होंने ठीक समझा है। उनकी टीकाओं में सभी दर्शनों की पूर्व पक्ष रूप से चर्चा उपलब्ध होती है। इतना ही नहीं, किन्तु जैन-तत्व को दार्शनिक ज्ञान के बल से निश्चित रूप में स्थिर करने का प्रयत्न भी देखा जाता है। हरिभद्र के बाद आचार्य शीलांकसूरि ने १०वीं शताब्दी में आचारांग और सूत्रकृतांग पर संस्कृत टीकाओं की रचना की। शीलांक के बाद प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शान्ति हुए। उन्होंने उत्तराध्ययन की बृहत् टीका लिखी है। इसके बाद प्रसिद्ध टीकाकार अभयदेव हुए जिन्होंने नौ अंगों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ रची हैं। उनका जन्म समय विक्रम १०७२ में और स्वर्गवास विक्रम ११३५ में हुआ। इन दोनों टीकाकारों ने पूर्व टीकाओं का पूरा उपयोग तो किया ही है, अपनी ओर से भी कहीं-कहीं नयी दार्शनिक चर्चा की है। यहाँ मलधारी हेमचन्द्र का नाम भी उल्लेखनीय है। वे १२वीं शताब्दी के महान् विद्वान् थे। परन्तु आगमों की संस्कृत टीका करने वालों में सर्वश्रेष्ठ स्थान तो आचार्य मलयगिरि का ही है। प्राञ्जल भाषा में दार्शनिक चर्चाओं से परिपूर्ण टीका यदि देखना हो, तो मलयगिरि की टीकाएँ देखनी चाहिए। उनकी टीकाएँ पढ़ने में शुद्ध दार्शनिक ग्रन्थ पढ़ने का आनन्द आता है। जैन-शास्त्र के धर्म, आचार, प्रमाण, नय, निक्षेप ही नहीं भूगोल एवं खगोल आदि सभी विषयों में उनकी कलम धाराप्रवाह से चलती है और विषय को इतना स्पष्ट करके रखती है कि उस विषय में दूसरा कुछ देखने की आवश्यकता नहीं रहती। ये आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। अतः इनका समय निश्चित रूप से १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं १३ वीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाना चाहिए।

संस्कृत प्राकृत टीकाओं का परिमाण इतना बड़ा है, और विषयों की चर्चाएँ इतनी गहन एवं गम्भीर हैं, कि बाद में यह आवश्यक समझा गया, कि आगमों का शब्दार्थ करने वाली संक्षिप्त टीकाएँ भी हों। समय की गति ने संस्कृत व प्राकृत भाषाओं को बोल-चाल की जन भाषाओं से हटाकर मात्र साहित्य की भाषा बना दिया था। अतः तत्कालीन अपभ्रंश भाषा में बालावबोधों की रचना करने वाले बहुत हुए हैं, किन्तु अठारहवीं शती में होने वाले लोकागच्छ के धर्मसिंह मुनि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। क्योंकि इनकी दृष्टि प्राचीन टीकाओं के अर्थ को छोड़कर कहीं-कहीं स्व.-सम्प्रदाय-सम्मत अर्थ करने की भी रही है। आगमसाहित्य की यह बहुत ही संक्षिप्त रूप-रेखा यहाँ प्रस्तुत की है। इसमें आगम के विषय में मुख्य-मुख्य तथ्यों का एवं आगम के दार्शनिक तथ्यों का संक्षेप में संकेत भर किया है। जिससे आगे चलकर आगमों के गुरु गंभीर सत्य-तथ्य को समझने में सहजता एवं सरलता हो सके। इससे दूसरा लाभ यह भी हो सकता है कि अध्ययनशील अध्येता आगमों के ऐतिहासिक मूल्य एवं महत्व को भली भाँति अपनी बुद्धि की तुला पर तोल सकें। निश्चय ही आगम कालीन दार्शनिक तथ्यों को समझने के लिए मूल आगम से लेकर संस्कृत टीका पर्यन्त समस्त आगमों के अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है।

आगमों में दार्शनिक-तत्त्व—

मूल आगमों में क्या-क्या दार्शनिक-तत्त्व हैं, और उनका किस प्रकार से प्रतिपादन किया गया है? उक्त प्रश्नों के समाधान के लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि हम आगमगत दार्शनिक विचारों को समझने के लिए अपनी दृष्टि को व्यापक एवं उदार रखें, साथ ही अपनी ऐतिहासिक दृष्टि को भी विलुप्त न होने दें। जिस प्रकार वेदकालीन दर्शन की अपेक्षा उपनिषद्-कालीन दर्शन प्रौढतर है, और गीता-कालीन दर्शन प्रौढ़तम माना जाता है, उसी प्रकार जैन दर्शन के सम्बन्ध में यही विचार है, कि आगमकालीन दर्शन की अपेक्षा आगम के व्याख्या-साहित्य में जैन दर्शन प्रौढ़तर हो गया है और तत्त्वार्थ सूत्र में पहुँच कर प्रौढ़तम। यहाँ पर हमें केवल यह देखना है, कि मूल आगमों में और गौण रूप से उसके व्याख्या-साहित्य में जैन दर्शन का प्रारम्भिक रूप क्या और कैसा

रहा है ? आगम-कालीन दर्शन को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रमेय और प्रमाण अथवा ज्ञेय और ज्ञान। जहाँ तक प्रमेय और ज्ञेय का सम्बन्ध है, जैन आगामों में स्थान-स्थान पर अनेकान्त दृष्टि, सप्तभंगी, नय, निक्षेप, द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्व, पदार्थ, द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव, निश्चय और व्यवहार निमित्त और उपादान-नियति और पुरुषार्थ, कर्म और उसका फल, आचार और योग आदि विषयों का विखरा हुआ वर्णन आगमों में उपलब्ध होता है। अब रहा इसके विभाग का प्रश्न ? उसके सम्बन्ध में यहाँ पर संक्षेप में इतना ही कहना है, कि ज्ञान का और उसके भेद-प्रभेदों का व्यापक रूप से वर्णन आगमों में उपलब्ध है। ज्ञान के क्षेत्र का एक भी अंग और एक भी भेद इस प्रकार का नहीं है, जिसका वर्णन आगम और उसके व्याख्या साहित्य में पूर्णता के साथ नहीं हुआ हो। प्रमाण के सभी भेद और उपभेदों का वर्णन आगमों में उपलब्ध होता है। जैसे कि प्रमाण, और उसके प्रत्यक्ष एवं परोक्ष भेद तथा अनुमान और उसके सभी अंग, उपमान और शब्द प्रमाण आदि के भेद भी मिलते हैं। नय के लिए आदेश एवं दृष्टि शब्द का प्रयोग भी अति प्राचीन आगमों में किया गया है। नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेद किये गये हैं। पर्यायार्थिक के स्थान पर प्रदेशार्थिक शब्द प्रयोग भी अनेक स्थानों पर आया है। सकलादेश और विकलादेश के रूप में प्रमाण सप्तभंगी एवं नय सप्तभंगी का रूप भी आगम एवं व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होता है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों का वर्णन अनेक प्रकार से दिया गया है। स्याद्वाद एवं अनेकान्त को सुन्दर ढंग से वतलाने के लिए पुंस्कोकिल के स्वप्न का कथन भी रूपक का काम करता है। जीव की नित्यता एवं अनित्यता पर विचार किया गया है। न्याय-शास्त्र में प्रसिद्ध वाद, वितण्डा और जल्प जैसे शब्दों का ही नहीं, उनके लक्षणों का विधान भी आगमों के व्याख्यात्मक साहित्य में प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रमाण खण्ड में अथवा ज्ञान सम्बन्धी तत्वों का वर्णन आगमों में अनेक प्रसंगों में उपलब्ध होता है। जिसे पढ़कर यह जाना जा सकता है, कि आगम काल में जैन परम्परा की दार्शनिक दृष्टि क्या रही है। आगम काल में षट्द्रव्य और नव पदार्थों का वर्णन किस रूप में मिलता है और आगे चल कर इसका विकास और परिवर्तन किस रूप में होता है ? निश्चय ही जैन परम्परा का आगमकालीन दर्शन वेदकालीन वेद-परम्परा के दर्शन से अधिक विकसित और अधिक व्यवस्थित प्रतीत होता है। वेद-कालीन दर्शन में और आगमकालीन दर्शन में बड़ा भेद यह भी है, कि यहाँ पर वेद की भाँति वहु-देववाद एवं प्रकृतिवाद कभी नहीं रहा। जैन-दर्शन अपने प्रारम्भिक काल से ही अथवा अपने अत्यन्त प्राचीन काल से आध्यात्मिक एवं तात्त्विक दर्शन रहा है।

प्रमेय-विचारः—

दर्शन-साहित्य में प्रमेय एवं ज्ञेय दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। प्रमेय का अर्थ है—जो प्रमा का विषय हो। ज्ञेय का अर्थ है—जो ज्ञान का विषय हो। सम्यक्ज्ञान को ही प्रमा कहा जाता है। ज्ञान विषयी होता है। ज्ञान से जो जाना जाता है, उसको विषय अथवा ज्ञेय कहा जाता है। किसी भी ज्ञेय और किसी भी प्रमेय का ज्ञान जैन परम्परा में अनेकान्त दृष्टि से ही किया जाता है। जैन-दर्शन के अनुसार जव किसी भी विषय पर, किसी भी वस्तु पर अथवा किसी भी पदार्थ पर विचार किया जाता है तो अनेकान्त दृष्टि के द्वारा ही उस का सम्यक् निर्णय किया जा सकता है। प्राचीन तत्त्वव्यवस्था में, जो भगवान् महावीर से पूर्व पार्श्वनाथ परम्परा से हीं चली आ रही थी, महावीर युग में उसमें क्या नयापन आया, यह एक विचार का विषय है। जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् महावीर ने किसी नये तत्त्वदर्शन का प्रचार नहीं किया, किन्तु उनसे २५० वर्ष पूर्व होने वाले तीर्थंकर परमयोगी पार्श्वनाथ सम्मत आचार में तो महावीर ने कुछ परिवर्तन किया है, जिसकी साक्षी आगम दे रहे हैं, किन्तु पार्श्वनाथ के तत्त्व ज्ञान में उन्होंने किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया था। पांच ज्ञान, चार निक्षेप, स्व-चतुष्टय एवं पर-चतुष्टय, षट् द्रव्य, सप्त-तत्व, नव-पदार्थ, एवं पंच अस्तिकाय—इनमें किसी भी

प्रकार का परिवर्तन महावीर ने नहीं किया। कर्म और आत्मा की जो मान्यता पार्श्वनाथ-युग में और उससे भी पूर्व जो ऋषभदेव युग और अरिष्टनेमि युग में थी उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन महावीर ने किया हो, अभी तक ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है। गुणस्थान, लेश्या, एवं ध्यान के स्वरूप में किसी प्रकार का भेद एवं अन्तर भगवान् महावीर ने नहीं डाला। यह सब प्रमेय विस्तार जैन-परम्परा में महावीर से पूर्व भी था। फिर प्रश्न होता है, महावीर ने जैन-परम्परा को अपनी क्या नयी देन दी? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है, कि भगवान् महावीर ने नय और अनेकान्त दृष्टि, स्याद्वाद और सप्तभंगी जैन दर्शन को नयी देन दी है। महावीर से पूर्व के साहित्य में एवं परम्परा में अनेकान्त एवं स्याद्वाद के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता हो, यह प्रमाणित नहीं होता। महावीर के युग में स्वयं उनके ही अनुयायी अथवा उस युग का अन्य कोई व्यक्ति, जब महावीर से प्रश्न करता तब उसका उत्तर भगवान् महावीर अनेकान्त दृष्टि एवं स्याद्वाद की भाषा में ही दिया करते थे। भगवान् महावीर को केवल-ज्ञान होने से पहले जिन दस महास्वप्नों का दर्शन हुआ था, उसका उल्लेख भगवती सूत्र में हुआ है। इन स्वप्नों में से एक स्वप्न में महावीर ने एक बड़े चित्र-विचित्र पाँख वाले पुंस्कोकिल को स्वप्न में देखा था। उक्त स्वप्न का फल यह बताया गया था, कि महावीर आगे चलकर चित्र-विचित्र सिद्धान्त (स्वपर-सिद्धान्त) को बताने वाले द्वादशांग का उपदेश करेंगे। बाद के दार्शनिकों ने चित्रज्ञान और चित्रपट को लेकर बौद्ध और न्याय वैशेषिक के सामने अनेकान्त को सिद्ध किया है। उसका मूल इसी में सिद्ध होता है। स्वप्न में दृष्ट पुंस्कोकिल की पाँखों को चित्र-विचित्र कहने का और आगमों को विचित्र विशेषण देने का विशेष अभिप्राय तो यही मालूम होता है कि उनका उपदेश एकरंगी न होकर अनेक रंगी था—अनेकान्तवाद था। अनेकान्त शब्द में सप्त नय का वर्णन अन्तर्भूत हो जाता है। दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में कहनी है, वह यह है, कि जैन आगमों में विभज्यवाद का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। सूत्रकृतांग सूत्र में भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करे? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि भिक्षु को उत्तर देते समय विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए। विभज्यवाद का तात्पर्य ठीक समझने में जैन परम्परा के टीका-ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ भी सहायक होते हैं। बौद्ध 'मज्झिम-निकाय' में शुभमाणवक के प्रश्न के उत्तर में भगवान बुद्ध ने कहा—हे माणवक। मैं विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं। इसका अर्थ यह है कि जैन परम्परा के विभज्यवाद एवं अनेकान्त को बुद्ध ने भी स्वीकार किया था। विभज्यवाद वास्तव में किसी भी प्रश्न के उत्तर देने की अनेकान्तात्मक एक पद्धति एवं शैली ही है। विभज्यवाद और अनेकान्तवाद के विषय में इतना जान लेने के बाद ही स्याद्वाद की चर्चा उपस्थित होती है। स्याद्वाद का अर्थ है—कथन करने की एक विशिष्ट पद्धति। जब अनेकान्तात्मक वस्तु के किसी एक धर्म का उल्लेख ही अभीष्ट हो तब अन्य धर्मों के संरक्षण के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग जब भाषा एवं शब्द में किया जाता है तब यह कथन स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद और सप्तभंगी परस्पर उसी प्रकार संयुक्त हैं, जिस प्रकार नय और अनेकान्त। सप्तभंगी में सप्तभंग (सप्त-विकल्प) होते हैं। जिज्ञासा सात प्रकार की हो सकती है। प्रश्न भी सात प्रकार के हो सकते हैं। अतः उसका उत्तर भी सात प्रकार से दिया जा सकता है। वास्तव में यही स्याद्वाद है। जैन-दर्शन की अपनी मौलिकता और नूतन उद्भावना अनेकान्त और स्याद्वाद में ही है।

द्रव्य के सम्बन्ध में जैन आगमों में अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से वर्णन आया है। द्रव्य, गुण, और पर्याय—जैन-आगम-परम्परा में इन तीनों का व्यापक और विशाल दृष्टि से वर्णन किया गया है। द्रव्य में गुण रहता है, और गुण का परिणमन ही पर्याय है। इस प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय विभक्त होकर भी अविभक्त हैं। मुख्य रूप से द्रव्य के दो भेद हैं—जीव-द्रव्य और अजीव द्रव्य। अथवा अन्य प्रकार से दो भेद समझने चाहिए—रूपी द्रव्य और अरूपी द्रव्य। द्रव्यों की संख्या छह है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से काल को छोड़कर शेष द्रव्यों के साथ जब अस्तिकाय लगा दिया जाता है, तब वह पंच-अस्तिकाय

कहलाता है। अस्तिकाय शब्द का अर्थ है—प्रदेशों का समूह। काल के प्रदेश नहीं होते अतः इसके साथ अस्तिकाय शब्द नहीं जोड़ा गया। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण एवं धर्म होते हैं। और प्रत्येक गुण की अनन्त पर्याएँ होती हैं। पर्याय के दो भेद हैं—जीव पर्याय और अजीव पर्याय।

निक्षेप के सम्बन्ध में आगमों में वर्णन आता है। निक्षेप का अर्थ है—न्यास। निक्षेप के चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जैन सूत्रों की व्याख्याविधि का वर्णन अनुयोगद्वार सूत्र में आता है। यह विधि कितनी प्राचीन है? इसके विषय में निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु अनुयोगद्वार सूत्र के अध्ययन करने वाले व्यक्ति को इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है, कि व्याख्याविधि का अनुयोगद्वार सूत्र में जो वर्णन उपलब्ध है, वह पर्याप्त प्राचीन होना चाहिए। अनुयोग या व्याख्या के द्वारों के वर्णन में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव—इन चार निक्षेपों का वर्णन आता है। अनुयोगद्वार सूत्र में तो निक्षेपों के विषय में पर्याप्त विवेचन है, किन्तु यह गणधरकृत नहीं समझा जाता। गणधरकृत अंगों में से स्थानांग सूत्र में 'सर्व' के जो प्रकार बताये हैं, वे सूचित करते हैं, कि निक्षेपों का उपदेश स्वयं भगवान महावीर ने दिया होगा। शब्द व्यवहार तो हम करते ही हैं, क्योंकि इसके बिना हमारा काम चलता नहीं। पर कभी-कभी यह हो जाता है, कि शब्दों के ठीक अर्थ को—वक्ता के विवक्षित अर्थ को न समझने से बड़ा अनर्थ हो जाता है। इस अनर्थ का निवारण निक्षेप के द्वारा भगवान महावीर ने किया है। निक्षेप का अर्थ है—अर्थ-निरूपण-पद्धति। भगवान् महावीर ने शब्दों के प्रयोग को चार प्रकार के अर्थों में विभक्त कर दिया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। यह निक्षेप पद्धति प्राचीन से प्राचीन आगमों में उपलब्ध होती है और नूतन युग के न्याय ग्रन्थों में भी। उत्तर काल के आचार्यों ने इसका उल्लेख ही नहीं, नूतन पद्धति से निरूपण भी किया है। उपाध्याय यशोविजयजी ने स्वरचित 'जैनतर्कभाषा' में प्रमाण एवं नय निरूपण के साथ-साथ निक्षेप का निरूपण भी किया है।

आगमों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का भी अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है। इन चारों को दो प्रकार से कहा गया है—स्वचतुष्टय—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव तथा पर-चतुष्टय,पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव। एक ही वस्तु के विषय में जो नाना मतों की सृष्टि होती है, उसमें द्रष्टा की रुचि और शक्ति, दर्शन का साधन, दृश्य की दैशिक और कालिक स्थिति, दृष्टा की दैशिक और कालिक स्थिति, दृश्य का स्थूल और सूक्ष्म रूप आदि अनेक कारण हैं। यही कारण है कि प्रत्येक दृष्टा और दृश्य प्रत्येक क्षण में विशेष-विशेष होकर, नाना मतों के सर्जन में निमित्त बनते हैं। उन कारणों की गणना करना कठिन है। अतएव तत्कृत विशेषों की परिगणना भी असंभव है। इसी कारण से वस्तुतः सूक्ष्म विशेषताओं के कारण से होने वाले नाना मतों का परिगणन भी असंभव है। इस असंभव को ध्यान में रखकर ही भगवान् महावीर ने सभी प्रकार की अपेक्षाओं का साधारणीकरण करने का प्रयत्न किया है और मध्यम मार्ग से सभी प्रकार की अपेक्षाओं का वर्गीकरण चार प्रकार में किया है। ये चार प्रकार इस प्रकार हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। इन्हीं के आधार पर प्रत्येक वस्तु के भी चार प्रकार हो जाते हैं।

प्रमाण-विचार :—

जैन आगमों में ज्ञान और प्रमाण का वर्णन अनेक प्रकार से है और अनेक आगमों में है। प्राचीन आगमों में प्रमाण की अपेक्षा ज्ञान का ही वर्णन अधिक व्यापकता से किया गया है। नन्दी-सूत्र में ज्ञान का विस्तार के साथ निरूपण किया गया है। प्रमाण और ज्ञान किसी भी वस्तु को जानने के लिए साधन हैं। ज्ञान के मुख्य रूप से पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल। पंचज्ञान की चर्चा जैन-परम्परा में भगवान्

महावीर से भी पहले थी। इसका प्रमाण राजप्रश्नीय सूत्र में है। भगवान् महावीर ने अपने मुख से अतीत में होने वाले केशीकुमार श्रमण का वृत्तान्त राजप्रश्नीय में कहा है। शास्त्रकार ने केशीकुमार के मुख से पाँच ज्ञान का निरूपण कराया है। आगमों में पाँच ज्ञानों के भेद तथा उपभेदों का जो वर्णन है, कर्म-शास्त्र में ज्ञानावरणीय कर्म के जो भेद एवं उपभेदों का वर्णन है, जीव मार्गणाओं में पाँच ज्ञानों का जो वर्णन है, तथा पूर्व गत में ज्ञानों का स्वतन्त्र निरूपण करने वाला जो ज्ञानप्रवाद पूर्व है—इन सबसे यही फलित होता है, कि पंच ज्ञान की चर्चा भगवान महावीर की पूर्व परम्परा से चली आ रही है। भगवान् महावीर ने अपनी वाणी में उसी को स्वीकार कर लिया था। इस ज्ञान चर्चा के विकासक्रम को आगम के आधार पर देखना हो, तो उसकी तीन भूमिकाएँ स्पष्ट दीखती हैं—प्रथम भूमिका तो वह है—जिसमें ज्ञानों को पाँच भेदों में ही विभक्त किया गया है। द्वितीय भूमिका में ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेदों में विभक्त करके पाँच ज्ञानों में से मति और श्रुत को परोक्ष में तथा अवधि, मनःपर्याय और केवल को प्रत्यक्ष में माना गया है। तृतीय भूमिका में इन्द्रियजन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष उभय में स्थान दिया गया है। इस प्रकार ज्ञान का स्वरूप और उसके भेद और उपभेदों के कारण ज्ञान के वर्णन ने आगमों में पर्याप्त स्थान ग्रहण किया है।

पंच-ज्ञान-चर्चा के क्रमिक विकास की तीनों आगामिक भूमिकाओं की एक विशेषता रही है, कि इनमें ज्ञानचर्चा के साथ इतर दर्शनों में प्रचलित प्रमाण चर्चा का कोई सम्बन्ध या समन्वय स्थापित नहीं किया गया है। इन ज्ञानों में ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के भेद के द्वारा आगमकारों ने वही प्रयोजन सिद्ध किया है, जो दूसरों ने प्रमाण और अप्रमाण के द्वारा सिद्ध किया है। आगमकारों ने प्रमाण या अप्रमाण जैसे विशेषण विना दिए ही प्रथम के तीनों में अज्ञान-विपर्यय-मिथ्यात्व की तथा सम्यक्त्व की संभावना मानी है। और अन्तिम दो में एकान्त सम्यक्त्व ही बतलाया है। इस प्रकार आगमकारों ने पंच-ज्ञानों को प्रमाण और अप्रमाण न कहकर उन विशेषणों का प्रयोजन तो दूसरे प्रकार से निष्पन्न ही कर लिया है ज्ञान का वर्णन आगमों में अत्यन्त विस्तृत है।

प्रमाण के विषय के मूल जैन आगमों में और उसके व्याख्या साहित्य में भी अति विस्तार के साथ तो नहीं, पर संक्षेप में प्रमाण की चर्चा एवं प्रमाण के भेदों-उपभेदों का कथन अनेक स्थानों पर आया है। जैन-आगमों में प्रमाण-चर्चा ज्ञान चर्चा से स्वतन्त्र रूप से भी आती है। अनुयोगद्वार सूत्र में प्रमाण-शब्द को उसके विस्तृत अर्थ में लेकर प्रमाणों का भेद किया गया है। अनुयोगद्वार सूत्र के मत से अथवा नन्दी सूत्र के वर्णन से प्रमाण के दो भेद किये हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में अनुयोगद्वार सूत्र ने पांचों इन्द्रियों के द्वारा होने वाले पाँच प्रकार के प्रत्यक्ष का समावेश किया है। नो-इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण में जैन शास्त्र प्रसिद्ध तीन ज्ञानों का समावेश है—अवधि-प्रत्यक्ष, मनःपर्याय प्रत्यक्ष और केवल प्रत्यक्ष। प्रस्तुत में 'नो' शब्द का अर्थ है—इन्द्रिय का अभाव। ये तीनों ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं हैं। ये ज्ञान केवल आत्मसापेक्ष हैं। जैन-परम्परा के अनुसार इन्द्रिय-जन्य ज्ञानों को परोक्ष-प्रमाण कहा जाता है। किन्तु प्रस्तुत में प्रमाण-चर्चा पर-सम्मत प्रमाणों के आधार से की है। अतएव यहाँ उसी के अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। वह भी पर-प्रमाण के सिद्धान्त का अनुसरण करके ही कहा गया है। अनुयोगद्वार सूत्र में अनुमान के तीन भेद किये गये हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्ट-साधर्म्यवत्। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि अनुयोगद्वार में अनुमान के स्वार्थ और परार्थ भेद नहीं बताए हैं। इस प्रकार मूल आगमों में और उसके व्याख्यात्मक साहित्य में अनुमान के अनेक प्रकार के भेदों का एवं उपभेदों का कथन भी है। अनुमान के अवयवों का भी वर्णन किया गया है। प्रत्यक्ष-प्रमाण और परोक्ष प्रमाण में अनेक प्रकार से वर्गीकरण किये गये हैं, किन्तु इनका यहाँ पर संक्षेप में कथन करना ही अभीष्ट है।

नय-विचार:—

जैन परम्परा के आगमों में प्रमाण के साथ-साथ प्रमाण के ही एक अंश नय का भी निरूपण किया गया है। नयों के सम्बन्ध में वर्णन स्थानांगसूत्र में, अनुयोगद्वार सूत्र में और भगवती सूत्र में भी बिखरे हुए रूप में उपलब्ध होता है। आगमों में नय के स्थान पर दो शब्द और मिलते हैं—आदेश और दृष्टि। अनेकान्तात्मक वस्तु के अनन्त धर्मों में से जब किसी एक ही धर्म का ज्ञान किया जाता है, तब उसे नय कहा जाता है। भगवान् महावीर ने यह देखा कि जितने मत, पक्ष अथवा दर्शन हैं, वे अपना एक विशेष पक्ष स्थापित करते हैं और विपक्ष का निरास करते हैं। भगवान ने तात्कालिक उन सभी दार्शनिकों की दृष्टियों को समझने का प्रयत्न किया। उन्होंने अनुभव किया कि नाना मनुष्यों के वस्तु-दर्शन में जो भेद हो जाता है, उसका कारण केवल वस्तु की अनेकरूपता अथवा अनेकान्तात्मकता ही नहीं, बल्कि नाना मनुष्यों के देखने के प्रकार की अनेकता एवं नाना-रूपता भी कारण है। इसलिए उन्होंने सभी मतों, सभी दर्शनों को वस्तुस्वरूप के दर्शन में योग्य स्थान दिया है। किसी मत-विशेष एवं पंथ-विशेष का सर्वथा खण्डन एवं सर्वथा निराकरण नहीं किया है। निराकरण यदि किया है, तो इस अर्थ में कि जो एकान्त आग्रह का विषय था, अपने ही पक्ष को अपने ही मत या दर्शन को सत्य और दूसरों के मत, दर्शन एवं पक्ष को मिथ्या कहने एवं मिथ्या मानने का जो कदाग्रह था तथा हठाग्रह था, उसका निराकरण करके उन सभी मतों को एवं विचारों को नया रूप दिया है, उसे एकांगी या अधूरा कहा गया है। प्रत्येक मतवादी कदाग्रही होकर दूसरे के मत को मिथ्या मानते थे। वे समन्वय न कर सकने के कारण एकान्तवाद के दलदल में फंस जाते थे। भगवान् महावीर ने उन्हीं के मतों को स्वीकार करके उनमें से कदाग्रह का एवं मिथ्या-ग्रह का विष निकाल कर सभी का समन्वय करके अनेकान्तमयी संजीवनी औषध का आविष्कार किया है। यही भगवान् महावीर के नयवाद, दृष्टिवाद, आदेशवाद और अपेक्षावाद का रहस्य है।

नयों के भेद के सम्बन्ध में एक विचार नहीं है। कम से कम दो प्रकार से आगमों में नय-दृष्टि का विभाजन किया गया है। सप्तनय—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत। एक दूसरे प्रकार से भी नयों का विभाजन किया गया है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वस्तुतः देखा जाये तो काल और देश के भेद से द्रव्यों में विशेषताएँ अवश्य होती हैं। किसी भी विशेपता को काल एवं देश से मुक्त नहीं किया जा सकता। अन्य कारणों के साथ काल और देश भी अवश्य साधारण कारण होते हैं। अतएव काल और क्षेत्र पर्यायों के कारण होने से यदि पर्यायों में समाविष्ट कर लिए जाएँ तो मूल रूप से दो दृष्टियाँ ही रह जाती हैं—द्रव्यप्रधान दृष्टि—द्रव्यार्थिक और पर्याय-प्रधान दृष्टि—पर्यायार्थिक। पर्यायार्थिक नय के लिए आगमों में प्रदेशार्थिक शब्द का प्रयोग भी किया गया है। एक अन्य प्रकार से भी नयों का विभाजन किया गया है—निश्चयनय और व्यवहारनय। जो दृष्टि स्व-आश्रित होती है, जिसमें पर की अपेक्षा नहीं रहती, वह निश्चय है और जो दृष्टि पर-आश्रित होती है, जिसमें पर की अपेक्षा रहती है, वह व्यवहारनय। नय एक प्रकार का विशेष दृष्टिकोण है, विचार करने की पद्धति है और अनेकान्तवाद का मूल आधार है। आगमों में न्याय-शास्त्र समस्त वाद, कथा एवं विवाद आदि का भी यथाप्रसंग वर्णन आता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल आगमों में और उसके निकट-वर्ती व्याख्या साहित्य में भी यथाप्रसंग जैन-दर्शन के मूल तत्वों का निरूपण, विवेचन और विश्लेषण किया है।

नन्दीसूत्र का विषय:—

नन्दी और अनुयोगद्वार चूलिकासूत्र कहलाते हैं। चूलिका शब्द का प्रयोग उस अध्ययन अथवा ग्रन्थ के लिए होता है जिसमें अवशिष्ट विषयों का वर्णन अथवा वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण किया जाता है। दशवै-कालिक और महानिशीथ के सम्बन्ध में इस प्रकार की चूलिकाएँ—चूलाएँ—चूड़ाएँ उपलब्ध हैं। इनमें मूल ग्रन्थ

के प्रयोजन अथवा विषय को दृष्टि में रखते हुए ऐसी कुछ आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला गया है जिनका समावेश आचार्य ग्रन्थ के किसी अध्ययन में न कर सके। आजकल इस प्रकार का कार्य पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट जोड़कर सम्पन्न किया जाता है। नन्दी और अनुयोगद्वार भी आगमों के लिए परिशिष्ट का ही कार्य करते हैं। इतना ही नहीं, आगमों के अध्ययन के लिए ये भूमिका का भी काम देते हैं। यह कथन नन्दी की अपेक्षा अनुयोगद्वार के विषय में अधिक सत्य है। नन्दी में तो केवल ज्ञान का ही विवेचन किया गया है, जबकि अनुयोगद्वार में आवश्यक सूत्र की व्याख्या के बहाने समग्र आगम की व्याख्या अभीष्ट है। अतएव उसमें प्रायः आगमों के समस्त मूलभूत सिद्धान्तों का स्वरूप समझाते हुए विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण किया गया है जिनका ज्ञान आगमों के अध्ययन के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। अनुयोगद्वारसूत्र समझ लेने के पश्चात् शायद ही कोई आगमिक परिभाषा ऐसी रह जाती है जिसे समझने में जिज्ञासु पाठक को कठिनाई का सामना करना पड़े। यह चूलिका-सूत्र होते हुए भी एक प्रकार से समस्त आगमों की—आगम ज्ञान की नींव है और इसीलिए अपेक्षाकृत कठिन भी है।

नन्दी सूत्र में पंचज्ञान का विस्तार से वर्णन किया गया है। निर्युक्तिकार आदि आचार्यों ने नन्दी शब्द को ज्ञान का ही पर्याय माना है। सूत्रकार ने सर्वप्रथम ५० गाथाओं में मंगलाचरण किया है। तदनन्तर सूत्र के मूल विषय आभिनिवोधिक आदि पाँच प्रकार के ज्ञान की चर्चा प्रारम्भ की है। पहले आचार्य ने ज्ञान के पाँच भेद किये हैं। तदनन्तर प्रकारान्तर से प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप दो भेद किये हैं। प्रत्यक्ष में इन्द्रियप्रत्यक्ष और नोइन्द्रियप्रत्यक्ष के रूप में पुनः दो भेद किये हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में पाँच भेद किये हैं और उसमें पाँच प्रकार की इन्द्रियों से होने वाले ज्ञान का समावेश है। इस प्रकार के ज्ञान को जैन न्यायशास्त्र में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। नोइन्द्रियप्रत्यक्ष में अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान का समावेश है। परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है—आभिनिवोधिक और श्रुत। आभिनिवोधिक को मति भी कहते हैं। आभिनिवोधिक के श्रुतनिश्रित व अश्रुतनिश्रित रूप दो भेद हैं। श्रुतज्ञान के अक्षर, अनक्षर, संज्ञी, असंज्ञी, सम्यक्, मिथ्या, सादि, अनादि, सावसान, निरवसान, गमिक, अगमिक, अंगप्रविष्ट व अनंगप्रविष्ट रूप चौदह भेद हैं।

नन्दी सूत्र की रचना गद्य व पद्य दोनों में है। सूत्र का ग्रन्थमान लगभग ७०० श्लोक प्रमाण है। प्रस्तुत सूत्र में प्रतिपादित विषय अन्य सूत्रों में भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिए अवधि ज्ञान के विषय, संस्थान, भेद आदि पर प्रज्ञापना सूत्र के ३३ वें पद में प्रकाश डाला गया है। भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) आदि सूत्रों में विविध प्रकार के अज्ञान का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार मतिज्ञान का भी भगवती आदि सूत्रों में वर्णन मिलता है। द्वादशांगी श्रुत का परिचय समवायांग सूत्र में भी दिया गया है। किन्तु वह नन्दी सूत्र से कुछ भिन्न है। इसी प्रकार अन्यत्र भी कुछ बातों में नन्दीसूत्र से भिन्नता एवं विशेषता दृष्टिगोचर होती है।

मंगलाचरण

सर्वप्रथम सूत्रकार ने सामान्य रूप से अर्हत् को, तत्पश्चात् भगवान्-महावीर को नमस्कार किया है। तदनन्तर जैन संघ, चौवीस जिन, ग्यारह गणधर, जिनप्रवचन तथा सुधर्म आदि स्थविरों को स्तुतिपूर्वक प्रमाण किया है।

जयइ जगजीव-जोणी-वियाणओ जगगुरू जगाणंदो।
जगणाहो जगबंधू, जयई जगप्पियामहो भयवं।

जयइ सुआणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरू लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो ॥

मंगल के प्रसंग से प्रस्तुत सूत्र में आचार्य ने जो स्थविरावली-गुरु-शिष्य-परम्परा दी है, वह कल्पसूत्रीय स्थविरावली से भिन्न है। नन्दीसूत्र में भगवान् महावीर के बाद की स्थविरावली इस प्रकार है—

१. सुधर्म
२. जम्बू
३. प्रभव
४. शय्यम्भव
५. यशोभद्र
६. सम्भूतविजय
७. भद्रबाहु
८. स्थूलभद्र
९. महागिरि
१०. सुहस्ती
११. बलिस्सह
१२. स्वाति
१३. श्यामार्य
१४. शाण्डिल्य
१५. समुद्र
१६. मंगु
१७. धर्म
१८. भद्रगुप्त
१९. वज्र
२०. रक्षित
२१. नन्दिल (आनन्दिल)
२२. नागहस्ती
२३. रेवती नक्षत्र
२४. ब्रह्मदीपकसिंह
२५. स्कन्दिलाचार्य
२६. हिमवन्त
२७. नागार्जुन
२८. श्री गोविन्द
२९. भूतदिन्न
३०. लौहित्य
३१. दूष्यगणी

श्रोता और सभा :—

मंगलाचरण के रूप में अर्हन् आदि की स्तुति करने के बाद सूत्रकार ने सूत्र का अर्थ ग्रहण करने की योग्यता रखने वाले श्रोता का चौदह दृष्टान्तों से वर्णन किया है। वे दृष्टान्त ये हैं—१. शैल और घन, २. कुटक अर्थात् घड़ा, ३. चालनी, ४. परिपूर्ण, ५. हंस, ६. महिष, ७. मेष, ८. मशक, ९. जलौका, १०. बिडाली, ११. जाहक, १२. गौ, १३. भेरी, १४. आभीरी। एतद्विषयक गाथा इस प्रकार है।

सेल-घण-कुडग-चालिणि, परिपुण्णग-हंस महिस-मेसे य।
मसग-जलूग-बिराली, जाहग-गो भेरी आभीरी ॥

इन दृष्टान्तों का टीकाकारों ने विशेष स्पष्टीकरण किया है।

श्रोताओं के समूह को सभा कहते हैं। सभा कितने प्रकार की होती है? इस प्रश्न का विचार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि सभा संक्षेप में तीन प्रकार की होती है।—ज्ञायिका, अज्ञायिका और दुर्विदग्धा। जैसे हंस पानी को छोड़कर दूध पी जाता है उसी प्रकार गुणसम्पन्न पुरुष दोषों को छोड़कर गुणों को ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार के पुरुषों की सभा ज्ञायिका-परिषद् कहलाती है। जो श्रोता, मृग, सिंह और कुक्कुट के बच्चों के समान प्रकृति से भोले होते हैं तथा असंस्थापित रत्नों के समान किसी भी रूप में स्थापित किये जा सकते हैं—किसी भी मार्ग में लगाये जा सकते हैं वे अज्ञायिक हैं। इस प्रकार के श्रोताओं की सभा अज्ञायिका कहलाती है। जिस प्रकार

कोई ग्रामीण पण्डित किसी भी विषय में विद्वत्ता नहीं रखता और न अनादर के भय से किसी विद्वान् से कुछ पूछता ही है किन्तु केवल वातपूर्णवस्ति—वायु से भरी हुई मशक के समान लोगों से अपने पांडित्य की प्रशंसा सुनकर फूलता रहता है उसी प्रकार जो लोग अपने आगे किसी को कुछ नहीं समझते, उनकी सभा दुर्विदग्धा कहलाती है।

ज्ञानवाद :—

इतनी भूमिका बांधने के बाद सूत्रकार अपने मूल विषय पर आते हैं। वह विषय है ज्ञान। ज्ञान क्या है? ज्ञान पाँच प्रकार का है—१. आभिनिबोधिकज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनपर्ययज्ञान और ५. केवलज्ञान। यह ज्ञान संक्षेप में दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष का क्या स्वरूप है? प्रत्यक्ष के पुनः दो भेद हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष क्या है? इन्द्रिय प्रत्यक्ष पाँच प्रकार का है—१. श्रोत्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, २. चक्षुरिन्द्रिय-प्रत्यक्ष, ३. घ्राणेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, ४. जिह्वेन्द्रिय-प्रत्यक्ष, ५. स्पर्शेन्द्रिय-प्रत्यक्ष। नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष क्या है? नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष तीन प्रकार का है—१. अवधिज्ञान-प्रत्यक्ष, २. मनःपर्ययज्ञान-प्रत्यक्ष, ३. केवलज्ञान-प्रत्यक्ष।

संक्षेप में नन्दीसूत्र में ये ही विषय हैं। वस्तुतः मुख्य विषय पञ्चज्ञान-वाद ही है। आगमिक पद्धति से यह प्रमाण का ही निरूपण है। जैन-दर्शन ज्ञान को प्रमाण मानता है, उस का विषय विभाजन तथा प्रतिपादन दो पद्धतियों से किया गया है—आगमिक-पद्धति और तर्क-पद्धति। नन्दीसूत्र में, आवश्यकनिर्युक्ति में और विशेषावश्यक भाष्य में ज्ञानवाद का अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया गया है। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु, नन्दी-सूत्रकार देववाचक और भाष्यकार जिनभद्र क्षमाश्रमण आगमिक परम्परा के प्रसिद्ध एवं समर्थ व्याख्याकार रहे हैं।

आगमों में नन्दीसूत्र की परिगणना दो प्रकार से की जाती है—मूल सूत्रों में तथा चूलिका सूत्रों में। स्थानकवासी परम्परा की मान्यतानुसार मूल सूत्र चार हैं—उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र को चूलिका सूत्र स्वीकार करती है। ये दोनों आगम समस्त आगमों में चूलिका रूप रहे हैं। दोनों की रचना अत्यन्त सुन्दर, सरस एवं व्यवस्थित है। विषय-निरूपण भी अत्यन्त गम्भीर है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से भी दोनों का आगमों में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है।

व्याख्या-साहित्य :—

आगमों के गम्भीर भावों को समझने के लिए आचार्यों ने समय-समय पर जो व्याख्या-ग्रन्थ लिखे हैं, वे हैं—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका। इस विषय में, मैं पीछे लिख आया हूँ। नन्दीसूत्र पर निर्युक्ति एवं भाष्य—दोनों में से एक भी आज उपलब्ध नहीं है। चूर्णि एवं अनेक संस्कृत टीकाएँ आज उपलब्ध हैं। चूर्णि बहुत विस्तृत नहीं है। आचार्य हरिभद्र कृत संस्कृत टीका, चूर्णि का ही अनुगमन करती है। आचार्य मलयगिरि कृत नन्दी टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गम्भीर भावों को समझने के लिए इससे सुन्दर अन्य कोई व्याख्या नहीं है। आचार्य आत्मारामजी महाराज ने नन्दी सूत्र की हिन्दी भाषा में एक सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य हस्तीमलजी महाराज ने भी नन्दीसूत्र की हिन्दी व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य घासीलालजी महाराज ने नन्दीसूत्र की संस्कृत, हिन्दी और गुजराती में सुन्दर व्याख्या की है।

प्रस्तुत सम्पादन :—

नन्दी सूत्र का यह सुन्दर संस्करण व्यावर से प्रकाशित आगम-ग्रन्थमाला की लड़ी की एक कड़ी है। अल्प काल में ही वहाँ से एक के बाद एक यों अनेक आगम प्रकाशित हो चुके हैं। आचारांग सूत्र दो भागों में तथा सूत्रकृतांग सूत्र भी दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। ज्ञातासूत्र, उपासकदशांगसूत्र अन्तकृद्दशांगसूत्र, अनुत्तरोपपातिक सूत्र और विपाक सूत्र भी प्रकाशित हो चुके हैं। नन्दीसूत्र आप के समक्ष है।

युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी म० 'मधुकर' ने आगमों का अधुनातन बोली में नवसंस्करण करने की जो विशाल योजना अपने हाथों में ली है, वह सचमुच एक भगीरथ कार्य है। यह कार्य जहाँ उनकी दूरदर्शिता, दृढ संकल्प और आगमों के प्रति अगाधभक्ति का सबल प्रतीत है, वहाँ साथ ही श्रमण संघ की तथा युवाचार्यश्रीजी की अमर कीर्ति का कारण भी बनेगा। वे मेरे पुराने स्नेही मित्र हैं। उनका स्वभाव मधुर है व समाज को जोड़कर, कार्य करने की उनकी अच्छी क्षमता है उनके ज्ञान, प्रभाव और परिश्रम से सम्पूर्ण आगमों का प्रकाशन संभव हो सका तो समस्त स्थानकवासी जैनसमाज के लिए महान् गौरव का विषय सिद्ध होगा।

प्रस्तुत संस्करण की अपनी विशेषताएँ हैं—शुद्ध मूल पाठ, भावार्थ और फिर विवेचन। विवेचन न बहुत लम्बा है, और न बहुत संक्षिप्त ही। विवेचन में, निर्युक्ति चूर्णि और संस्कृत टीकाओं का आधार लिया गया है। विषय गम्भीर होने पर भी व्याख्याकार ने उसे सरल एवं सरस बनाने का भरसक प्रयास किया है। विवेचन सरल, सम्पादन सुन्दर और प्रकाशन आकर्षक है। अतः विवेचक, सम्पादक एवं प्रकाशक—तीनों धन्यवाद के पात्र हैं। नन्दीसूत्र का स्वाध्याय केवल साध्वी-साधु ही नहीं करते, श्राविका-श्रावक भी करते हैं। नन्दी के स्वाध्याय से जीवन में आनन्द तथा मंगल की अमृत वर्षा होती है। ज्ञान के स्वाध्याय से ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम भी होता है। फिर ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। ज्ञान निर्मल होता है। दर्शन विशुद्ध बनता है। चारित्र निर्दोष हो जाता है। तीनों की पूर्णता से निर्वाण का महा लाभ मिलता है। यही है, नन्दीसूत्र के स्वाध्याय की फलश्रुति। यह सूत्र अपने रचनाकाल से ही समाज में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है।

श्रमण संघ के भावी आचार्य पण्डित प्रवर मधुकरजी महाराज की सम्पादकता में एवं संरक्षकता में आगम प्रकाशन का जो एक महान् कार्य हो रहा है, वह वस्तुतः प्रशंसनीय है। पूज्य अमोलकऋषिजी महाराज के आगम अत्यन्त संक्षिप्त थे, और आज वे उपलब्ध भी नहीं होते। पूज्य घासीलालजी महाराज के आगम अत्यन्त विस्तृत हैं; सामान्य पाठक की पहुंच से परे हैं। श्री मधुकरजी के आगम नूतन शैली में, नूतन भाषा में और नूतन परिवेश में प्रकाशित हो रहे हैं। यह एक महान् हर्ष का विषय है।

नन्दीसूत्र की व्याख्या एक साध्वी की लेखनी से हो रही है, यह एक और भी महान् प्रमोद का विषय है। साध्वीरत्न, महाविदुषी श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना' जी स्थानकवासी समाज में चिरविश्रुता हैं। नन्दीसूत्र का लेखन उनकी कीर्ति को अधिक व्यापक तथा समुज्ज्वल करेगा—इसमें जरा भी सन्देह नहीं। 'अर्चना' जी संस्कृत भाषा एवं प्राकृत भाषा की विदुषी तो हैं ही, लेकिन उन्होंने आगमों का भी गहन अध्ययन किया है, यह तथ्य इस लेखन से सिद्ध हो जाता है। मुझे आशा है, कि अनागत में वे अन्य आगमों की व्याख्या भी प्रस्तुत करेंगी। पण्डित प्रवर शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने इस सम्पादन में पूरा सहयोग दिया है। सब के प्रयास का ही यह एक सुन्दर परिणाम समाज के सामने आया है।

□□

विषयानुक्रम

□□

सिरिदेववायगविरइयं

नन्दीसुत्तं

श्रीदेववाचक-विरचित

नन्दीसूत्र

नन्दीसूत्र

अर्हत्स्तुति

१—जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरू जगाणंदो।
जगणाहो जगबंधू जयइ जगप्पियामहो भयवं॥

१—धर्मस्तिकाय आदि षड् द्रव्य रूप संसार के तथा जीवोत्पत्तिस्थानों के ज्ञाता, जगद्गुरु, भव्य जीवों के लिए आनन्दप्रदाता, स्थावर-जंगम प्राणियों के नाथ, विश्वबन्धु, लोक में धर्मोत्पादक होने से संसार के पितामह स्वरूप अरिहन्त भगवान् सदा जयवन्त हैं, क्योंकि उनको कुछ भी जीतना अवशेष नहीं रहा।

विवेचन—इस गाथा में स्तुतिकर्त्ता के द्वारा सर्वप्रथम शासनेश भगवान् अरिहन्त की तथा सामान्य केवली की मंगलाचरण के साथ स्तुति की गई है।

'जयइ' पद से यह सिद्ध होता है कि भगवान् उपसर्ग, परिषह, विषय तथा घातिकर्मसमूह के विजेता हैं। अतएव वे अरिहन्त पद को प्राप्त हुए हैं, और जिनेन्द्र भगवान् ही स्तुत्य और वन्दनीय हैं।

जो अतीत काल में एक पर्याय से दूसरे पर्याय को प्राप्त हुआ, वर्त्तमान में हो रहा है और भविष्य में होता रहेगा, वह जगत् कहलाता है। जगत् पंचास्तिकायमय या षड्द्रव्यात्मक है। यहाँ जीव शब्द से त्रस-स्थावररूप समस्त संसारी प्राणी समझना चाहिए।

'जीव'—पद यह बोध कराता है कि लोक में आत्माएँ अनन्त हैं और तीन ही काल में उनका अस्तित्व है।

'जोणी'—पद का अर्थ है—कर्मबन्ध से युक्त जीवों के उत्पत्ति-स्थान। ये स्थान चौरासी लाख हैं। संक्षेप में योनि के नौ भेद भी कहे गए हैं।

'वियाणओ'—पद से अरिहन्त प्रभु की सर्वज्ञता सिद्ध होती है जिससे वे लोक, अलोक के भाव जानते हैं।

'जगगुरू'—इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् जीवन और जगत् का रहस्य अपने शिष्य-समुदाय को दर्शाते हैं अर्थात् बताते हैं। 'गु' शब्द का अर्थ अंधकार है और 'रु' का अर्थ उसे नष्ट करने वाला। जो शिष्य के अन्तर में विद्यमान अज्ञानान्धकार को नष्ट करता है, वह 'गुरु' कहलाता है।

'जगाणन्दो'—भगवान् जगत् के जीवों के लिए आनन्दप्रद हैं। 'जगत्' शब्द से यहाँ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव समझना चाहिए, क्योंकि इन्हीं को भगवान् के दर्शन तथा देशनाश्रवण से आनन्द की प्राप्ति होती है।

'जगणाहो'—प्रभु समस्त जीवों के योग-क्षेमकारी हैं। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग और प्राप्त वस्तु की सुरक्षा को 'क्षेम' कहते हैं। भगवान् अप्राप्त सम्यग्दर्शन, संयम आदि को प्राप्त कराने वाले तथा प्राप्त की रक्षा करने वाले हैं, अतः जगन्नाथ है।

'जगबन्धू'—इस विशेषण से ज्ञात होता है कि समस्त त्रस-स्थावर जीवों के रक्षक होने से अरिहन्त देव जगद्-बन्धु हैं। यहाँ 'जगत्' शब्द समस्त त्रस-स्थावर जीवों का वाचक है।

'जगप्पियामहो'—धर्म जगत् का पिता (रक्षक) है और भगवान् धर्म के जनक (प्रवर्त्तक) होने से जगत् के पितामह-तुल्य हैं। यहां भी 'जगत्' शब्द से प्राणिमात्र समझना चाहिए।

'भयवं'—यह विशेषण भगवान् के अतिशयों का सूचक है। 'भग' शब्द में छह अर्थ समाहित हैं—(१) समग्र ऐश्वर्य (२) त्रिलोकातिशायी रूप (३) त्रिलोक में व्याप्त यश (४) तीन लोक को चमत्कृत करने वाली श्री (अनन्त आत्मिक समृद्धि) (५) अखण्ड धर्म और (६) पूर्ण पुरुषार्थ। इन छह पर जिसका पूर्ण अधिकार हो, उसे भगवान् कहते हैं।

महावीर-स्तुति

२—जयइ सुयाणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरू लोगाणं, जयइ महप्पा महावीरो॥

२—समग्र श्रुतज्ञान के मूलस्रोत, वर्त्तमान अवसर्पिणी काल के चौवीस तीर्थकरों में अन्तिम तीर्थंकर, तीनों लोकों के गुरु महात्मा महावीर सदा जयवन्त हैं, क्योंकि उन्होंने लोकहितार्थ धर्म-देशना दी और उनको विकार जीतना शेष नहीं रहा है।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में भगवान् महावीर की स्तुति की गई है। भगवान् महावीर द्रव्य तथा भाव-श्रुत के उद्भव-स्थल हैं, क्योंकि सर्वज्ञता प्राप्त करने के वाद भगवान् ने जो भी उपदेश दिया वह श्रोताओं के लिए श्रुतज्ञान में परिणत हो गया।

यहां भगवान् को अन्तिम तीर्थंकर, लोकगुरु और महात्मा कहा है।

३—भद्दं सव्वजगुज्जोयगस्स भद्दं जिणस्स वीरस्स।
भद्दं सुराऽसुरणमंसियस्स भद्दं धुयरयस्स॥

३—विश्व में ज्ञान का उद्योत करने वाले, राग-द्वेष रूप शत्रुओं के विजेता, देवों-दानवों द्वारा वन्दनीय, कर्म-रज से विमुक्त भगवान् महावीर का सदैव भद्र हो।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में भगवान् महावीर के चार विशेषण आये हैं। चारों चरणों में चार वार 'भद्द' शब्द का प्रयोग हुआ है। ज्ञानातिशय युक्त, कषाय-विजयी तथा सुरासुरों द्वारा वन्दित होने से वे कल्याणरूप हैं।

संघनगरस्तुति

४—गुण-भवणगहण! सुय-रयणभरिय! दंसण-विसुद्धरत्थागा।
संघनगर! भद्दं ते, अखण्ड—चारित्त-पागारा॥

४—उत्तर गुण रूपी भव्य भवनों से गहन-व्याप्त, श्रुत-शास्त्र-रूप रत्नों से पूरित, विशुद्ध सम्यक्त्व रूप स्वच्छ वीथियों से संयुक्त, अतिचार रहित मूल गुण रूप चारित्र के परकोटे से सुरक्षित, हे संघ-नगर ! तुम्हारा कल्याण हो।

विवेचन—रचनाकार ने प्रस्तुत गाथा में संघ का नगर के रूपक से आख्यान किया है। उत्तर गुणों को नगर के भवनों के रूप में, श्रुत-सम्पादन को रत्नमय वैभव के रूप में, विशुद्ध सम्यक्त्व को उसकी गलियों या सड़कों के रूप में तथा अखण्ड चारित्र को परकोटे के रूप में वर्णित कर उन्होंने उसके कल्याण-संवर्धन या विकास की कामना की है। इससे मालूम होता है कि संघ रूप नगर के प्रति स्तुतिकार के हृदय में कितनी सहानुभूति, वात्सल्य, श्रद्धा और भक्ति थी।

संघ-चक्र की स्तुति

५—संजम-तव-तुंबारयस्स, नमो सम्मत्त-पारियल्लस्स।
अप्पडिचक्कस्स जओ, होउ सया संघ-चक्कस्स ।।

५—सत्तरह प्रकार का संयम, संघ-चक्र का तुम्ब-नाभि है। छह प्रकार का बाह्य तप और छह प्रकार का आभ्यन्तर तप बारह आरक हैं, तथा सम्यक्त्व ही जिस चक्र का घेरा है अर्थात् परिधि है; ऐसे भावचक्र को नमस्कार हो, जो अतुलनीय है। उस संघ चक्र की सदा जय हो। यह संघ चक्र अर्थात् भावचक्र भाव-बन्धनों का सर्वथा विच्छेद करने वाला है, इसलिए नमस्कार करने योग्य है।

विवेचन—शस्त्रास्त्रों में आदिकाल से ही चक्र की मुख्यता रही है। प्राचीन युग में शत्रुओं का नाश करने वाला सबसे बड़ा अस्त्र चक्र था, जो अर्धचक्री और चक्रवर्त्ती के पास होता है। इससे ही वासुदेव प्रति-वासुदेव का घात करता है।

इस चक्र की बहुत विलक्षणता है। चक्रवर्त्ती को दिग्विजय करते समय यह मार्ग-दर्शन देता है। पूर्ण छह खंडों को अपने अधीन किये बिना यह आयुधशाला में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि वह देवाधिष्ठित होता है। ठीक इसी प्रकार श्रीसंघ-चक्र भी अपने अलौकिक गुणों से सम्पन्न है।

संघ-रथ की स्तुति

६—भद्दं सीलपडागूसियस्स, तव-नियम-तुरगजुत्तस्स।
संघ-रहस्स भगवओ, सज्झाय-सुनंदिघोसस्स ।।

६—अठारह सहस्र शीलांग रूप ऊंची पताकाएँ जिस पर फहरा रही हैं, तप और संयम रूप अश्व जिसमें जुते हुए हैं, पाँच प्रकार के स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा) का मंगलमय मधुर घोष जिससे निकल रहा है, ऐसे भगवान् संघ-रथ का कल्याण हो।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में श्रीसंघ को रथ से उपमित किया गया है। जैसे रथ पर पताका फहराती है उसी प्रकार संघ शील रूपी ऊंची पताका से मंडित है। रथ में सुन्दर घोड़े जुते रहते हैं, उसी प्रकार संघ रूपी रथ में भी तप और नियम रूपी दो अश्व हैं तथा उसमें पाँच प्रकार के स्वाध्याय का मंगलघोष होता है।

पताका, अश्व और नंदीघोष इन तीनों को क्रमशः शील, तप-नियम और स्वाध्याय से उपमित किया है। जैसे रथ सुपथगामी होता है, उसी प्रकार संघ रूपी रथ भी मोक्ष-पथ का गामी है।

संघ-पद्म की स्तुति

७—कम्मरय-जलोह-विणिग्गयस्स, सुय-रयण-दीहनालस्स।
पंचमहव्वय-थिरकन्नियस्स, गुण-केसरालस्स॥

८—सावग-जण-महुअरि-परिवुडस्स, जिणसूरतेयबुद्धस्स।
संघ-पउमस्स भद्दं, समणगण-सहस्सपत्तस्स॥

७-८—जो संघ रूपी पद्म-कमल, कर्म-रज तथा जल-राशि से ऊपर उठा हुआ है—अलिप्त है, जिसका आधार श्रुतरत्नमय दीर्घ नाल है, पाँच महाव्रत जिसकी सुदृढ कर्णिकाएँ हैं, उत्तरगुण जिसका पराग है, जो भावुक जन रूपी मधुकरों—भंवरों से घिरा हुआ है, तीर्थंकर रूप सूर्य के केवल-ज्ञान रूप तेज से विकसित है, श्रमणगण रूप हजार पाँखुड़ी वाले उस संघ-पद्म का सदा कल्याण हो।

विवेचन—इन दोनों गाथाओं में श्री संघ को कमल की उपमा से अलंकृत किया गया है। जैसे कमलों से सरोवर की शोभा बढ़ती है, वैसे ही श्रीसंघ से मनुष्यलोक की शोभा बढ़ती है। पद्मवर के दीर्घ नाल होती है, श्रीसंघ भी श्रुत-रत्न रूप दीर्घनाल से युक्त है। पद्मवर की स्थिर कर्णिका है, श्रीसंघ-पद्म भी पंच-महाव्रत रूप स्थिर कर्णिका-वाला है। पद्म सौरभ, पीत पराग तथा मकरन्द के कारण भ्रमर-भ्रमरी-समूह से घिरा होता है, वैसे ही श्रीसंघ मूल गुण रूप सौरभ से, उत्तर गुण रूपी पीत पराग से, आध्यात्मिक रस, एवं धर्म-प्रवचन से, आनन्दरस-रूप मकरन्द से युक्त है और श्रावकगण रूप भ्रमरों से परिवृत रहता है।

पद्मवर सूर्योदय होते ही विकसित हो जाता है, उसी प्रकार श्रीसंघ रूप पद्म भी तीर्थंकर-सूर्य के केवलज्ञान रूप तेज से विकसित होता है। पद्म, जल और कर्दम से अलिप्त रहता है तो श्रीसंघ रूप पद्म भी कर्मरज से अलिप्त रहता है। पद्मवर के सहस्रों पत्र होते हैं, इसी प्रकार श्रीसंघ रूप पद्म भी श्रमणगण रूप सहस्रों पत्रों से सुशोभित होता है।

इत्यादिक गुणों से युक्त श्रीसंघ रूप पद्म का कल्याण हो।

संघचन्द्र की स्तुति

९—तव-संजम-मय-लंछण! अकिरिय-राहुमुह दुद्धरिस! निच्चं।
जय संघचन्द! निम्मलसम्मत्त—विसुद्धजोण्हागा!॥

९—हे तप प्रधान! संयम रूप मृगचिह्नमय! अक्रियावाद रूप राहु के मुख से सदैव दुर्द्धर्ष! अतिचार रहित सम्यक्त्व रूप निर्मल चाँदनी से युक्त! हे संघचन्द्र! आप सदा जय को प्राप्त करें।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में श्रीसंघ को चन्द्रमा की उपमा से अलंकृत किया गया है।

जैसे चन्द्रमा मृगचिह्न से अंकित है, सौम्य कान्ति से युक्त तथा गृह, नक्षत्र, तारों से घिरा हुआ होता है, इसी प्रकार श्रीसंघ भी तप, संयम, रूप चिह्न से युक्त है, नास्तिक व मिथ्यादृष्टि रूप

राहु से अग्रस्य अर्थात् ग्रसित नहीं होने वाला है, मिथ्यात्व-मल से रहित एवं स्वच्छ निर्मल निरतिचार सम्यक्त्व रूप ज्योत्स्ना से रहित है। ऐसे संघ-चन्द्र की सदा जय विजय हो।

संघसूर्य की स्तुति

१०—परतित्थिय-गहपहनासगस्स, तवतेय-दित्तलेसस्स।
नाणुज्जोयस्स जए, भद्दं दमसंघ-सूरस्स॥

१०—प्रस्तुत गाथा में श्रीसंघ को सूर्य की उपमा से उपमित किया गया है।

परतीर्थ अर्थात् एकान्तवादी, दुर्नय का आश्रय लेने वाले परवादी रूप ग्रहों की आभा को निस्तेज करने वाले, तप रूप तेज से सदैव देदीप्यमान, सम्यग्ज्ञान से उजागर, उपशम-प्रधान संघ रूप सूर्य का कल्याण हो।

विवेचन—स्तुतिकार ने यहाँ संघ को सूर्य से उपमित किया है। जैसे सूर्योदय होते ही अन्य सभी ग्रह प्रभाहीन हो जाते हैं, वैसे ही श्रीसंघ रूपी सूर्य के सामने अन्य दर्शनकार, जो एकान्तवाद को लेकर चलते हैं, प्रभाहीन—निस्तेज हो जाते हैं। अतः साधक जीवों को चतुर्विध श्रीसंघ-सूर्य से दूर नहीं रहना चाहिये। फिर अविद्या, अज्ञान तथा मिथ्यात्व का अन्धकार जीवन को कभी भी प्रभावित नहीं कर सकता। अतः यह संघ-सूर्य कल्याण करने वाला है।

संघसमुद्र की स्तुति

११—भद्दं धिई-वेला-परिगयस्स, सज्झाय-जोग-मगरस्स।
अक्खोहस्स भगवओ, संघ-समुद्दस्स रुंदस्स॥

११—जो धृति अर्थात् मूल गुण तथा उत्तर गुणों से वृद्धिगत आत्मिक परिणाम रूप बढ़ते हुए जल की वेला से परिव्याप्त है, जिसमें स्वाध्याय और शुभ योग रूप मगरमच्छ हैं, जो कर्मविदारण में महाशक्तिशाली है, और परिषह, उपसर्ग होने पर भी निष्कंप-निश्चल है, तथा समस्त ऐश्वर्य से सम्पन्न एवं विस्तृत है, ऐसे संघ समुद्र का भद्र हो।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में श्रीसंघ को समुद्र से उपमित किया गया है। जैसे जलप्रवाह के बढ़ने से समुद्र में ऊर्मिया उठती हैं, और मगरमच्छ आदि जल-जन्तु उसमें विचरण करते हैं, वह अपनी मर्यादा में सदा स्थित रहता है। उसके उदर में असंख्य रत्नराशि समाहित है—तथा अनेक नदियों का समावेश होता रहता है। इसी प्रकार श्रीसंघ रूप समुद्र में भी क्षमा, श्रद्धा, भक्ति, संवेग-निर्वेग आदि सद्गुणों की लहरें उठती रहती हैं। श्रीसंघ स्वाध्याय द्वारा कर्मों का संहार करता है और परिषहों एवं उपसर्गों से क्षुब्ध नहीं होता।

श्रीसंघ में अनेक सद्गुण रूपी रत्न विद्यमान हैं। श्रीसंघ आत्मिक गुणों से भी महान् है। समुद्र चन्द्रमा की ओर बढ़ता है तो श्रीसंघ भी मोक्ष की ओर अग्रसर होता है तथा अनन्त गुणों से गंभीर है। ऐसे भगवान् श्रीसंघ रूप समुद्र का कल्याण हो।

प्रस्तुत सूत्रगाथा में स्वाध्याय को योग प्रतिपादित करके शास्त्रकार ने सूचित किया है कि स्वाध्याय चित्त की एकाग्रता का एक सबल साधन है और उससे चित्त की अप्रशस्त वृत्तियों का निरोध होता है।

संघ-महामन्दर-स्तुति

१२—सम्मद्दंसण-वरवइर,-दढ-रूढ-गाढावगाढपेढस्स ।
धम्म-वर-रयणमंडिय-चामीयर-मेहलागस्स ॥

१३—नियमूसियकणय-सिलायलुज्जलजलंत-चित्त-कूडस्स ।
नंदणवण-मणहरसुरभि-सीलगंधुद्ध्मायस्स ॥

१४—जीवदया-सुन्दर कंद रुद्दरिय,—मुणिवर-मइंदइन्नस्स ।
हेउसयधाउपगलंत-रयणदित्तोसहिगुहस्स ॥

१५—संवरवर-जलपगलिय-उज्झरपविरायमाणहारस्स ।
सावगजण-पउररवंत-मोर नच्चंत कुहरस्स ॥

१६—विणयनयप्पवर मुणिवर फुरंत-विज्जुज्जलंतसिहरस्स ।
विविह-गुण-कप्परुक्खग,—फलभरकुसुमाउलवणस्स ॥

१७—नाणवर-रयण-दिप्पंत,—कंतवेरुलिय-विमलचूलस्स ।
वंदामि विणयपणओ,—संघ-महामंदरगिरिस्स ॥

१२-१७—संघमेरु की भूपीठिका सम्यग्दर्शन रूप श्रेष्ठ वज्रमयी है अर्थात् वज्रनिर्मित है। तत्वार्थ-श्रद्धान ही मोक्ष का प्रथम अंग होने से सम्यक्-दर्शन ही उसकी सुदृढ आधार-शिला है। वह शंकादि दूषण रूप विवरों से रहित है। प्रतिपल विशुद्ध अध्यवसायों से चिरंतन है। तीव्र तत्त्व-विषयक अभिरुचि होने से ठोस है, सम्यक् बोध होने से जीव आदि नव तत्त्वों एवं षड् द्रव्यों में निमग्न होने के कारण गहरा है। उसमें उत्तर गुण रूप रत्न हैं और मूल गुण स्वर्ण मेखला है। उत्तर गुणों के अभाव में मूल गुणों की महत्ता नहीं मानी जाती अतः उत्तर गुण ही रत्न हैं, उनसे खचित मूल गुण रूप सुवर्ण-मेखला है, उससे संघ-मेरु अलंकृत है।

संघ-मेरु के इन्द्रिय और नोइन्द्रिय का दमन रूप नियम ही उज्ज्वल स्वर्णमय शिलातल हैं। अशुभ अध्यवसायों से रहित प्रतिक्षण कर्म-कलिमल के धुलने से तथा उत्तरोत्तर सूत्र और अर्थ के स्मरण करने से उदात्त चित्त ही उन्नत कूट हैं एवं शील रूपी सौरभ से परिव्याप्त संतोषरूपी मनोहर नन्दनवन है। संघ-सुमेरु में स्व-परकल्याण रूप जीव-दया ही सुन्दर कन्दराएँ हैं। वे कन्दराएं कर्म-शत्रुओं को पराजित करने वाले तथा परवादी-मृगों पर विजयप्राप्त दुर्धर्ष तेजस्वी मुनिगण रूपी सिंहों से आकीर्ण हैं और कुबुद्धि के निरास से सैंकड़ों अन्वय-व्यतिरेकी हेतु रूप धातुओं से संघ रूप सुमेरु भास्वर है तथा विशिष्ट क्षयोपशम भाव जिनसे झर रहा है ऐसी व्याख्यान-शाला रूप कन्दराएँ देदीप्यमान हो रही हैं।

संघ-मेरु में आश्रवों का निरोध ही श्रेष्ठ जल है और संवर रूप जल के संतत प्रवहमान झरने ही शोभायमान हार हैं। तथा संघ-सुमेरु के श्रावकजन रूपी मयूरों के द्वारा आनन्द-विभोर होकर पंच परमेष्ठी की स्तुति एवं स्वाध्याय रूप मधुर ध्वनि किये जाने से कंदरा रूप प्रवचनस्थल मुखरित हैं।

विनय गुण से विनम्र उत्तम मुनिजन रूप विद्युत् की चमक से संघ-मेरु के आचार्य उपाध्याय रूप शिखर सुशोभित हो रहे हैं। संघ-सुमेरु में विविध प्रकार के मूल और उत्तर गुणों से सम्पन्न मुनिवर ही कल्पवृक्ष हैं, जो धर्म रूप फलों से सम्पन्न हैं और नानाविध ऋद्धि-रूप फूलों से युक्त हैं। ऐसे मुनिवरों से गच्छ-रूप वन परिव्याप्त हैं।

जैसे मेरु पर्वत की कमनीय एवं विमल वैडूर्यमयी चूला है, उसी प्रकार संघ की सम्यक्ज्ञान रूप श्रेष्ठ रत्न ही देदीप्यमान, मनोज्ञ, विमल वैडूर्यमयी चूलिका है। उस संघ रूप महामेरु गिरि के माहात्म्य को मैं विनयपूर्वक नम्रता के साथ वन्दन करता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में स्तुतिकार ने श्रीसंघ को मेरु पर्वत की उपमा से अलंकृत किया है। जितनी विशेषताएँ मेरु पर्वत की हैं उतनी ही विशेषताएँ संघ रूपी सुमेरु की हैं। सभी साहित्यकारों ने सुमेरु पर्वत का माहात्म्य बताया है। मेरु पर्वत जम्बू द्वीप के मध्य भाग में स्थित है, जो एक हजार योजन पृथ्वी में गहरा तथा निन्यानवे हजार योजन ऊँचा है। मूल में उसका व्यास दस हजार योजन है। उस पर चार वन हैं—(१) भद्रशाल (२) सौमनस वन (३) नन्दन-वन (४) और पाण्डुक वन। उसमें तीन कण्डक हैं—रजतमय, स्वर्णमय और विविध रत्नमय। यह पर्वत विश्व में सब पर्वतों से ऊँचा है। उसकी चालीस योजन की चूलिका (चोटी) है।

मेरु पर्वत की वज्रमय पीठिका, स्वर्णमय मेखला तथा कनकमयी अनेक शिलाएं हैं। दीप्तिमान उत्तुंग अनेक कूट हैं। सभी वनों में नन्दनवन विलक्षण वन है, जिसमें अनेक कन्दराएँ हैं और कई प्रकार की धातुएँ हैं। इस प्रकार मेरु पर्वत विशिष्ट रत्नों का स्रोत है। अनेकानेक गुणकारी ओषधियों से परिव्याप्त है। कुहरों में अनेक पक्षियों के समूह हर्षनिनाद करते हुए कलरव करते हैं तथा मयूर नृत्य करते हैं। उसके ऊँचे-ऊँचे शिखर विद्युत् की प्रभा से दमक रहे हैं तथा उस पर वन-भाग कल्पवृक्षों से सुशोभित हो रहा है। वे कल्पवृक्ष सुरभित फूलों और फलों से युक्त हैं। इत्यादि विशेषताओं से महागिरिराज विराजमान है और वह अतुलनीय है। इसी पर्वतराज की उपमा से चतुर्विध संघ को उपमित किया गया है।

संघमेरु की पीठिका सम्यग्दर्शन है। स्वर्ण मेखला धर्म-रत्नों से मण्डित है तथा शम दम उपशम आदि नियमों की स्वर्ण-शिलाएँ हैं। पवित्र अध्यवसाय ही संघ मेरु के दीप्तिमान उत्तुंग कूट हैं। आगमों का अध्ययन, शील, सन्तोष इत्यादि अद्वितीय गुणों रूप नन्दनवन से श्रीसंघ मेरु परिवृत हो रहा है, जो मनुष्यों तथा देवों को भी सदा आनन्दित कर रहा है। नन्दनवन में आकर देव भी प्रसन्न होते हैं।

संघ-सुमेरु प्रतिवादियों के कुतर्क युक्त असद्वाद का निराकरण रूप नानाविध धातुओं से सुशोभित है। श्रुतज्ञान रूप रत्नों से प्रकाशमान है तथा आमर्ष आदि २८ लब्धिरूप ओषधियों से परिव्याप्त है।

वहाँ संवर के विशुद्ध जल के झरने निरन्तर वह रहे हैं। वे झरने मानो श्रीसंघमेरु के गले में सुशोभित हार हों, ऐसे लग रहे हैं। संघ-सुमेरु की प्रवचनशालाएँ जिनवाणी के गंभीर घोष से गूंज रही हैं, जिसे सुनकर श्रावक-गण रूप मयूर प्रसन्नता से झूम उठते हैं।

विनय धर्म और नय-सरणि रूप विद्युत् से संघ-सुमेरु दमक रहा है। मूल गुणों एवं उत्तर

गुणों से सम्पन्न मुनिजन कल्पवृक्ष के समान शोभायमान हो रहे हैं क्योंकि वे सुख के हेतु एवं कर्मफल के प्रदाता विविध प्रकार के योगजन्य लब्धिरूप सुपारिजात कुसुमों से परिव्याप्त हैं। इस प्रकार अलौकिक श्री से संघ-सुमेरु सुशोभित है।

प्रलयकाल के पवन से भी मेरु पर्वत कभी विचलित नहीं होता है। इसी प्रकार संघरूपी मेरु भी मिथ्या-दृष्टियों के द्वारा दिये गये उपसर्गों और परिषहों से विचलित नहीं होता। वह अत्यन्त मनोहारी और नयनाभिराम है।

अन्य प्रकार से संघमेरु की स्तुति

१८—गुण-रयणुज्जलकडयं, सील-सुगंधि-तव-मंडिउद्देसं।
सुय-बारसंग-सिहरं, संघमहामन्दरं वंदे॥

१८—सम्यग्ज्ञान-दर्शन और चारित्र गुण रूप रत्नों से संघमेरु का मध्यभाग देदीप्यमान है। इसकी उपत्यकाएँ अहिंसा, सत्य आदि पंचशील की सुगंध से सुरभित हैं और तप से शोभायमान हैं। द्वादशांगश्रुत रूप उत्तुंग शिखर हैं। इत्यादि विशेषणों से सम्पन्न विलक्षण महामन्दर गिरिराज के सदृश संघ को मैं वन्दन करता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में संघ-मेरु को पूजनीय बनाने वाले चार विशेषण हैं—गुण, शील, तप और श्रुत। 'गुण' शब्द से मूल गुण और उत्तर गुण जानने चाहिए।

'शील' शब्द से सदाचार व पूर्ण ब्रह्मचर्य; 'तप' शब्द से छह बाह्य और छह आभ्यन्तर तप समझना चाहिए तथा श्रुत शब्द से लोकोत्तर श्रुत। ये ही संघमेरु की विशेषताएँ हैं।

संघ—स्तुति विषयक उपसंहार

१९—नगर-रह-चक्क-पउमे, चन्दे सूरे समुद्द-मेरुम्मि।
जो उवमिज्जइ सययं, तं संघगुणायरं वंदे॥

१९—नगर, रथ, चक्र, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, तथा मेरु, इन सब में जो विशिष्ट गुण समाहित हैं, तदनुरूप श्रीसंघ में भी अलौकिक दिव्य गुण हैं। इसलिए संघ को सदैव इनसे उपमित किया है। संघ अनन्तानन्त गुणों का आगर है। ऐसे विशिष्ट गुणों से युक्त संघ को मैं वन्दन करता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में आठ उपमाओं से श्रीसंघ को उपमित करके संघ-स्तुति का उपसंहार किया गया है। स्तुतिकार ने गाथा के अन्तिम चरण में श्रद्धा से नतमस्तक हो श्रीसंघ को वन्दन किया है। जो तद्रूप गुणों का आकर है वही भाव निक्षेप है। अतः यहाँ नाम, स्थापना और द्रव्य रूप निक्षेप को छोड़कर केवल भाव निक्षेप ही वन्दनीय समझना चाहिए।

चतुर्विंशति-जिन-स्तुति

२०—(वंदे) उसभं अजियं संभवमभिनंदण-सुमइं सुप्पभं सुपासं।
ससिपुप्फदंतसीयल-सिज्जंसं वासुपुज्जं च॥

२१—विमलमणंत य धम्मं संतिं कुंथुं अरं च मल्लिं च।
मुणिसुव्वय नमि नेमिं पासं तह वद्धमाणं च।।

२०-२१—ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, (सुप्रभ) सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ (शशी), सुविधि (पुष्पदन्त), शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शांति, कुंथु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि (अरिष्टनेमि), पार्श्व और वर्द्धमान—श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत दो गाथाओं में वर्त्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। पांच भरत तथा पांच ऐरावत—इन दस ही क्षेत्रों में अनादि से काल-चक्र का अवसर्पण और उत्सर्पण होता चला आ रहा है। एक काल-चक्र के बारह आरे होते हैं। इनमें छह आरे अवसर्पिणी के और छह उत्सर्पिणी के होते हैं।

प्रत्येक अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलदेव, नौ वासुदेव तथा नौ प्रति-वासुदेव इस प्रकार तिरेसठ शलाका-पुरुष होते हैं।

गणधरावलि

२२—पढमित्थ इंदभूई, बीए पुण होइ अग्गिभूइत्ति।
तइए य वाउभूई, तओ वियत्ते सुहम्मे य।।

२३—मंडिय-मोरियपुत्ते, अकंपिए चेव अयलभाया य।
मेयज्जे य पहासे, गणहरा हुन्ति वीरस्स।।

२२-२३—श्रमण भगवान् महावीर के गण-व्यवस्थापक ग्यारह गणधर हुए हैं, जो उनके प्रधान शिष्य थे। उनकी पवित्र नामावलि इस प्रकार है—(१) इन्द्रभूति (२) अग्निभूति (३) वायुभूति ये तीनों सहोदर भ्राता और गौतम गोत्र के थे। (४) व्यक्त (५) सुधर्मा (६) मण्डितपुत्र (७) मौर्यपुत्र (८) अकम्पित (९) अचलभ्राता (१०) मेतार्य (११) प्रभास।

विवेचन—ये ग्यारह गणधर भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य थे। भगवान् को वैशाख शुक्ला दशमी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। उस समय मध्यपापा नगरी में सोमिल नामक ब्राह्मण ने अपने यज्ञ-समारोह में इन ग्यारह ही महामहोपाध्यायों को उनके शिष्यों के साथ आमन्त्रित किया था।

उसी नगर के बाहर महासेन उद्यान में भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। देवकृत समवसरण की ओर उमड़ती हुई जनता को देखकर सर्वप्रथम महामहोपाध्याय इन्द्रभूति और उनके पश्चात् अन्य सभी महामहोपाध्याय अपने अपने शिष्यों सहित अहंकार और क्रोधावेश में बारी-बारी से प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भगवान् के समवसरण में पहुँचे। सभी के मन में जो सन्देह रहा हुआ था, उनके बिना कहे ही उसे प्रकट करके सर्वज्ञ देव प्रभु महावीर ने उसका समाधान दिया। इससे प्रभावित होकर सभी ने भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार किया। ये गणों की स्थापना करने वाले गणधर कहलाए। गण-गच्छ का कार्य-भार गणधरों के जिम्मे होता है।

'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' अर्थात् जगत् का प्रत्येक पदार्थ पर्यायदृष्टि से उत्पन्न और विनष्ट होता है तथा द्रव्यदृष्टि से ध्रुव नित्य-रहता है। इन तीन पदों से समस्त श्रुतार्थ को जान कर गणधर सूत्र रूप से द्वादशांग श्रुत की रचना करते हैं। वह श्रुत आज भी सांसारिक जीवों पर महान् उपकार कर रहा है। अतः गणधर देव परमोपकारी महापुरुष हैं।

वीर–शासन की महिमा

२४—निव्वुइपहसासणयं, जयइ सया सव्वभावदेसणयं।
कुसमय-मय-नासणयं, जिणिंदवरवीरसासणयं॥

२४—सम्यग्-ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप निर्वाण पथ का प्रदर्शक, जीवादि पदार्थों का अर्थात् सर्व भावों का प्ररूपक, और कुदर्शनों के अहंकार का मर्दक जिनेन्द्र भगवान् का शासन सदा-सर्वदा जयवन्त है।

विवेचन—(१) जिन-शासन मुक्ति-पथ का प्रदर्शक है (२) जिन प्रवचन सर्वभावों का प्रकाशक है (३) जिन-शासन कुत्सित मान्यताओं का नाशक होने से सर्वोत्कृष्ट और सभी प्राणियों के लिए उपादेय है।

युग-प्रधान-स्थविरालिका-वन्दन

२५—सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबू नामं च कासवं।
पभवं कच्चायणं वंदे, वच्छं सिज्जंभवं तहा॥

२५—भगवान् महावीर के पट्टधर शिष्य (१) अग्निवेश्यायन गोत्रीय श्रीसुधर्मा स्वामी (२) काश्यपगोत्रीय श्रीजम्बूस्वामी (३) कात्यायनगोत्रीय श्रीप्रभव स्वामी तथा (४) वत्सगोत्रीय श्री शय्यम्भवाचार्य को मैं वन्दना करता हूँ।

विवेचन—उक्त तथा आगे की गाथाओं में भगवान् के निर्वाण पद प्राप्त करने के पश्चात् गणाधिपति होने के कारण सुधर्मा स्वामी आदि कतिपय पट्टधर आचार्यों का अभिवादन किया गया है। यह स्थविरावली सुधर्मा स्वामी से प्रारम्भ होती है क्योंकि इनके सिवाय शेष गणधरों की शिष्यपरम्परा नहीं चली।

२६—जसभद्दं तुंगियं वंदे, संभूयं चेव माढरं।
भद्दबाहुं च पाइन्नं, थूलभद्दं च गोयमं॥

२६—(५) तुंगिक गोत्रीय यशोभद्र को, (६) माढर गोत्रीय भद्रबाहु स्वामी को तथा (८) गौतम गोत्रीय स्थूलभद्र को वन्दन करता हूँ।

२७—एलावच्चसगोत्तं, वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च।
तत्तो कोसिअ-गोत्तं, बहुलस्स सरिव्वयं वंदे॥

२७—(९) एलापत्य गोत्रीय आचार्य महागिरि और (१०) सुहस्ती को वन्दन करता हूँ। तथा कौशिक-गोत्र वाले बहुल मुनि के समान वय वाले बलिस्सह को भी वन्दन करता हूँ।

(११) वलिस्सह उस युग के प्रधान आचार्य हुए हैं। दोनों यमल भ्राता तथा गुरुभ्राता होने से स्तुतिकार ने उन्हें बड़ी श्रद्धा से नमस्कार किया है।

२८—हारियगुत्तं साइं च वंदिमो हारियं च सामज्जं।
वंदे कोसियगोत्तं, संडिल्लं अज्जजीय-धरं॥

२८—(१२) हारीत गोत्रीय स्वाति को (१३) हारीत गोत्रीय श्रीश्यामार्य को तथा (१४) कौशिक गोत्रीय आर्य जीतधर शाण्डिल्य को वन्दन करता हूँ।

२९—ति-समुद्दखाय कित्ति, दीव-समुद्देसु गहियपेयालं।
वंदे अज्जसमुद्दं, अक्खुभियसमुद्दगंभीरं॥

२९—पूर्व, दक्षिण और पश्चिम, इन तीनों दिशाओं में, समुद्र पर्यन्त, प्रसिद्ध कीर्तिवाले, विविध द्वीप समुद्रों में प्रामाणिकता प्राप्त अथवा द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के विशिष्ट ज्ञाता, अक्षुब्ध समुद्र समान गंभीर (१५) आर्य समुद्र को वन्दन करता हूँ।

"ति-समुद्द-खाय-कित्ति'—इस पद से ध्वनित होता है कि भारतवर्ष की सीमा तीन दिशाओं में समुद्द-पर्यन्त है।

३०—भणगं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं।
वंदामि अज्जमंगुं, सुय-सागरपारगं धीरं॥

३०—सदैव श्रुत के अध्ययन-अध्यापन में रत, शास्त्रोक्त क्रिया करने वाले, धर्म-ध्यान के ध्याता, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का उद्योत करने वाले तथा श्रुत-रूप सागर के पारगामी धीर (विशिष्ट बुद्धि से सुशोभित) (१६) आर्य मंगु को वन्दन करता हूँ।

३१—वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्तं च।
तत्तो य अज्जवइरं, तवनियमगुणेहिं वइरसमं॥

३१—आचार्य (१७) आर्य धर्म को, फिर (१८) श्री भद्रगुप्त को वन्दन करता हूँ। पुनः तप नियमादि गुणों से सम्पन्न वज्रवत् सुदृढ (१९) श्री आर्य वज्रस्वामी को वन्दन करता हूँ।

३२—वंदामि अज्जरक्खियखवणे, रक्खिय चरित्तसव्वस्से।
रयण-करंडगभूओ-अणुओगो रक्खिओ जेहिं॥

३२—जिन्होंने स्वयं के एवं अन्य सभी संयमियों के चारित्र सर्वस्व की रक्षा की तथा जिन्होंने रत्नों की पेटी के समान अनुयोग की रक्षा की, उन क्षपण-तपस्वीराज (२०) आचार्य श्री आर्य रक्षित को वन्दन करता हूँ।

३३—णाणम्मि दंसणम्मि य, तवविणए णिच्चकालमुज्जुत्तं।
अज्जं नंदिल-खपणं, सिरसा वंदे पसन्नमणं॥

ज्ञान, दर्शन, तप और विनयादि गुणों में सर्वदा उद्यत, तथा राग-द्वेष विहीन प्रसन्नमना, अनेक गुणों से सम्पन्न आर्य (२१) नन्दिल क्षपण को सिर नमाकर वन्दन करता हूँ।

३४—वड्ढउ वायगवंसो, जसवंसो अज्जनागहत्थीणं ।
वागरण-करण-भंगिय-कम्मप्पमडीपहाणाणं ॥

३४—व्याकरण अर्थात् प्रश्नव्याकरण, अथवा संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के शब्दानुशासन में निपुण, पिण्डविशुद्धि आदि उत्तरक्रियाओं और भंगों के ज्ञाता तथा कर्मप्रकृति की प्ररूपणा करने में प्रधान, ऐसे आचार्य नन्दिलक्षपण के पट्टधर शिष्य (२२) आर्य नागहस्ती का वाचक वंश मूर्त्तिमान् यशोवंश की तरह अभिवृद्धि को प्राप्त हो ।

३५—जच्चंजणधाउसमप्पहाणं, मद्दियकुवलय-निहाणं ।
वड्ढउ वायगवंसो, रेवइनक्खत्त-नामाणं ॥

३५—उत्तम जाति के अंजन धातु के सदृश प्रभावोत्पादक, परिपक्व द्राक्षा और नील कमल अथवा नीलमणि के समान कांतियुक्त (२३) आर्य रेवतिनक्षत्र का वाचक वंश वृद्धि प्राप्त करे ।

३६—अयलपुरा णिक्खंते, कालिय-सुय-आणुओगिए धीरे ।
बंभद्दीवग-सीहे, वायग-पय-मुत्तमं पत्ते ॥

३६—जो अचलपुर में दीक्षित हुए, और कालिक श्रुत की व्याख्या—व्याख्यान में अन्य आचार्यों से दक्ष तथा धीर थे, जो उत्तम वाचक पद को प्राप्त हुए, ऐसे ब्रह्मद्वीपिक शाखा से उपलक्षित (२४) आचार्य सिंह को वन्दन करता हूँ ।

३७—जेसिं इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढ-भरहम्मि ।
बहुनयर-निग्गय-जसे, ते वंदे खंदिलायरिए ॥

३७—जिनका वर्तमान में उपलब्ध यह अनुयोग आज भी दक्षिणार्द्ध भरतक्षेत्र में प्रचलित है, तथा अनेकानेक नगरों में जिनका सुयश फैला हुआ है, उन (२५) स्कन्दिलाचार्य को मैं वन्दन करता हूँ ।

३८—तत्तो हिमवंत-महंत-विक्कमे धिइ-परक्कममणंते ।
सज्झायमणंतधरे, हिमवंते वंदिमो सिरसा ॥

३८—स्कन्दिलाचार्य के पश्चात् हिमालय के सदृश विस्तृत क्षेत्र में विचरण करनेवाले अतएव महान् विक्रमशाली, अनन्त धैर्यवान् और पराक्रमी, भाव की अपेक्षा से अनन्त स्वाध्याय के धारक (२६) आचार्य हिमवान् को मस्तक नमाकर वन्दन करता हूँ ।

३९—कालिय-सुय-अणुओगस्स धारए, धारए य पुव्वाणं ।
हिमवंत-खमासमणे वंदे णागज्जुणायरिए ॥

३९—जो कालिक सूत्र सम्बन्धी अनुयोग के धारक और उत्पाद आदि पूर्वों के धारक थे, ऐसे महान् विशिष्ट ज्ञानी हिमवन्त क्षमाश्रमण को वन्दन करता हूँ । तत्पश्चात् (२७) श्री नागार्जुनाचार्य को वन्दन करता हूँ ।

४०—मिउ-मद्दव सम्पन्ने, अणुपुव्वी-वायगत्तणं पत्ते।
ओहसुयसमायारे, नागज्जुणवायए वंदे॥

४०—जो अत्यन्त मृदु—कोमल मार्दव, आर्जव आदि भावों से सम्पन्न थे, जो अवस्था व चारित्रपर्याय के क्रम से वाचक पद को प्राप्त हुए तथा ओघश्रुत का समाचरण करने वाले थे, उन (२८) श्री नागार्जुन वाचक को वन्दन करता हूँ।

४१—गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारणिंदाणं।
णिच्चं खंतिदयाणं परूवणे दुल्लभिंदाणं॥

४२—तत्तो य भूयदिन्नं, निच्चं तवसंजमे अनिव्विण्णं।
पंडियजण-सम्माणं, वंदामो संजमविहिण्णुं॥

४१-४२—अनुयोग सम्बन्धी विपुल धारणा रखने वालों में इन्द्र के समान (प्रधान), सदा क्षमा और दयादि की प्ररूपणा करने में इन्द्र के लिए भी दुर्लभ ऐसे (२९) श्रीगोविन्दाचार्य को नमस्कार हो।

तत्पश्चात् तप-संयम की साधना-आराधना करते हुए, प्राणान्त उपसर्ग होने पर भी जो खेद से रहित विद्वद्-जनों से सम्मानित, संयम-विधि-उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के परिज्ञाता थे, उन (३०) आचार्य भूतदिन्न को वन्दन करता हूँ।

४३—वर-कणग-तविय-चंपग-विमउल-वर-कमल-गब्भसरिवन्ने।
भविय-जण-हियय-दइए, दयागुणविसारए धीरे॥

४४—अड्ढभरहप्पहाणे, बहुविहसज्झाय-सुमुणिय-पहाणे।
अणुओगिय-वरवसभे नाइलकुल-वंसनंदिकरे॥

४५—जगभूयहियपगब्भे, वंदेऽहं भूयदिन्नमायरिए।
भव-भय-वुच्छेयकरे, सीसे नागज्जुणरिसीणं॥

४३-४४-४५—जिनके शरीर की कान्ति तपे हुए स्वर्ण के समान देदीप्यमान थी अथवा स्वर्णिम वर्ण वाले चम्पक पुष्प के समान थी या खिले हुए उत्तम जातीय कमल के गर्भ-पराग के तुल्य गौर वर्ण युक्त थी जो भव्यों के हृदय-वल्लभ थे, जन-मानस में करुणा भाव उत्पन्न करने में तथा करुणा करने में निपुण थे, धैर्यगुण सम्पन्न थे, दक्षिणार्द्ध भरत में युग प्रधान, बहुविध स्वाध्याय के परिज्ञाता, सुयोग्य संयमी पुरुषों को यथा योग्य स्वाध्याय, ध्यान, वैयावृत्य आदि शुभ क्रियाओं में नियुक्तिकर्ता तथा नागेन्द्र कुल की परम्परा की अभिवृद्धि करने वाले थे, सभी प्राणियों को उपदेश देने में निपुण और भव-भीति के विनाशक थे, उन आचार्य श्री नागार्जुन ऋषि के शिष्य भूतदिन्न को मैं वन्दन करता हूँ।

विवेचन—श्रीदेववाचक, आचार्य भूतदिन्न के परम श्रद्धालु थे। इसलिए आचार्य के शरीर का, गुणों का, लोकप्रियता का, गुरु का, कुल का, वंश का और यशः कीर्ति का परिचय उपर्युक्त तीन गाथाओं में दिया है। उनके विशिष्ट गुणों का दिग्दर्शन कराना ही वास्तविक रूप में स्तुति कहलाती है।

४६—सुमुणिय-णिच्चाणिच्चं, सुमुणिय-सुत्तत्थधारयं वंदे ।
सब्भावुब्भावणया, तत्थं लोहिच्चणामाणं ॥

४६—नित्यानित्य रूप से द्रव्यों को समीचीन रूप से जानने वाले, सम्यक् प्रकार से समझे हुए सूत्र और अर्थ के धारक तथा सर्वज्ञ-प्ररूपित सद्भावों का यथाविधि प्रतिपादन करने वाले (३१) श्री लोहित्याचार्य को नमस्कार करता हूँ ।

४७—अत्थ-महत्थक्खाणिं, सुसमणवक्खाण-कहण-निव्वाणिं ।
पयईए महुरवाणिं, पयग्रो पणमामि दूसगणिं ॥

४७—शास्त्रों के अर्थ और महार्थ की खान के सदृश अर्थात् भाषा, विभाषा, वार्तिकादि से अनुयोग के व्याख्याकार, सुसाधुओं को आगमों की वाचना देते समय शिष्यों द्वारा पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर देने में संतोष व समाधि का अनुभव करने वाले, प्रकृति से मधुर, ऐसे आचार्य (३२) श्री दूष्यगणी को सम्मानपूर्वक वन्दन करता हूँ ।

४८—तव-नियम-सच्च-संजम-विणयज्जव-खंति-मद्दवरयाणं ।
सीलगुणगद्दियाणं, अणुओग-जुगप्पहाणाणं ॥

४८—वे दूष्य गणी तप, नियम, सत्य, संयम, विनय, आर्जव (सरलता), क्षमा, मार्दव (नम्रता) आदि श्रमणधर्म के सभी गुणों में संलग्न रहने वाले, शील के गुणों से प्रख्यात और अनुयोग की व्याख्या करने में युगप्रधान थे । (ऐसे श्रीदूष्यगणि को वन्दन करता हूँ ।)

४९—सुकुमालकोमलतले, तेसिं पणमामि लक्खणपसत्थे ।
पाए पावयणीणं, पडिच्छिय-सएहिं पणिवइए ॥

४९—पूर्वकथित गुणों से युक्त, उन सभी युगप्रधान प्रवचनकार आचार्यों के प्रशस्त लक्षणों से सम्पन्न, सुकुमार, सुन्दर तलवे वाले और सैकड़ों प्रातीच्छिकों के अर्थात् शिष्यों के द्वारा नमस्कृत, महान् प्रवचनकार श्री दूष्यगणि के पूज्य चरणों को प्रणाम करता हूँ ।

विवेचन—जो साधु अपने गण के आचार्य से आज्ञा प्राप्त करके किसी दूसरे गण के आचार्य के समीप अनुयोग-सूत्रव्याख्यान श्रवण करने के लिए जाते हैं और उस गण के आचार्य उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, वे प्रातीच्छिक शिष्य कहलाते हैं ।

५०—जे अन्ने भगवंते, कालिय-सुय-आणुओगिए धीरे ।
ते पणमिऊण सिरसा, नाणस्स परूवणं वोच्छं ॥

५०—प्रस्तुत गाथाओं में जिन अनुयोगधर स्थविरों और आचार्यों को वन्दन किया गया है, उनके अतिरिक्त अन्य जो भी कालिक सूत्रों के ज्ञाता और अनुयोगधर धीर आचार्य भगवन्त हुए हैं, उन सभी को प्रणाम करके (मैं देव वाचक) ज्ञान की प्ररूपणा करूंगा ।

श्रोताओं के विविध प्रकार

५१—सेलघण-कुडग-चालिणी, परिपुण्णग-हंस-महिस-मेसे य।
मसग-जलूग-विराली, जाहग-गो-भेरि-आभीरी ॥

५१—(१) शैलघन—चिकना गोल पत्थर और पुष्करावर्त्त मेघ (२) कुटक-घड़ा (३) चालनी (४) परिपूर्णक, (५) हंस (६) महिष (७) मेष (८) मशक (९) जलौक—जौंक (१०) बिडाली-बिल्ली (११) जाहक (चूहे की जाति विशेष) (१२) गौ (१३) भेरी और (१४) आभीरी (भीलनी) इनके समान श्रोताजन होते हैं।

विवेचन—शास्त्र का शुभारम्भ करने से पूर्व विघ्न-निवारण हेतु, मंगल-स्वरूप अर्हत् आदि का कीर्तन करने के पश्चात् आगम-ज्ञान को श्रवण करने का अधिकारी कौन होता है ? और किस-प्रकार की परिषद् (श्रोतृसमूह) श्रवण करने योग्य होती है ? यह स्पष्ट करने के लिए चौदह दृष्टान्तों द्वारा श्रोताओं का वर्णन किया गया है।

उत्तम वस्तु पाने का अधिकारी सुयोग्य व्यक्ति ही होता है। जो जितेन्द्रिय हो, उपहास नहीं करता हो, किसी का गुप्त रहस्य प्रकाशित नहीं करता हो, विशुद्ध चारित्रवान् हो, जो अतिचारी, अनाचारी न हो, क्षमाशील हो, सदाचारी एवं सत्य-प्रिय हो, ऐसे गुणों से युक्त व्यक्ति ही श्रुतज्ञान का लाभ करने का अधिकारी होता है। वही सुपात्र है। इन योग्यताओं में यदि कुछ न्यूनता हो तो वह पात्र है।

इन गुणों के विपरीत जो दुष्ट, मूढ एवं हठी है, वह कुपात्र है। वह श्रुतज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रायः श्रुतज्ञान से दूसरों का ही नहीं अपितु अपना भी अहित करता है। यहाँ सूत्रकार ने श्रोताओं को चौदह उपमाओं द्वारा वर्णित किया है। यथा—

(१) **शैल-घन**—यहाँ शैल का अभिप्राय गोल मूंग के बराबर चिकना पत्थर है। घन पुष्करा-वर्त्त मेघ को कहा गया है। मुद्गशैल नामक पत्थर पर सात अहोरात्र पर्यन्त निरन्तर मूसलधार पानी बरसता रहे किन्तु वह पत्थर अन्दर से भीगता नहीं है। इसी प्रकार के श्रोता भी होते हैं, जो तीर्थंकर, श्रुतकेवलियों आदि के उपदेशों से भी सन्मार्ग पर नहीं आ सकते, तो भला सामान्य आचार्य व मुनियों के उपदेशों का उनपर क्या प्रभाव हो सकता है ! वे गोशालक आजीवक और जमाली के समान दुराग्रही होते हैं। भगवान् महावीर भी उनको सन्मार्गगामी नहीं बना सके।

(२) **कुडग**—संस्कृत में इसे 'कुंटक' कहते हैं। कुटक का अर्थ होता है घड़ा। घड़े दो प्रकार के होते हैं, कच्चे और पक्के। अग्नि से जो पकाया नहीं गया है, उस कच्चे घड़े में पानी नहीं ठहर सकता है। इसी प्रकार जो अबोध शिशु हैं, वह श्रुतज्ञान के सर्वथा अयोग्य हैं।

पक्के घड़े भी दो प्रकार के होते हैं—नये और पुराने। इनमें नवीन घट श्रेष्ठ है जिसमें डाला हुआ गर्म पानी भी कुछ समय में शीतल हो जाता है, तथा कोई वस्तु जल्दी विकृत नहीं होती। इसी प्रकार लघु वय में दीक्षित मुनि में डाले हुए अच्छे संस्कार सुन्दर परिणाम लाते हैं।

पुराने घड़े भी दो प्रकार के होते हैं—एक पानी डाला हुआ और एक विना पानी डाला हुआ—कोरा। इसी प्रकार के श्रोता होते हैं जो युवावस्था होने पर मिथ्यात्व के कलिमल से लिप्त या अलिप्त होते हैं। जो अलिप्त हैं, ऐसे व्यक्ति ही योग्य श्रोता कहलाते हैं।

जो अन्य वस्तुओं से वासित हो गए हैं, ऐसे घड़े भी दो प्रकार के होते हैं—सुगन्धित पदार्थों से वासित और दुर्गन्धित पदार्थों से वासित। इसी तरह श्रोता भो दो प्रकार के होते हैं। कोई सम्यग् ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण तथा दूसरे क्रोधादि कषायों से युक्त।

अर्थात् जिन श्रोताओं ने मिथ्यात्व, विषय, कषाय के संस्कारों को छोड़ दिया है, वे श्रुतज्ञान के अधिकारी हैं, और जिन्होंने कुसंस्कारों को नहीं छोड़ा वे अनधिकारी हैं।

(३) **चालनी**—जो श्रोता उत्तमोत्तम उपदेश व श्रुतज्ञान सुनकर तुरन्त ही भुला देते हैं, जैसे चालनी में डाला हुआ पानी निकल जाता है। अथवा चालनी सार-सार को छोड़ देती है, निस्सार (तूसों को) को अपने अन्दर धारण कर रखती है, वैसे ही अयोग्य श्रोता गुणों को छोड़कर अवगुणों को ही ग्रहण करते हैं। वे चालनी के समान श्रोता अयोग्य हैं।

(४) **परिपूर्णक**—जिससे दूध, पानी आदि पदार्थ छाने जाते हैं, वह छन्ना कहलाता है। वह भी सार को छोड़ देता है। और कूड़ा-कचरा अपने में रख लेता है। इसी प्रकार जो श्रोता अच्छाइयों को छोड़कर बुराइयों को ग्रहण करते हैं, वे श्रुत के अनधिकारी हैं।

(५) **हंस**—हंस के समान जो श्रोता केवल गुणग्राही होते हैं, वे श्रुतज्ञान के अधिकारी होते हैं। पक्षियों में हंस श्रेष्ठ माना जाता है। यह पक्षी प्राय: जलाशय : मानसरोवर, गंगा आदि के किनारे रहता है। इस पक्षी की यह विशेषता है कि मिश्रित दूध और पानी में से भी यह दुग्धांश को ही ग्रहण करता है।

(६) **मेष**—मेढ़ा या बकरी का स्वभाव अगले दोनों घुटने टेककर स्वच्छ जल पीने का है। वे पानी को गन्दा नहीं करते। इसी प्रकार जो श्रोता शास्त्रश्रवण करते समय एकाग्रचित्त रहते हैं, और गुरु को प्रसन्न रखते हैं, वातावरण को मलीन नहीं बनाते, वे शास्त्र-श्रवण के अधिकारी और सुपात्र होते हैं।

(७) **महिष**—भैंसा जलाशय में घुसकर स्वच्छ पानी को गन्दा बना देता है और जल में मूत्र-गोबर भी कर देता है। वह न तो स्वयं स्वच्छ पानी पीता है और न अपने साथियों को स्वच्छ जल पीने देता है। इसी प्रकार कुछेक श्रोता भैंसे के तुल्य होते हैं। जब आचार्य भगवान् शास्त्र-वाचना दे रहे हों, उस समय न तो स्वयं एकाग्रता से सुनते हैं, न दूसरों को सुनने देते हैं। वे हँसी-मश्करी, कानाफूसी, कुतर्क तथा वितण्डावाद में पड़कर अमूल्य समय नष्ट करते हैं। ऐसे श्रोता श्रुतज्ञान के अधिकारी नहीं हैं।

(८) **मशक**—डाँस-मच्छरों का स्वभाव मधुर राग सुनाकर शरीर पर डंक मारने का है। वैसे ही जो श्रोतागण गुरु की निन्दा करके उन्हें कष्ट पहुंचाते हैं, वे अविनीत होते हैं। वे अयोग्य हैं।

(९) **जलौका**—जिस प्रकार जलौका अर्थात् जौंक मनुष्य के शरीर में फोड़े आदि से पीड़ित स्थान पर लगाने से वहाँ के दूषित रक्त को ही पीती है, शुद्ध रक्त को नहीं, इसी प्रकार कुबुद्धि श्रोता

आचार्य आदि के सद्‌गुणों को व आगम ज्ञान को छोड़कर दुर्गुणों को ग्रहण करते हैं। ऐसे व्यक्ति श्रुतज्ञान के अधिकारी नहीं होते।

(१०) बिडाली—बिल्ली स्वभावतः दूध दही आदि पदार्थों को पात्र से नीचे गिराकर चाटती है अर्थात् धूलियुक्त पदार्थों का आहार करती है। इसी तरह कई एक श्रोता गुरु से साक्षात् ज्ञान नहीं लेते, किन्तु इधर-उधर से सुन सुनाकर अथवा पढ़कर सत्यासत्य का भेद समझे बिना ही ग्रहण करते रहते हैं। वे श्रोता बिल्ली के समान होते हैं और श्रुतज्ञान के पात्र नहीं होते।

(११) जाहक—एक जानवर है। दूध-दही आदि खाद्य पदार्थ जहां है, वहीं पहुंच कर वह थोड़ा-थोड़ा खाता है और बीच-बीच में अपनी बगलें चाटता जाता है। इसी प्रकार जो शिष्य पूर्व-गृहीत सूत्रार्थ को पक्का करके नवीन सूत्रार्थ ग्रहण करते हैं वे श्रोता जाहक के समान आगम ज्ञान के अधिकारी होते हैं।

(११) गौ—गौ का उदाहरण इस प्रकार है—किसी यजमान ने चार ब्राह्मणों को एक दुधारू गाय दान में दी। उन चारों ने गाय को न कभी घास दिया न पानी पिलाया, यह सोचकर कि यह मेरे अकेले की तो है नहीं। वे दूध दोहने के लिए पात्र लेकर आ धमकते थे। आखिर भूखी गाय कब तक दूध देती और जीवित रहती? परिणाम स्वरूप भूख-प्यास से पीड़ित गाय ने एक दिन दम तोड़ दिया।

ठीक इसी प्रकार के कोई-कोई श्रोता होते हैं, जो सोचते हैं कि गुरुजी मेरे अकेले के तो हैं नहीं फिर क्यों मैं उनकी सेवा करूं? ऐसा सोच कर वे गुरुदेव की सेवा तो करते नहीं हैं और उपदेश सुनने व ज्ञान सीखने के लिए तत्पर हो जाते है। वे श्रुतज्ञान के अधिकारी नहीं है।

इसके विपरीत दूसरा उदाहरण है—एक श्रेष्ठी (सेठ) ने चार ब्राह्मणों को एक ही गाय दी। वे बड़ी तन्मयता से उसे दाना-पानी देते, उसकी सेवा करते और उससे खूब दूध प्राप्त करके प्रसन्न होते।

इसी प्रकार विनीत श्रोता गुरु को सेवा द्वारा प्रसन्न करके ज्ञान रूपी दुग्ध ग्रहण करते हैं। वे वास्तव में ज्ञान के अधिकारी हैं और रत्नत्रय की आराधना करके अजर-अमर हो सकते हैं।

(१३) भेरी—एक समय सौधर्माधिपति ने अपनी देवसभा में प्रशंसा के शब्दों में श्रीकृष्ण की दो विशेषताएं बताई—एक गुण-ग्राहकता और दूसरी नीच युद्ध से परे रहना।

एक देव उनकी परीक्षा लेने के विचार से मध्यलोक में आया। उसने सड़े हुए काले कुत्ते का रूप बनाया और जिस रास्ते से कृष्ण जाने वाले थे, उसी रास्ते पर मृतकवत् पड़ गया। उसके शरीर से तीव्र दुर्गन्ध आ रही थी। उसी राज-पथ से श्रीकृष्ण भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ निकले। कुत्ते के शरीर की असह्य दुर्गन्ध से सारी सेना घबरा उठी और द्रुतगति से पथ बदलकर आगे बढ़ने लगी। किन्तु श्रीकृष्ण ने औदारिक देह का स्वभाव समझ कर बिना घृणा किए, कुत्ते को देखकर कहा—'देखो तो सही, इस कुत्ते के काले शरीर में सफेद, स्वच्छ और चमकीले दांत कितने सुन्दर दिखाई देते हैं! मानो मरकत मणि के पात्र में मोतियों की कतार हो।' देव श्रीकृष्ण की इस अद्‌भुत गुणग्राहकता को जानकर नतमस्तक हो गया। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण भगवान् अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ द्वारका नगरी के बाहर उद्यान में पहुंचे।

कुछ समय पश्चात् वही देव फिर परीक्षा लेने आ गया और अश्वशाला में से श्रीकृष्ण के एक उत्तम अश्व को लेकर भाग गया। सैनिकों के पीछा करने पर भी वह हाथ नहीं आया। अन्त में श्रीकृष्ण स्वयं घोड़ा छुड़ाने के लिए गये। तब अपहरणकर्त्ता देवता ने कहा—'आप मेरे साथ युद्ध करके ही अश्व ले जा सकते हैं।'

श्रीकृष्ण ने कहा—'युद्ध कई प्रकार के होते हैं, मल्लयुद्ध, मुष्ठि-युद्ध दृष्टि-युद्ध आदि। तुम कौन-सा युद्ध करना चाहते हो ?'

उसने कहा—'मैं पीठयुद्ध करना चाहता हूं। आपकी भी पीठ हो और मेरी भी पीठ हो।'

उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा—'ऐसा घृणित व नीच युद्ध करना मेरे गौरव के विरुद्ध है, भले तू अश्व ले जा।' यह सुनकर देव हर्षान्वित होकर अपने असली रूप में वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर, श्रीकृष्ण के चरणों में नतमस्तक हो गया। इसने इन्द्र द्वारा की गई प्रशंसा को स्वीकार किया। वरदानस्वरूप देव ने एक दिव्य भेरी भेंट में दी। उसने कहा—इसे छह-छह महीने बाद बजाने से इसमें से सजल मेघ जैसी ध्वनि उत्पन्न होगी। जो भी इसकी ध्वनि को सुनेगा उसे छह महीने तक रोग नहीं होगा। उसका पूर्वोत्पन्न रोग नष्ट हो जायगा। इसकी ध्वनि बारह योजन तक सुनाई देगी।' यह कहकर देव स्वस्थान को चला गया।

कुछ समय पश्चात् ही द्वारका में रोग फैला और भेरी बजाई गई। जहां तक उसकी आवाज पहुंची वहां तक के सभी रोगी स्वस्थ हो गए। श्रीकृष्ण ने भेरी अपने विश्वासपात्र सेवक को सौंप दी और सारी विधि समझा दी। एक बार एक धनाढ्य गंभीर रोग से पीडित होकर और कृष्णजी की भेरी की महिमा सुनकर द्वारका आया। दुर्भाग्य से उसके द्वारका पहुंचने से एक दिन पूर्व ही भेरीवादन हो चुका था। वह सोच-विचार में पड़ गया—भेरी छह महीने बाद बजेगी और तब तक मेरे प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। सोचते-सोचते अचानक उसे सूझा—'यदि भेरी की ध्वनि सुनने से रोग नष्ट हो सकता है तो उसके एक टुकड़े को घिस कर पीने से भी रोग नष्ट हो सकता है।' आखिर उसने भेरीवादक को रिश्वत देकर एक टुकड़ा प्राप्त कर लिया। उसे घिस कर पीने से वह नीरोग हो गया। मगर भेरी-वादक को रिश्वत लेने का चस्का लग गया। दूसरों को भी वह भेरी काट-काट कर टुकड़े देने लगा। काटे हुए टुकड़ों के स्थान पर वह दूसरे टुकड़े जोड़ देता था। परिणाम यह हुआ कि वह दिव्य भेरी गरीब की गुदड़ी बन गई। उसका रोगशमन का सामर्थ्य भी नष्ट हो गया। बारह योजन तक—सम्पूर्ण द्वारका में उसकी ध्वनि भी सुनाई न देती।

श्रीकृष्ण को जब सारा रहस्य ज्ञात हुआ तो कृष्णजी ने भेरीवादक को दण्डित किया तथा जनहित की दृष्टि से तेला करके पुनः देव से भेरी प्राप्त की और विश्वस्त सेवक को दी। यथाज्ञा छह महीने बाद ही भेरी के बजने से जनता लाभान्वित होने लगी।

इस दृष्टान्त का भावार्थ इस प्रकार है—आर्य क्षेत्र रूप द्वारका नगरी है, तीर्थंकर रूप कृष्ण वासुदेव हैं, पुण्य रूप देव हैं। भेरी तुल्य जिनवाणी है। भेरीवादक के रूप में साधु और कर्म रूप रोग है।

इसी प्रकार जो श्रोता या शिष्य आचार्य द्वारा प्रदत्त सूत्रार्थ को छिपाते हैं या उसे बदलते हैं, मिथ्या प्ररूपणा करते हैं, वे अनन्त संसारी होते हैं। किन्तु जो जिन वचनानुसार आचरण करते

हैं, वे मोक्ष के अनन्त सुखों के अधिकारी होते हैं। जैसे श्रीकृष्ण का विश्वासी सेवक पारितोषिक पाता है और दूसरा निकाला जाता है।

(१४) **अहीर-दम्पती**—एक अहीरदम्पती बैलगाड़ी में घृत के घड़े भरकर शहर में बेचने के लिए घीमण्डी में आया। वह गाड़ी से घड़े उतारने लगा और अहीरनी नीचे खड़ी होकर लेने लगी। दोनों में से किसी की असावधानी के कारण घड़ा हाथ से छूट गया और घी जमीन में मिट्टी से लिप्त हो गया। इस पर दोनों झगड़ने लगे। वाद-विवाद बढ़ता गया। बहुत सारा घी अग्राह्य हो गया, कुछ जानवर चट कर गये। जो कुछ बचा उसे बेचने में काफी विलंब हो गया। अतः सायंकाल वे दुःखी और परेशान होकर घर लौटे। किन्तु मार्ग में चोरों ने लूट लिया, मुश्किल से जान बचा कर घर पहुंचे।

इसके विपरीत दूसरा अहीरदम्पती घृत के घड़े गाड़ी में भरकर शहर में बेचने हेतु आये। असावधानी से घड़ा हाथ से छूट गया, किन्तु दोनों अपनी-अपनी असावधानी स्वीकार कर, गिरे हुए घी को अविलम्ब समेटने लगे। घी बेच कर सूर्यास्त होने से पहले-पहले ही वे सकुशल घर पहुंच गये।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण अयोग्य और योग्य श्रोताओं पर घटित किये गये हैं। एक श्रोता आचार्य के कथन पर क्लेश करके श्रुतज्ञान रूप घृत को खो बैठता है, वह श्रुतज्ञान का अधिकारी नहीं हो सकता। दूसरा, आचार्य द्वारा ज्ञानदान प्राप्त करते समय भूल हो जाने पर अविलम्ब क्षमा-याचना कर लेता है तथा उन्हें संतुष्ट करके पुनः सूत्रार्थ ग्रहण करता है। वही श्रुतज्ञान का अधिकारी कहलाता है।

परिषद् के तीन प्रकार

५२—सा समासओ तिविहा पण्णत्ता, तंजहा—जाणिया, अजाणिया, दुव्वियड्ढा। जाणिया जहा—

खीरमिव जहा हंसा, जे घुट्टंति इह गुरु-गुण-समिद्धा।
दोसे अ विवज्जंति, तं जाणसु जाणियं परिसं॥

५२—वह परिषद् (श्रोताओं का समूह) तीन प्रकार की कही गई है। (१) विज्ञपरिषद् (२) अविज्ञपरिषद् और दुर्विदग्ध परिषद्।

विज्ञ—ज्ञायिका परिषद् का लक्षण इस प्रकार है—

जैसे उत्तम जाति के राजहंस पानी को छोड़कर दूध का पान करते हैं, वैसे ही गुणसम्पन्न श्रोता दोषों को छोड़कर गुणों को ग्रहण करते हैं। हे शिष्य! इसे ही ज्ञायिका परिषद् (समझदारों का समूह) समझना चाहिए।

५३—अजाणिया जहा—

जा होइ पगइमहुरा, मियछावय-सीह-कुक्कुडय-भूआ।
रयणमिव असंठविआ, अजाणिया सा भवे परिसा॥

५३—अज्ञायिका परिषद् का स्वरूप इस प्रकार है—जो श्रोता मृग, शेर और कुक्कुट के अबोध शिशुओं के सदृश स्वभाव से मधुर, भद्रहृदय, भोले-भाले होते हैं, उन्हें जैसी शिक्षा दी जाए वे उसे ग्रहण कर लेते हैं। वे (खान से निकले) रत्न की तरह असंस्कृत होते हैं। रत्नों को चाहे जैसा बनाया जा सकता है। ऐसे ही अनभिज्ञ श्रोताओं में यथेष्ट संस्कार डाले जा सकते हैं। हे शिष्य! ऐसे अबोध जनों के समूह को अज्ञायिका परिषद् जानो।

५४—दुव्विअड्डा जहा

न य कत्थई निम्माओ, न य पुच्छइ परिभवस्स दोसेणं।
वत्थिव्व वायपुण्णो, फुट्टइ गामिल्लय विअड्ढो॥

५४—दुर्विदग्धा परिषद् का लक्षण—जिस प्रकार अल्पज्ञ पंडित ज्ञान में अपूर्ण होता है, किन्तु अपमान के भय से किसी विद्वान् से कुछ पूछता नहीं। फिर भी अपनी प्रशंसा सुनकर मिथ्याभिमान से वस्ति-मशक की तरह फूला हुआ रहता है। इस प्रकार के जो लोग हैं, उनकी सभा को, हे शिष्य! दुर्विदग्धा सभा समझना।

विवेचन—आगम का प्रतिपादन करते समय अनुयोगाचार्य को पहले परिषद् की परीक्षा करनी चाहिए, क्योंकि श्रोता विभिन्न स्वभाव के होते हैं। इसीलिए सभा के तीन भेद किए हैं—

(१) जिस परिषद् में तत्त्वजिज्ञासु, गुणज्ञ, बुद्धिमान्, सम्यग्दृष्टि, विवेकवान्, विनीत, शांत, सुशिक्षित, आस्थावान्, आत्मान्वेषी आदि गुणों से सम्पन्न श्रोता हों वह विज्ञपरिषद् कहलाती है। विज्ञपरिषद् ही सर्वोत्तम परिषद् है।

(२) जो श्रोता पशु-पक्षियों के अबोध बच्चों की भांति सरलहृदय तथा मत-मतान्तरों की कलुषित भावनाओं से रहित होते हैं, उन्हें आसानी से सन्मार्गगामी, संयमी, विद्वान्, एवं सद्गुण-सम्पन्न बनाया जा सकता है, क्योंकि उनमें कुसंस्कार नहीं होते। ऐसे सरलहृदय श्रोताओं की परिषद् को अविज्ञ परिषद् कहते हैं।

(३) जो अभिमानी, अविनीत, दुराग्रही, और वस्तुतः मूढ हों फिर भी अपने आपको पंडित समझते हों, लोगों से अपने पांडित्य की झूठी प्रशंसा सुनकर वायु से पूरित मशक की तरह फूल उठते हों, ऐसे श्रोताओं के समूह को दुर्विदग्धा परिषद् समझना चाहिये।

उपर्युक्त परिषदों में विज्ञपरिषद् अनुयोग के लिए सर्वथा पात्र है। दूसरी भी पात्र है किन्तु तीसरी दुर्विदग्धा परिषद् ज्ञान देने के लिए अयोग्य है।

इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकार ने श्रोताओं की परिषद् का पहले वर्णन किया है।

ज्ञान के पांच प्रकार

१—नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तंजहा—

(१) आभिणिबोहियणनाणं (२) सुयनाणं, (३) ओहिनाणं (४) मण-पज्जवनाणं (५) केवलनाणं

१—ज्ञान पाँच प्रकार का प्रतिपादित किया गया है। जैसे (१) आभिनिवोधिकज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यवज्ञान (५) केवलज्ञान।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान के भेदों का वर्णन किया गया है। यद्यपि भगवत्स्तुति, गणधरावली और स्थविरावलिका के द्वारा मंगलाचरण किया जा चुका है, तदपि नन्दी शास्त्र का आद्य सूत्र मंगलाचरण के रूप में प्रतिपादन किया है।

ज्ञान-नय की दृष्टि से ज्ञान मोक्ष का मुख्य अंग है। ज्ञान और दर्शन आत्मा के निज गुण हैं अर्थात् असाधारण गुण हैं। विशुद्ध दशा में आत्मा परिपूर्ण ज्ञाता द्रष्टा होता है। ज्ञान के पूर्ण विकास को मोक्ष कहते हैं। अतः ज्ञान मंगलरूप होने से इसका यहाँ प्रतिपादन किया गया है।

ज्ञान शब्द का अर्थ—जिसके द्वारा तत्त्व का यथार्थ स्वरूप जाना जाए, जो ज्ञेय को जानता है अथवा जानना ज्ञान कहलाता है। ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति अनुयोगद्वार सूत्र में इस प्रकार की गई है—

"ज्ञातिर्ज्ञानं, कृत्यलुटो बहुलम् (पा. ३।३।११३) इति वचनात् भावसाधनः, ज्ञायते-परिच्छिद्यते वस्त्व-नेनास्मादस्मिन्वेति वा ज्ञानं, जानाति-स्वविषयं परिच्छिनत्तीति वा ज्ञानं, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमक्षयजन्यो जीवस्वतत्त्वभूतो, बोध इत्यर्थः।"

नन्दी सूत्र के वृत्तिकार ने जिज्ञासुओं के सुगम बोध के लिए ज्ञान शब्द का केवल भाव-साधन और कारणसाधन ही स्वीकार किया है, जैसे कि—'ज्ञातिर्ज्ञानं, अथवा 'ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति ज्ञानम्।' इसका तात्पर्य पहले आ चुका है, अर्थात् जानना ज्ञान है अथवा जिसके द्वारा जाना जाए वह ज्ञान है।

सारांश यह है कि आत्मा को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से तत्त्वबोध होता है, वही ज्ञान है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से होने वाला केवलज्ञान क्षायिक है और उसके क्षयोपशम से होने वाले शेष चार क्षायोपशमिक हैं। अतः ज्ञान के कुल पाँच भेद हैं।

'पण्णत्तं के अर्थ—इस पद के संस्कृत में चार रूप होते हैं—(१) प्रज्ञप्तं (२) प्राज्ञाप्तं (३) प्राज्ञात्तं' और (४) प्रज्ञाप्तम्।

(१) प्रज्ञप्तं अर्थात् तीर्थंकर भगवान् ने अर्थ रूप में प्रतिपादन किया और उसे गणधरों ने सूत्र रूप में गूँथा।

(२) प्राज्ञाप्त अर्थात् जिस अर्थ को गणधरों ने प्राज्ञों—सर्वज्ञ तीर्थंकरों—से आप्त-प्राप्त-उपलब्ध किया।

(३) प्राज्ञात्तं—प्राज्ञों-गणधरों द्वारा तीर्थंकरों से ग्रहण किया अर्थ 'प्राज्ञात्तं' कहलाता है।

(४) प्रज्ञाप्तं—प्रज्ञा अर्थात् अपने प्रखर बुद्धिबल से प्राप्त किया अर्थ 'प्रज्ञाप्तं' कहलाता है।

'पण्णत्तं' कहकर सूत्रकार ने बताया है कि यह कथन मैं अपनी बुद्धि या कल्पना से नहीं कर रहा हूँ। तीर्थंकर भगवान् ने जो प्रतिपादन किया, उसी अर्थ को मैं कहता हूँ।

ज्ञान के पाँच भेदों का स्वरूप—(१) आभिनिवोधिक ज्ञान—आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष अर्थात् सामने आये हुए पदार्थों को जान लेने वाले ज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जो ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मन के द्वारा उत्पन्न हो, उसे अभिनिबोधिक ज्ञान या मतिज्ञान कहते हैं।

(२) श्रुतज्ञान:—किसी भी शब्द का श्रवण करने पर वाच्य-वाचकभाव संबंध के आधार से अर्थ की जो उपलब्धि होती है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान भी मन और इन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होता है किन्तु फिर भी इसके उत्पन्न होने में इन्द्रियों की अपेक्षा मन की मुख्यता होती है, अत: इसे मन का विषय माना गया है।

(३) अवधिज्ञान:—यह ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखता हुआ केवल आत्मा के द्वारा ही रूपी-मूर्त पदार्थों का साक्षात् कर लेता है। यह मात्र रूपी द्रव्यों को प्रत्यक्ष करने की क्षमता रखता है, अरूपी को नहीं। यही इसकी अवधि—मर्यादा है। अथवा 'अव' का अर्थ है—नीचे-नीचे, 'धि' का अर्थ जानना है। जो ज्ञान अन्य दिशाओं की अपेक्षा अधोदिशा में अधिक जानता है, वह अवधिज्ञान कहलाता है। दूसरे शब्दों में, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादा को लेकर यह ज्ञान मूर्त्त द्रव्यों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति रखता है।

(४) मन:पर्यवज्ञान—समनस्क, अर्थात् संज्ञी जीवों के मन के पर्यायों को जिस ज्ञान से जाना जाता है उसे मन:पर्यवज्ञान कहते हैं। प्रश्न उठता है—"मन की पर्यायें किसे कहा जाय?" उत्तर है—जब भाव-मन किसी भी वस्तु का चिन्तन करता है तब उस चिन्तनीय वस्तु के अनुसार चिन्तन कार्य में रत द्रव्य-मन भी भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ धारण करता है और वे आकृतियाँ ही यहाँ मन की पर्याय कहलाती हैं।

मन:पर्यवज्ञान मन और उसकी पर्यायों का ज्ञान तो साक्षात् कर लेता है किन्तु चिन्तनीय पदार्थ को वह अनुमान के द्वारा ही जानता है, प्रत्यक्ष नहीं।

(५) केवलज्ञान—'केवल' शब्द के एक, असहाय, विशुद्ध, प्रतिपूर्ण, अनन्त और निरावरण, अर्थ होते हैं। इनकी व्याख्या निम्न प्रकार से की जाती है—

एक—जिस ज्ञान के उत्पन्न होने पर क्षयोपशम-जन्य ज्ञान उसी एक में विलीन हो जाएँ और केवल एक ही शेष वचे, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

असहाय—जो ज्ञान मन, इन्द्रिय, देह, अथवा किसी भी अन्य वैज्ञानिक यन्त्र की सहायता के विना रूपी-अरूपी, मूर्त्त-अमूर्त्त त्रैकालिक सभी ज्ञेयों को हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष करने की क्षमता रखता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

विशुद्ध—चार क्षायोपशमिक ज्ञान शुद्ध हो सकते हैं किन्तु विशुद्ध नहीं। विशुद्ध एक केवलज्ञान ही होता है। क्योंकि वह शुद्ध आत्मा का स्वरूप है।

प्रतिपूर्ण—क्षायोपशमिक ज्ञान किसी पदार्थ की सर्व पर्यायों को नहीं जान सकते किन्तु जो ज्ञान सर्व द्रव्यों की समस्त पर्यायों को जानने वाला होता है उसे प्रतिपूर्ण कहा जा सकता है।

अनन्त—जो ज्ञान अन्य समस्त ज्ञानों से श्रेष्ठतम, अनन्तानन्त पदार्थों को जानने की शक्ति रखने वाला तथा उत्पन्न होने पर फिर कभी नष्ट न होने वाला होता है उसे ही केवलज्ञान कहते हैं।

निरावरण—केवलज्ञान, घाति कर्मों के सम्पूर्ण क्षय से उत्पन्न होता है, अतएव वह निरावरण है।

क्षायोपशमिक ज्ञानों के साथ राग-द्वेष, क्रोध लोभ एवं मोह आदि का अंश विद्यमान रहता है किन्तु केवलज्ञान इन सबसे सर्वथा रहित, पूर्ण विशुद्ध होता है।

उपर्युक्त पाँच प्रकार के ज्ञानों में पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं और अन्तिम तीन प्रत्यक्ष।

श्रुतज्ञान के दो प्रकार हैं :—(१) अर्थश्रुत एवं (२) सूत्रश्रुत। अरिहन्त केवलज्ञानियों के द्वारा अर्थश्रुत प्ररूपित होता है तथा अरिहन्तों के उन्हीं प्रवचनों को गणधर देव सूत्ररूप में गुम्फित करते हैं। तब वह श्रुत सूत्र कहलाने लगता है। कहा भी है :—

"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तेइ।"

अर्थ का प्रतिपादन अरिहन्त करते हैं तथा शासनहित के लिए गणधर उस अर्थ को सूत्ररूप में गूंथते हैं। सूत्रागम में भाव और अर्थ तीर्थंकरों के होते हैं, शब्द गणधरों के।

प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण

२—तं समासओ दुविहं पण्णत्तं,
तं जहा—पच्चक्खं च परोक्खं च ॥

२—ज्ञान पाँच प्रकार का होने पर भी संक्षिप्त में दो प्रकार से वर्णित है, यथा (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष।

विवेचन—अक्ष जीव या आत्मा को कहते हैं। जो ज्ञान आत्मा के प्रति साक्षात् हो अर्थात् सीधा आत्मा से उत्पन्न हो, जिसके लिए इन्द्रियादि किसी माध्यम की अपेक्षा न हो, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

अवधिज्ञान और मनःपर्याय ज्ञान, ये दोनों ज्ञान देश (विकल) प्रत्यक्ष कहलाते हैं। केवलज्ञान सर्वप्रत्यक्ष है, क्योंकि समस्त रूपी-अरूपी पदार्थ उसके विषय हैं। जो ज्ञान इन्द्रिय और मन आदि की सहायता से होता है, वह परोक्ष कहलाता है।

ज्ञानों की क्रमव्यवस्था—पांच ज्ञानों में सर्वप्रथय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का निर्देश किया है। इसका कारण यह है कि ये दोनों ज्ञान सम्यक् या मिथ्या रूप में, न्यूनाधिक मात्रा में समस्त संसारी जीवों को सदैव प्राप्त रहते हैं। सब से अधिक अविकसित निगोदिया जीवों में भी अक्षर का

अनन्तवां भाग ज्ञान प्रकट रहता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों ज्ञानों के होने पर ही शेष ज्ञान होते हैं। अतएव इन दोनों का सर्वप्रथम निर्देश किया गया है।

दोनों में भी पहले मतिज्ञान के उल्लेख का कारण यह है कि श्रुतज्ञान, मतिज्ञानपूर्वक ही होता है।

मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के पश्चात् अवधिज्ञान का निर्देश करने का हेतु यह है कि इन दोनों के साथ अवधिज्ञान की कई बातों में समानता है। यथा—जैसे मिथ्यात्व के उदय से मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान मिथ्यारूप में परिणत होते हैं, वैसे ही अवधिज्ञान भी मिथ्यारूप में परिणत हो जाता है।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी, जब कोई विभंगज्ञानी, सम्यग्दृष्टि होता है तब तीनों ज्ञान एक ही साथ उत्पन्न होते हैं, अर्थात् सम्यक् रूप में परिणत होते हैं।

जैसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की लब्धि की अपेक्षा छयासठ सागरोपम से किंचित् अधिक स्थिति है, अवधिज्ञान की भी इतनी ही स्थिति है। इन समानताओं के कारण मति-श्रुत के अनन्तर अवधिज्ञान का निर्देश किया गया है।

अवधिज्ञान के पश्चात् मनःपर्यवज्ञान का निर्देश इस कारण किया गया है कि दोनों में प्रत्यक्षत्व की समानता है। जैसे अवधिज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, विकल है तथा क्षयोपशमजन्य है, उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञान भी है।

केवलज्ञान सबके अन्त में प्राप्त होता है, अतएव उसका निर्देश अन्त में किया गया है।

प्रत्यक्ष के भेद

३—से किं तं पच्चक्खं ? पच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं,
तं जहा—इंदियपच्चक्खं च णोइंदियपच्चक्खं च।

३—प्रश्न—प्रत्यक्ष ज्ञान क्या है ?

उत्तर—प्रत्यक्षज्ञान के दो भेद हैं, यथा—
(१) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और (२) नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष।

विवेचन—इन्द्रिय आत्मा की वैभाविक परिणति है। इन्द्रिय के भी दो भेद हैं—(१) द्रव्येन्द्रिय (२) भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय के भी दो प्रकार होते हैं :—(१) निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और (२) उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

निर्वृत्ति का अर्थ है—रचना, जो बाह्य और आभ्यंतर के भेद से दो प्रकार की है। बाह्य निर्वृत्ति इन्द्रियों के आकार में पुद्गलों की रचना है तथा आभ्यंतर निर्वृत्ति से इन्द्रियों के आकार में आत्मप्रदेशों का संस्थान। उपकरण का अर्थ है—सहायक या साधन। बाह्य और आभ्यंतर निर्वृत्ति की शक्ति-विशेष को उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। सारांश यह है कि इन्द्रिय की आकृति निर्वृत्ति है तथा उनकी विशिष्ट पौद्गलिक शक्ति को उपकरण कहते हैं। सर्व जीवों की द्रव्येन्द्रियों की बाह्य आकृतियों में भिन्नता पाई जाती है किन्तु आभ्यन्तर निर्वृत्ति-इन्द्रिय सभी जीवों की समान होती है। प्रज्ञापनासूत्र के पन्द्रहवें पद में कहा गया है :—

श्रोत्रेन्द्रिय का संस्थान कदम्ब पुष्प के समान, चक्षुरिन्द्रिय का संस्थान मसूर और चन्द्र के के समान गोल, घ्राणेन्द्रिय का आकार अतिमुक्तक के समान, रसनेन्द्रिय का संस्थान क्षुरप्र (खुरपा) के समान और स्पर्शनेन्द्रिय का संस्थान नाना प्रकार का होता है। अतः आभ्यंतर निर्वृत्ति सबकी समान ही होती है। आभ्यंतर निर्वृत्ति से उपकरणेन्द्रिय की शक्ति विशिष्ट होती है।

भावेन्द्रिय के दो प्रकार हैं—लब्धि और उपयोग। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाले एक प्रकार के आत्मिक परिणाम को लब्धि कहते हैं। तथा शब्द, रूप आदि विषयों का सामान्य एवं विशेष प्रकार से जो बोध होता है, उस बोध-रूप व्यापार को उपयोग-इन्द्रिय कहते हैं। स्मरणीय है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष में द्रव्य और भाव दोनों प्रकार की इन्द्रियों का ग्रहण होता है और एक का भी अभाव होने पर इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

नो-इंदियपच्चक्ख—इस पद में 'नो' शब्द सर्वनिषेधवाची है। नोइन्द्रिय मन का नाम भी है। अतः जो प्रत्यक्ष इन्द्रिय मन तथा आलोक आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखता, जिसका सीधा सम्बन्ध आत्मा से हो उसे नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं।

'से' यह निपात शब्द मगधदेशीय है, जिसका अर्थ 'अथ' होता है।

इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान का कथन लौकिक व्यवहार की अपेक्षा से किया गया है, परमार्थ की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि लोक में यही कहने की प्रथा है—"मैंने आँखों से प्रत्यक्ष देखा है।" इसी को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, जैसे कि—

"यदिन्द्रियाश्रितमपरव्यवधानरहितं ज्ञानमुदयते तल्लोके प्रत्यक्षमिति व्यवहृतम्, अपर-धूमादिलिङ्गनिरपेक्षतया साक्षादिन्द्रियमधिकृत्य प्रवर्तनात्।" इससे भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करती है। वह यह कि प्रश्न किया गया है कि प्रत्यक्ष किसे कहते हैं? किन्तु उत्तर में उसके भेद बतलाए गए हैं। इसका क्या कारण है? उत्तर यह है कि यहाँ प्रत्यक्षज्ञान का स्वरूप बतलाना अभीष्ट है। किसी भी वस्तु का स्वरूप बतलाने की अनेक पद्धतियां होती हैं। कहीं लक्षण द्वारा, कहीं उसके स्वामी, द्वारा कहीं क्षेत्रादि द्वारा, और कहीं भेदों के द्वारा वस्तु का स्वरूप प्रदर्शित किया जाता है। यहाँ और आगे भी अनेक स्थलों पर भेदों द्वारा स्वरूप प्रदर्शित करने की शैली अपनाई गई है। आगम में यह स्वीकृत परिपाटी है। जैसे लक्षण द्वारा वस्तु का स्वरूप समझा जा सकता है, उसी प्रकार भेदों द्वारा भी समझा जा सकता है।

सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष के प्रकार

४—से किं तं इंदिय पच्चक्खं? इंदियपच्चक्खं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा—(१) सोइंदिय-पच्चक्खं, (२) चक्खिदिय पच्चक्खं, (३) घाणिंदियपच्चक्खं, (४) रसनेंदियपच्चक्खं, (५) फासिं-दियपच्चक्खं। से त्तं इंदियपच्चक्खं।

४—प्रश्न—भगवन्! इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान किसे कहते हैं?

उत्तर—इन्द्रियप्रत्यक्ष पाँच प्रकार का है। यथा—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो कान से होता है।

(२) चक्षुरिन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो आँख से होता है।
(३) घ्राणेन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो नाक से होता है।
(४) जिह्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो जिह्वा से होता है।
(५) स्पर्शनेन्द्रिय प्रत्यक्ष—जो त्वचा से होता है।

विवेचन—श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द दो प्रकार का होता है, 'ध्वन्यात्मक' और 'वर्णात्मक'। दोनों से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रकार चक्षु का विषय रूप है। घ्राणेन्द्रिय का गन्ध, रसनेन्द्रिय का रस एवं स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है।

यहाँ एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और नेत्र, इस क्रम को छोड़कर श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय इत्यादि क्रम से इन्द्रियों का निर्देश क्यों किया गया है? इस शंका के उत्तर में बताया गया है कि इसके दो कारण हैं। एक कारण तो पूर्वानुपूर्वी और पश्चादनुपूर्वी दिखलाने के लिए सूत्रकार ने उत्क्रम की पद्धति अपनाई है। दूसरा कारण यह है कि जिस जीव में क्षयोपशम और पुण्य अधिक होता है वह पंचेन्द्रिय बनता है, उससे न्यून हो तो चतुरिन्द्रिय बनता है। इसी क्रम से जब पुण्य और क्षयोपशम सर्वथा न्यून होता है तब जीव एकेन्द्रिय होता है। अभिप्राय यह है कि जब क्षयोपशम और पुण्य को मुख्यता दी जाती है तब उत्क्रम से इन्द्रियों की गणना प्रारम्भ होती है और जब जाति की अपेक्षा से गणना की जाती है तब पहले स्पर्शन, रसन आदि क्रम को सूत्रकार अपनाते हैं। पाँचों इन्द्रियाँ और छठा मन, ये सभी श्रुतज्ञान में निमित्त हैं किन्तु श्रोत्रेन्द्रिय श्रुतज्ञान में मुख्य कारण है। अतः सर्वप्रथम श्रोत्रेन्द्रिय का नाम निर्देश किया गया है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के तीन भेद

५—से किं तं नोइंदियपच्चक्खं?

नोइंदियपच्चक्खं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा-(१) ओहिणाणपच्चक्खं (२) मणपज्जवणाणपच्चक्खं (३) केवलणाणपच्चक्खं।

५—शिष्य के द्वारा प्रश्न किया गया—भगवन्! बिना इन्द्रिय एवं मन आदि बाह्य निमित्त की सहायता के साक्षात् आत्मा से होने वाला नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष क्या है?

उत्तर—नोइन्द्रियज्ञान तीन प्रकार का है। (१) अवधिज्ञान प्रत्यक्ष (२) मनःपर्यवज्ञानप्रत्यक्ष (३) केवलज्ञानप्रत्यक्ष।

६—से किं तं ओहिणाणपच्चक्खं? ओहिणाणपच्चक्खं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भवपच्चतियं च खओवसमियं च।

६—प्रश्न—भगवन्! अवधिज्ञान प्रत्यक्ष क्या है?

उत्तर—अवधिज्ञान के दो भेद हैं—(१) भवप्रत्ययिक (२) क्षायोपशमिक।

७—दोण्हं भवपच्चतियं, तंजहा-देवाणं च णेरतियाणं च।

७—प्रश्न—भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान किन्हें होता है?

उत्तर—भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान देवों एवं नारकों को होता है।

८—दोण्हं खओवसमियं, तं जहा—मणुस्साणं च पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं च। को हेऊ खाओसमियं ?

तयावरणिज्जाणं कम्माणं उदिण्णाणं खएणं, अणुदिण्णाणं उवसमेणं ओहिणाणं समुप्पज्जति।

८—प्रश्न—भगवन् ! क्षायोपशमिक अवधिज्ञान किनको होता है ?

उत्तर—क्षायोपशमिक अवधिज्ञान दो को होता है—मनुष्यों को तथा पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों को होता है।

शिष्य ने पुनः प्रश्न किया—भगवन् ! क्षायोपशमिक अवधिज्ञान की उत्पत्ति का हेतु क्या है ? गुरुदेव नें उत्तर दिया— जो कर्म अवधिज्ञान में रुकावट उत्पन्न करने वाले (अवधिज्ञानावरणीय) हैं, उनमें से उदयगत का क्षय होने से तथा अनुदित कर्मों का उपशम होने से जो उत्पन्न होता है, वह क्षायोपशमिक अवधिज्ञान कहलाता है।

विवेचन—मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना उत्पन्न होने वाले नोइन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान के तीन भेद बताए गए हैं—अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान।

अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक एवं क्षायोपशमिक, इस प्रकार दो तरह का होता है। भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रकट होता है, जिसके लिए संयम, तप अथवा अनुष्ठानादि की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु क्षायोपशमिक अवधिज्ञान इन सभी की सहायता से उत्पन्न होता है।

अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति के जीव होते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों और नारकों को तथा क्षायोपशमिक अवधिज्ञान मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों को होता है। उसे 'गुणप्रत्यय' भी कहते हैं।

शंका की जाती है—अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव में परिगणित है तो फिर नारकों और देवों को भव के कारण से कैसे कहा गया ?

समाधानः—वस्तुतः अवधिज्ञान क्षायोपशमिक भाव में ही है। नारकों और देवों को भी क्षयोपशम से ही अवधिज्ञान होता है, किन्तु उस क्षयोपशम में नारकभव और देवभव प्रधान कारण होता है, अर्थात् इन भवों के निमित्त से नारकों और देवों को अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हो ही जाता है। इस कारण उनका अवधिज्ञान, भवप्रत्यय कहलाता है। यथा—पक्षियों की उड़ान-शक्ति जन्म-सिद्ध है, किन्तु मनुष्य बिना वायुयान, जंघाचरण अथवा विद्याचरण लब्धि के गगन में गति नहीं कर सकता।

अवधिज्ञान के छह भेद

९—अहवा गुणपडिवण्णस्स अणगारस्स ओहिणाणं समुप्पज्जति। तं समासओ छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) आणुगामियं (२) अणाणुगामियं (३) वड्ढमाणयं (४) हायमाणयं (५) पडिवाति (६) अपडिवाति।

९—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूप गुण-सम्पन्न मुनि को जो क्षायोपशमिक अवधिज्ञान समुत्पन्न होता है, वह संक्षेप में छह प्रकार का है। यथा—

(१) आनुगामिक—जो साथ चलता है।
(२) अनानुगामिक—जो साथ नहीं चलता।
(३) वर्द्धमान—जो वृद्धि पाता जाता है।
(४) हीयमान—जो क्षीण होता जाता है।
(५) प्रतिपातिक—जो एकदम लुप्त हो जाता है।
(६) अप्रतिपातिक—जो लुप्त नहीं होता।

विवेचन—मूलगुण और उत्तरगुणों से सम्पन्न अनगार को जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसके छह प्रकार संक्षिप्त में कहे गए हैं—

(१) आनुगामिक—जैसे चलते हुए पुरुष के साथ नेत्र, सूर्य के साथ आतप तथा चन्द्र के साथ चांदनी बनी रहती है, इसी प्रकार आनुगामिक अवधिज्ञान भी जहां कहीं अवधिज्ञानी जाता है, उसके साथ विद्यमान रहता है, साथ-साथ जाता है।

(२) अनानुगामिक—जो साथ न चलता हो किन्तु जिस स्थान पर उत्पन्न हुआ हो उसी स्थान पर स्थित होकर पदार्थों को देख सकता हो, वह अनानुगामिक अवधिज्ञान कहलाता है। जैसे दीपक जहाँ स्थित हो वहीं से वह प्रकाश प्रदान करता है पर किसी भी प्राणी के साथ नहीं चलता। यह ज्ञान क्षेत्ररूप बाह्य निमित्त से उत्पन्न होता है, अतएव ज्ञानी जब अन्यत्र जाता है, तब वह क्षेत्र रूप निमित्त नहीं रहता, इस कारण वह लुप्त हो जाता है।

(३) वर्द्धमानक—जैसे-जैसे अग्नि में ईंधन डाला जाता है वैसे-वैसे वह अधिकाधिक वृद्धिगत होती है तथा उसका प्रकाश भी बढ़ता जाता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों परिणामों में विशुद्धि बढ़ती जाती है त्यों-त्यों अवधिज्ञान भी वृद्धिप्राप्त होता जाता है। इसीलिए इसे वर्द्धमानक अवधिज्ञान कहते हैं।

(४) हीयमानक—जिस प्रकार ईंधन की निरंतर कमी से अग्नि प्रतिक्षण मंद होती जाती है, उसी प्रकार संक्लिष्ट परिणामों के बढ़ते जाने पर अवधिज्ञान भी हीन, हीनतर एवं हीनतम होता चला जाता है।

(५) प्रतिपातिक—जिस प्रकार तेल के न रहने पर दीपक प्रकाश देकर सर्वथा बुझ जाता है, उसी प्रकार प्रतिपातिक अवधिज्ञान भी दीपक के समान ही युगपत् नष्ट हो जाता है।

(६) अप्रतिपातिक—जो अवधिज्ञान, केवलज्ञान उत्पन्न होने से पूर्व नहीं जाता है अर्थात् पतनशील नहीं होता इसे अप्रतिपातिक कहते हैं।

आनुगामिक अवधिज्ञान

१०—से किं तं आणुगामियं ओहिणाणं?

आणुगामियं ओहिणाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंतगयं च मज्झगयं च।

से किं तं अंतगयं? अंतगयं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—पुरओ अंतगयं (२) मग्गओ अंतगयं (३) पासतो अंतगयं।

से किं तं पुरतो अंतगयं ? पुरतो अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा जोइं वा पईवं वा पुरओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे गच्छेज्जा, से त्तं पुरओ अंतगयं।

से किं तं मग्गओ अंतगयं ? से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मग्गओ काउं अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे गच्छिज्जा, से तं मग्गओ अंतगयं।

से किं तं पासओ अंतगयं ? पासओ अन्तगयं—से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पासओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे गच्छिज्जा, से तं पासओ अंतगयं। से त्तं अन्तगयं।

से किं तं मज्झगयं ? से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मत्थए काउं गच्छेज्जा। से त्तं मज्झगयं।

१०—शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन् ! वह आनुगामिक अवधिज्ञान कितने प्रकार का है ?

गुरु ने उत्तर दिया—आनुगामिक अवधिज्ञान दो प्रकार का है। यथा—(१) अन्तगत (२) मध्यगत।

प्रश्न—अन्तगत अवधिज्ञान कौनसा है ?

उत्तर -अन्तगत अवधिज्ञान तीन प्रकार का है—(१) पुरत:अन्तगत—आगे से अन्तगत (२) मार्गत: अन्तगत—पीछे से अन्तगत (३) पार्श्वत: अन्तगत—पार्श्व से अन्तगत।

प्रश्न—आगे से अन्तगत अवधिज्ञान कैसा है।

उत्तर—जैसे कोई व्यक्ति दीपिका, घासफूस की पूलिका अथवा जलते हुए काष्ठ, मणि, प्रदीप या किसी पात्र में प्रज्वलित अग्नि रखकर हाथ अथवा दण्ड से उसे आगे करके क्रमश: आगे चलता है और उक्त पदार्थों द्वारा हुए प्रकाश से मार्ग में स्थित वस्तुओं को देखता जाता है। इसी प्रकार पुरत:अन्तगत अवधिज्ञान भी आगे के प्रदेश में प्रकाश करता हुआ साथ-साथ चलता है।

प्रश्न—मार्गत: अन्तगत अवधिज्ञान किस प्रकार का है ?

उत्तर—जैसे कोई व्यक्ति उल्का, तृणपूलिका, अग्रभग से जलते हुए काष्ठ, मणि, प्रदीप एवं ज्योति को हाथ या किसी दण्ड द्वारा पीछे करके उक्त वस्तुओं के प्रकाश से पीछे-स्थित पदार्थों को देखता हुआ चलता है, उसी प्रकार जो ज्ञान पीछे के प्रदेश को प्रकाशित करता है वह मार्गत: अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है।

प्रश्न—पार्श्व से अन्तगत अवधिज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर—पार्श्वतो अन्तगत अवधिज्ञान इस प्रकार जाना जा सकता है—जैसे कोई पुरुष दीपिका, चटुली, अग्रभाग से जलते हुए काठ को, मणि, प्रदीप या अग्नि को पार्श्वभाग से परिकर्षण करते (खींचते) हुए चलता है, इसी प्रकार यह अवधिज्ञान पार्श्ववर्त्ती पदार्थों का ज्ञान कराता हुआ आत्मा के साथ-साथ चलता है। उसे ही पार्श्वतो अन्तगत अवधिज्ञान कहते हैं। कोई-कोई अवधिज्ञान क्षयोपशम की विचित्रता से एक पार्श्व के पदार्थों को ही प्रकाशित करता है, कोई-कोई दोनों पार्श्व के पदार्थों को।

यह अन्तगत अवधिज्ञान का कथन हुआ। तत्पश्चात् शिष्य ने पुन: प्रश्न किया—भगवन्! मध्यगत अवधिज्ञान कौन सा है?

गुरु ने उत्तर दिया—भद्र! जैसे कोई पुरुष उल्का, तृणों की पूलिका, अग्रभग में प्रज्वलित काठ को, मणि को या प्रदीप को अथवा शरावादि में रखी हुई अग्नि को मस्तक पर रखकर चलता है। वह पुरुष उपर्युक्त प्रकाश के द्वारा सर्व दिशाओं में स्थित पदार्थों को देखते हुए चलता है। इसी प्रकार चारों ओर के पदार्थों का ज्ञान कराते हुए जो ज्ञान ज्ञाता के साथ चलता है उसे मध्यगत अवधिज्ञान कहा गया है।

विवेचन—यहाँ सूत्रकार ने आनुगामिक अवधिज्ञान और उसके भेदों का वर्णन किया है। आत्मा को जिस स्थान एवं भव में अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ हो यदि वह स्थानान्तर होने पर भी तथा दूसरे भव में भी आत्मा के साथ चला जाए तो उसे आनुगामिक अवधिज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—अन्तगत और मध्यगत। यहाँ 'अन्त' शब्द पर्यंत का वाची है। यथा—'वनान्ते' अर्थात् वन के किसी छोर में। इसी प्रकार अन्तवर्त्ती आत्म-प्रदेशों के किसी भाग में विशिष्ट क्षयोपशम होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अन्तगत अवधिज्ञान कहते हैं। कहा है—"अन्तगतम् आत्मप्रदेशानां पर्यन्ते स्थितमन्तगतम्।" जैसे गवाक्ष जाली आदि के द्वार से बाहर आती हुई प्रदीप की प्रभा प्रकाश करती है, वैसे अवधिज्ञान की समुज्ज्वल किरणें स्पर्द्धकरूप छिद्रों से बाह्य जगत् को प्रकाशित करती है। एक जीव के संख्यात तथा असंख्यात स्पर्द्धक होते हैं। उनका स्वरूप विचित्र प्रकार का होता है।

आत्मप्रदेशों के आखिरी भाग में जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है उसके अनेक प्रकार हैं। कोई आगे की दिशा को प्रकाशित करता है, कोई पीछे की, कोई दाईं और कोई बाईं दिशा को। कोई इनसे विलक्षण मध्यगत अवधिज्ञान होता है, जो सभी दिशाओं को प्रकाशित करता है।

अन्तगत और मध्यगत में विशेषता

११—अन्तगयस्स मज्झगयस्स य को पइविसेसो? पुरओ अंतगएणं ओहिनाणेणं पुरओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाणि जाणइ पासइ, मग्गओ अंतगएणं ओहिनाणेणं मग्गओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाणि जाणइ पासइ, पासओ अंतगएणं ओहिणाणेणं पासओ चेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, मज्झगएणं ओहिणाणेणं सव्वओ समंता संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ। से त्तं आणुगामियं ओहिणाणं।

११—शिष्य द्वारा प्रश्न—अन्तगत और मध्यगत अवधिज्ञान में क्या अन्तर है?

उत्तर—पुरत: अवधिज्ञान से ज्ञाता सामने संख्यात अथवा असंख्यात योजनों में स्थित रूपी द्रव्यों को जानता है और सामान्य ग्राहक आत्मा से देखता है।

मार्ग से—पीछे से अन्तगत अवधिज्ञान द्वारा पीछे से संख्यात अथवा असंख्यात योजनों में स्थित द्रव्यों को विशेष रूप से जानता है, तथा सामान्य रूप से देखता है।

पार्श्वत: अन्तगत अवधिज्ञान से पार्श्व (बगल) में स्थित द्रव्यों को संख्यात अथवा असंख्यात योजनों तक विशेष रूप में जानता व सामान्य रूप से देखता है। इस प्रकार आनुगामिक अवधिज्ञान का वर्णन किया गया है।

विवेचन—सूत्रकार ने अन्तगत और मध्यगत अवधिज्ञान में रहे हुए अन्तर को विस्तृत रूप से बताया है। अवधिज्ञान का विषय रूपी पदार्थ है। वह ऊँचे-नीचे तथा तिर्छे—सभी दिशाओं में विशेष व सामान्य रूप से देख व जान सकता है।

मध्यगत अवधिज्ञान देवों, नारकों एवं तीर्थंकरों को निश्चित रूप से होता है, तिर्यंचों को केवल अन्तगत हो सकता है किन्तु मनुष्यों को अन्तगत तथा मध्यगत दोनों ही प्रकार का आनुगामिक अवधिज्ञान हो सकता है। प्रज्ञापनासूत्र के तेतीसवें पद में बताया गया है—नारकी, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों को सर्वत: अवधिज्ञान होता है, पंचेन्द्रिय तियञ्चों को देशत: एवं मनुष्यों को देशत: एवं सर्वत: दोनों प्रकार का अवधिज्ञान हो सकता है।

सूत्र में संख्यात व असंख्यात योजनों का प्रमाण भी बताया गया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अवधिज्ञान के असंख्य भेद हैं।

रत्नप्रभा के नारकों को जघन्य साढ़े तीन कोस और उत्कृष्ट चार कोस, शर्करप्रभा में नारकों को जघन्य तीन और उत्कृष्ट साढ़े तीन कोस, बालुकाप्रभा में नारकों को जघन्य अढाई कोस, उत्कृष्ट तीन कोस, पंक प्रभा में नारकों को जघन्य दो कोस और उत्कृष्ट अढ़ाई कोस, धूमप्रभा में नारकों को जघन्य डेढ़ कोस और उत्कृष्ट दो कोस, तम:प्रभा में जघन्य एक कोस एवं उत्कृष्ट डेढ़ कोस तथा सातवीं तमस्तमा पृथ्वी के नारकियों को जघन्य आधा कोस एवं उत्कृष्ट एक कोस प्रमाण अवधिज्ञान होता है।

असुकुमारों को जघन्य २५ योजन तथा उत्कृष्ट असंख्यात द्वीप-समुद्रों को जानने वाला, नागकुमारों से लेकर स्तनितकुमारों तक और वाणव्यन्तर देवों को जघन्य २५ योजन तथा उत्कृष्ट संख्यात द्वीप-समुद्रों को विषय करने वाला अवधिज्ञान होता है। ज्योतिष्क देवों को जघन्य तथा उत्कृष्ट संख्यात योजन तक जानने वाला अवधिज्ञान होता है। सौधर्मकल्प के देवों का अवधिज्ञान जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र को, उत्कृष्ट रत्नप्रभा के नीचे के चरमान्त को विषय करने वाला अवधिज्ञान होता है। वे तिरछे लोक में असंख्यात द्वीप-समुद्रों को और ऊँची दिशा में अपने कल्प के विमानों की ध्वजा तक जानते-देखते हैं।

अनानुगामिक अवधिज्ञान

१२—से किं तं अणाणुगामियं ओहिणाणं? अणाणुगामियं ओहिणाणं से जहाणामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइट्ठाणं काउं तस्सेव जोइट्ठाणस्स परिपेरंतेहिं परिपेरंतेहिं परिघोलेमाणे परिघोलेमाणे तमेव जोइट्ठाणं पासइ, अण्णत्थगए ण पासइ, एवामेव अणाणुगामियं ओहिणाणं जत्थेव समुप्पज्जइ तत्थेव संखेज्जाणि वा असंखेज्जाणि वा, संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, अण्णत्थगए ण पासइ। से त्तं अणाणुगामियं ओहिणाणं।

१२—प्रश्न—भगवन्! अनानुगामिक अवधिज्ञान किस प्रकार का है?

उत्तर—अनानुगामिक अवधिज्ञान वह है—जैसे कोई भी नाम वाला व्यक्ति एक बहुत बड़ा अग्नि का स्थान बनाकर उसमें अग्नि को प्रज्वलित करके उस अग्नि के चारों ओर सभी दिशा-विदिशाओं में घूमता है तथा उस ज्योति से प्रकाशित क्षेत्र को ही देखता है, अन्यत्र न जानता है और न देखता है। इसी प्रकार अनानुगामिक अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में उत्पन्न होता है, उसी क्षेत्र में स्थित होकर संख्यात एवं असंख्यात योजन तक, स्वावगाढ क्षेत्र से सम्बन्धित तथा असम्बधित द्रव्यों को जानता व देखता है। अन्यत्र जाने पर नहीं देखता। इसी को अनानुगामिक अवधिज्ञान कहते हैं।

विवेचन—अनानुगामिक अवधिज्ञान वह होता है जिसके द्वारा ज्ञानप्राप्त आत्मा जिस भव में या जिस स्थान पर उत्पन्न हुआ हो, उसी क्षेत्र में या उसी भव में रहते हुए संख्यात या असंख्यात योजनों तक रूपी पदार्थो को जान व देख सकता है किन्तु अन्यत्र चले जाने पर जान और देख नहीं सकता। उदाहरणार्थ जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी बड़े ज्योति-स्थान के समीप बैठकर या उसके चारों ओर घूमकर ज्योति के द्वारा प्रकाशित पदार्थों को देख सकता है किन्तु उस स्थान से उठकर अन्यत्र चले जाने पर वहाँ ज्योति न होने से किसी पदार्थ को देख या जान नहीं पाता।

सूत्र में 'संबद्ध' एवं 'असम्बद्ध' शब्द आए हैं। उनका प्रयोजन यह है कि स्वावगाढ़ क्षेत्र से लेकर निरन्तर-लगातार पदार्थ जाने जाते हैं वे सम्बद्ध कहलाते हैं तथा जिन पदार्थों के बीच में अन्तराल होता है वे असम्बद्ध कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम में बहुत विचित्रता होती है, अतएव कोई अनानुगामिक अवधिज्ञान जहाँ तक जानता है वहाँ तक निरन्तर—लगातार जानता है और कोई-कोई बीच में अन्तर करके जानता है। जैसे—कुछ दूर तक जानता है, आगे कुछ दूर तक नहीं जानता और फिर उससे आगे के पदार्थों को जानता है—इस प्रकार बीच-बीच में व्यवधान करके जानता है।

वर्द्धमान अवधिज्ञान

१३—से किं तं वड्ढमाणयं ओहिणाणं ?

वड्ढमाणयं ओहिनाणं पसत्थेसु अज्झवसाणट्ठाणेसु वट्टमाणस्स वट्टमाणचरित्तस्स विसुज्झमाणस्स विसुज्झमाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओही वड्ढइ।

१३—प्रश्न—गुरुदेव! वर्द्धमान अवधिज्ञान किस प्रकार का है?

उत्तर—अध्यवसायस्थानों या विचारों के विशुद्ध एवं प्रशस्त होने पर और चारित्र की वृद्धि होने पर तथा विशुद्धमान चारित्र के द्वारा मल-कलङ्क से रहित होने पर आत्मा का ज्ञान दिशाओं एवं विदिशाओं में चारों ओर बढ़ता है उसे वर्द्धमान अवधिज्ञान कहते हैं।

विवेचन—जिस अवधिज्ञानी के आत्म-परिणाम विशुद्ध से विशुद्धतर होते जाते हैं, उसका अवधिज्ञान भी उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता जाता है। वर्द्धमानक अवधिज्ञान अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत को भी होता है। सूत्रकार ने 'विसुज्झमाणस्स' पद से चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती को तथा 'विक्षुज्झमाणचरित्तस्स' पद से देशविरत और सर्वविरत को इस ज्ञान का वृद्धिगत होना सूचित किया है।

अवधिज्ञान का जघन्य क्षेत्र

१४—जावतिया तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स।
ओगाहणा जहन्ना, ओहीखेत्तं जहन्नं तु।

१४—तीन समय के आहारक सूक्ष्म-निगोद के जीव की जितनी जघन्य अर्थात् कम से कम अवगाहना होती है—(दूसरे शब्दों में शरीर की लम्बाई जितनी कम से कम होती है) उतने परिमाण में जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र है।

विवेचन—आगम में 'पणग' अर्थात् पनक शब्द नीलन-फूलन (निगोद) के लिए आया है। सूत्रकार ने बताया है कि सूक्ष्म पनक जीव का शरीर तीन समय आहार लेने पर जितना क्षेत्र अवगाढ़ करता है उतना जघन्य अवधिज्ञान का क्षेत्र होता है।

निगोद के दो प्रकार होते हैं—(१) सूक्ष्म (२) बादर। प्रस्तुत सूत्र में 'सूक्ष्म निगोद' को ग्रहण किया गया है—'सुहुमस्स पणगजीवस्स'। सूक्ष्म निगोद उसे कहते हैं जहाँ एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। ये जीव चर्म-चक्षुओं से दिखाई नहीं देते, किसी के भी मारने से मर नहीं सकते तथा सूक्ष्म निगोद के एक शरीर में रहते हुए वे अनन्त जीव अन्तर्मुहूर्त से अधिक आयु नहीं पाते। कुछ तो अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाते हैं तथा कुछ पर्याप्त होने पर।

एक आवलिका असंख्यात समय की होती है तथा दो सौ छप्पन आवलिकाओं का एक 'खड्डाग भव' (क्षुल्लक-क्षुद्र भव) होता है। यदि निगोद के जीव अपर्याप्त अवस्था में निरन्तर काल करते रहें तो एक मुहूर्त में वे ६५५३६ वार जन्म-मरण करते हैं। इस अवस्था में उन्हें वहाँ असंख्यातकाल वीत जाता है।

कल्पना करने से जाना जा सकता है कि निगोद के अनन्त जीव पहले समय में ही सूक्ष्म शरीर के योग्य पुद्‌गलों का सर्ववंध करें, दूसरे समय में देशवंध करें, तीसरे समय में शरीरपरिमाण क्षेत्र रोकें, ठीक उतने ही क्षेत्र में स्थित पुद्‌गल जघन्य अवधिज्ञान का विषय हो सकते हैं। पहले और दूसरे समय का वना हुआ शरीर अतिसूक्ष्म होने के कारण अवधिज्ञान का जघन्य विषय नहीं वतलाया गया है तथा चौथे समय में वह शरीर अपेक्षाकृत स्थूल हो जाता है, इसीलिए सूत्रकार ने तीसरे समय के आहारक निगोदीय शरीर का ही उल्लेख किया है।

आत्मा असंख्यात प्रदेशी है। उन प्रदेशों का संकोच एवं विस्तार कार्मणयोग से होता है। ये प्रदेश इतने संकुचित हो जाते हैं कि वे सूक्ष्म निगोदीय जीव के शरीर में रह सकते हैं तथा जव विस्तार को प्राप्त होते हैं तो पूरे लोकाकाश को व्याप्त कर सकते हैं।

जव आत्मा कार्मण शरीर छोड़कर सिद्धत्व को प्राप्त कर लेती है तब उन प्रदेशों में संकोच या विस्तार नहीं होता। क्योंकि कार्मण शरीर के अभाव में कार्मण-योग नहीं हो सकता है। आत्म-प्रदेशों में संकोच तथा विस्तार सशरीरी जीवों में ही होता है। सबसे अधिक सूक्ष्म शरीर 'पनक' जीवों का होता है।

अवधिज्ञान का उत्कृष्ट क्षेत्र

१५—सव्वबहु अगणिजीवा णिरंतरं जत्तियं भरेज्जंसु।
खेत्तं सव्वदिसागं परमोहीखेत्त निद्दिट्ठ॥

१५—समस्त सूक्ष्म, वादर, पर्याप्त और अपर्याप्त अग्निकाय के सर्वाधिक जीव सर्वदिशाओं में निरन्तर जितना क्षेत्र परिपूर्ण करें, उतना ही क्षेत्र परमावधिज्ञान का निर्दिष्ट किया गया है।

विवेचन—उक्त गाथा में सूत्रकार ने अवधिज्ञान के उत्कृष्ट विषय का प्रतिपादन किया है। पाँच स्थवरों में सवसे कम तेजस्काय के जीव हैं, क्योंकि अग्नि के जीव सीमित क्षेत्र में ही पाये जाते हैं। सूक्ष्म सम्पूर्ण लोक में तथा वादर अढाई द्वीप में होते हैं।

तेजस्काय के जीव चार प्रकार के होते हैं। (१) पर्याप्त तथा अपर्याप्त सूक्ष्म तथा (२) पर्याप्त एवं अपर्याप्त बादर। इन चारों में से प्रत्येक में असंख्यातासंख्यात जीव होते हैं। इन जीवों की उत्कृष्ट संख्या तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ के समय में हुई थी। यदि उन जीवों में से प्रत्येक जीव को उसकी अवगाहना के अनुसार आकाशप्रदेशों पर लगातार रखा जाए और उनकी श्रेणी बनाई जाए तो वह श्रेणी इतनी लम्बी होगी कि लोकाकाश से भी आगे अलोकाकाश में पहुंच जाएगी। उस श्रेणी को सब ओर घुमाया जाय तो उसकी परिधि में लोकाकाश जितने अलोकाकाश के असंख्यात खंडों का समावेश हो जायगा। इस प्रकार उन जीवों के द्वारा जितना क्षेत्र भरे उतना क्षेत्र परम-अवधिज्ञान का विषय है।

यद्यपि समस्त अग्निकाय के जीवों की श्रेणी-सूची कभी किसी ने बनाई नहीं है और न उसका बनना संभव ही है। अलोकाकाश में कोई मूर्त्त पदार्थ भी नहीं है जिसे अवधिज्ञानी जाने। किन्तु परमावधिज्ञान का सामर्थ्य प्रदर्शित करने के लिए यह मात्र कल्पना की गई है।

अवधिज्ञान का मध्यम क्षेत्र

१६—अंगुलमावलियाणं भागमसंखेज्ज दोसु संखेज्जा।
अंगुलमावलियंतो आवलिया अंगुलपुहुत्तं॥

१६—क्षेत्र और काल के आश्रित-अवधिज्ञानी यदि क्षेत्र से अंगुल (उत्सेध या प्रामाणांगुल) के असंख्यातवें भाग को जानता है तो काल से भी आवलिका के असंख्यातवें भाग को जानता है। इसी प्रकार यदि क्षेत्र से अंगुल के संख्यातवें भाग को जानता है तो काल से भी आवलिका का संख्यातवाँ भाग जान सकता है। यदि अंगुलप्रमाण क्षेत्र देखे तो काल से आवलिका से कुछ कम देखे और यदि सम्पूर्ण आवलिका प्रमाण काल देखें तो क्षेत्र से अंगुलपृथक्त्व प्रमाण अर्थात् २ से ९ अंगुल पर्यन्त देखे।

१६—हत्थम्मि मुहुत्तंतो दिवसंतो गाउयम्मि बोद्धव्वो।
जोयण दिवसपुहुत्तं पक्खंतो पण्णवीसाओ॥

१७—यदि क्षेत्र से एक हस्तपर्यंत देखे तो काल से एक मुहूर्त से कुछ न्यून देखे और काल से दिन से कुछ कम देखे तो क्षेत्र से एक गव्यूति अर्थात् कोस परिमाण देखता है, ऐसा जानना चाहिए। यदि क्षेत्र से योजन परिमाण अर्थात् चार कोस परिमित देखता है तो काल से दिवस पृथक्त्व-दो से नौ दिन तक देखता है। यदि काल से किञ्चित् न्यून पक्ष देखें तो क्षेत्र से पच्चीस योजन पर्यन्त देखता है अर्थात् जानता है।

१८—भरहम्मि अद्धमासो जंबुद्दीवम्मि साहिओ मासो।
वासं च मणुयलोए वासपुहुत्तं च रुयगम्मि॥

१८—यदि क्षेत्र से सम्पूर्ण भरतक्षेत्र को देखे तो काल से अर्धमास परिमित भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान, तीनों कालों को जाने। यदि क्षेत्र से जम्बूद्वीप पर्यन्त देखता है तो काल से एक मास से भी अधिक देखता है। यदि क्षेत्र से मनुष्यलोक परिमाण क्षेत्र देखे तो काल से एक वर्ष पर्यन्त भूत,

भविष्य एवं वर्तमान काल देखता है। यदि क्षेत्र से रुचक क्षेत्र पर्यन्त देखता है तो काल से पृथक्त्व (दो से लेकर नौ वर्ष तक) भूत और भविष्यत् काल को जानता है।

१९—संखेज्जम्मि उ काले दीव-समुद्दा वि होंति संखेज्जा।
कालम्मि असंखेज्जे दीव-समुद्दा उ भइयव्वा॥

१९—अवधिज्ञानी यदि काल से संख्यात काल को जाने को क्षेत्र से भी संख्यात द्वीप-समुद्र पर्यन्त जानता है और असंख्यात काल जानने पर क्षेत्र से द्वीपों एवं समुद्रों की भजना जाननी चाहिए अर्थात् संख्यात अथवा असंख्यात द्वीप-समुद्र जानता है।

२०—काले चउण्ह वुड्ढी कालो भइयव्वु खेत्तवुड्ढीए।
वुड्ढीए दव्व-पज्जव भइयव्वा खेत्त-काला उ॥

२०—काल की वृद्धि होने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों की अवश्य वृद्धि होती है। क्षेत्र की वृद्धि होने पर काल की भजना है। अर्थात् काल की वृद्धि हो सकती है और नहीं भी हो सकती। द्रव्य और पर्याय की वृद्धि होने पर क्षेत्र और काल भजनीय होते हैं अर्थात् वृद्धि पाते भी हैं और नहीं भी पाते हैं।

२१—सुहुमो य होइ कालो तत्तो सुहुमयरयं हवइ खेत्तं।
अंगुलसेढीमेत्ते ओसप्पिणिओ असंखेज्जा॥
से त्तं वड्ढमाणयं ओहिणाणं।

२१—काल सूक्ष्म होता है किन्तु क्षेत्र उससे भी सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मतर होता है, क्योंकि एक अङ्गुल मात्र श्रेणी रूप क्षेत्र में आकाश के प्रदेश असंख्यात अवसर्पिणियों के समय जितने होते हैं। यह वर्द्धमानक अवधिज्ञान का वर्णन है।

विवेचन—क्षेत्र और काल में कौन किससे सूक्ष्म है? सूत्रकार ने स्वयं ही इसका उत्तर देते हुए कहा है—काल सूक्ष्म है किन्तु वह क्षेत्र की अपेक्षा से स्थूल है। क्षेत्र काल की अपेक्षा से सूक्ष्म है क्योंकि प्रमाणांगुल बाहल्य-विष्कम्भ श्रेणि में आकाश प्रदेश इतने हैं कि यदि उन प्रदेशों का प्रति-समय अपहरण किया जाय तो निर्लेप होने में असंख्यात अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी काल व्यतीत हो जाएँ। क्षेत्र के एक-एक आकाशप्रदेश पर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध अवस्थित हैं। द्रव्य की अपेक्षा भाव सूक्ष्म है, क्योंकि उन स्कन्धों में अनन्त परमाणु रहे हुए हैं और प्रत्येक परमाणु में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की अपेक्षा से अनन्त पर्यायें वर्तमान हैं। काल, क्षेत्र, द्रव्य और भाव ये क्रमशः सूक्ष्मतर हैं।

अवधिज्ञानी रूपी द्रव्यों को ही जान सकता है, अरूपी को विषय नहीं करता। अतएव मूलपाठ में जहाँ क्षेत्र और काल को जानना कहा गया है वहाँ उतने क्षेत्र और काल में अवस्थित रूपी द्रव्य समझना चाहिए, क्योंकि क्षेत्र और काल अरूपी हैं।

परमावधिज्ञान केवलज्ञान होने से अन्तर्मुहूर्त पहले उत्पन्न होता है। उसमें परमाणु को भी विषय करने की शक्ति है। इस प्रकार उत्कृष्ट अवधिज्ञान का विषय वर्णन किया गया है फिर भी

जिज्ञासुओं को समझने में आसानी रहे, इसलिए एक तालिका भी काल और क्षेत्र को समझने के लिए दी जा रही है—

क्षेत्र	काल
१ एक अंगुल का असंख्यातवां भाग देखे।	एक आवलिका का असंख्यातवाँ भाग देखे।
२ अंगुल का संख्यातवां भाग देखे।	आवलिका का संख्यातवां भाग देखे।
३ एक अंगुल	आवलिका से कुछ न्यून।
४ पृथक्त्व अंगुल	एक आवलिका।
५ एक हस्त	एक मुहूर्त से कुछ न्यून।
६ एक कोस	एक दिवस से कुछ न्यून।
७ एक योजन	पृथक्त्व दिवस।
८ पच्चीस योजन	एक पक्ष से कुछ न्यून।
९ भरतक्षेत्र	अर्द्ध मास।
१० जम्बूद्वीप	एक मास से कुछ अधिक।
११ अढ़ाई द्वीप	एक वर्ष।
१२ रुचक द्वीप	पृथक्त्व वर्ष।
१३ संख्यात द्वीप	संख्यात काल।
१४ संख्यात व असंख्यात द्वीप एवं समुद्रों की भजना	पल्योपमादि असंख्यात काल।

हीयमान अवधिज्ञान

२२—से किं तं हीयमाणयं ओहिणाणं ?

हीणमाणयं ओहिणाणं अप्पसत्थेहिं अज्झवसायट्ठाणेहिं वट्टमाणस्स, वट्टमाणचरित्तस्स, संकिलिस्समाणस्स, संकिलिस्समाणचरित्तस्स सव्वओ समंता ओही परिहीयते। से त्तं हीयमाणयं ओहिमाणं।

२२—शिष्य ने प्रश्न किया—भगवन् ! हीयमान अवधिज्ञान किस प्रकार का है ?

आचार्य ने उत्तर दिया—अप्रशस्त-विचारों में वर्तने वाले अविरति सम्यक्दृष्टि जीव तथा अप्रशस्त अध्यवसाय में वर्त्तमान देशविरति और सर्वविरति-चारित्र वाला श्रावक या साधु जब अशुभ विचारों से संक्लेश को प्राप्त होता है तथा उसके चारित्र में संक्लेश होता है तब सब ओर से तथा सब प्रकार से अवधिज्ञान का पूर्व अवस्था से ह्रास होता है। इस प्रकार हानि को प्राप्त होते हुए अवधिज्ञान को हीयमान अवधिज्ञान कहते हैं।

विवेचन—जब साधक के चारित्रमोहनीय कर्मों का उदय होता है तब आत्मा में अशुभ विचार आते हैं। जब सर्वविरत, देशविरत या अविरत-सम्यग्दृष्टि संक्लिष्टपरिणामी हो जाते हैं तब उनको

प्राप्त अवधिज्ञान ह्रास को प्राप्त होने लगता है। सारांश यह है कि अप्रशस्त योग एवं संक्लेश, ये दोनों ही ज्ञान के विरोधी अथवा बाधक हैं।

प्रतिपाति अवधिज्ञान

२३—से कि तं पडिवाति ओहिणाणं?

पडिवाति ओहिणाणं जण्णं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं वा संखेज्जतिभागं वा, वालग्गं वा वालग्गपुहुत्तं वा, लिक्खं वा लिक्खपुहुत्तं वा, जूयं वा जूयपुहुत्तं वा, जवं वा जवपुहुत्तं वा, अंगुलं वा अंगुलपुहुत्तं वा, पायं वा पायपुहुत्तं वा, वियत्थिं वा वियत्थिपुहुत्तं वा, रयणिं वा रयणिपुहुत्तं वा, कुच्छिं वा कुच्छिपुहुत्तं वा, धणुयं वा धणुयपुहुत्तं वा, गाउयं वा गाउयपुहुत्तं वा, जोयणं वा जोयणपुहुत्तं वा, जोयणसयं वा जोयणसयपुहुत्तं वा, जोयणसहस्सं वा जोयणसहस्सपुहुत्तं वा, जोयणसतसहस्सं वा जोयणसतसहस्सपुहुत्तं वा, जोयणकोडिं वा जोयणकोडिपुहुत्तं वा, जोयणकोडाकोडिं वा जोयण-कोडाकोडिपुहुत्तं वा उक्कोसेण लोगं वा पासित्ता णं पडिवएज्जा। से त्तं पडिवातिओहिणाणं।

२३—प्रश्न—प्रतिपाति अवधिज्ञान का क्या स्वरूप है?

उत्तर—प्रतिपाति अवधिज्ञान, जघन्य रूप से अंगुल के असंख्यातवें भाग को अथवा संख्यातवें भाग को, इसी प्रकार बालाग्र या बालाग्रपृथक्त्व, लीख या लीख पृथक्त्व, यूका—जूँ या यूकापृथक्त्व, यव—जौ या यवपृथक्त्व, अंगुल या अंगुलपृथक्त्व, पाद या पादपृथक्त्व, अथवा वितस्ति (विलात) या वितस्तिपृथक्त्व, रत्नि-हाथ परिमाण या रत्निपृथक्त्व, कुक्षि—दो :हस्तपरिमाण या कुक्षिपृथक्त्व, धनुष-चार हाथ परिमाण या धनुषपृथक्त्व, कोस—क्रोश या कोसपृथक्त्व, योजन या योजनपृथक्त्व, योजनशत (सौ योजन) या योजनशत पृथक्त्व, योजन-सहस्र—एक हजार योजन या सहस्रपृथक्त्व, लाख योजन अथवा लाखयोजनपृथक्त्व,योजनकोटि—एक करोड़ योजन या योजन कोटि-पृथक्त्व, योजन कोटिकोटि या योजन कोटाकोटिपृथक्त्व, संख्यात योजन या संख्यातपृथक्त्व योजन, असंख्यात या असंख्यातपृथक्त्व योजन अथवा उत्कृष्ट रूप से सम्पूर्ण लोक को देखकर जो ज्ञान नष्ट हो जाता है उसे प्रातिपाति अवधिज्ञान कहा गया है।

विवेचन—प्रतिपाति का अर्थ है गिरने बाला अथवा पतित होने वाला। पतन तीन प्रकार से होता है। (१) सम्यक्त्व से (२) चारित्र से (३) उत्पन्न हुए विशिष्ट ज्ञान से। प्रातिपाति अवधिज्ञान जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग को और उत्कृष्ट सम्पूर्ण लोक तक को विषय करके पतन को प्राप्त हो जाता है। शेष मध्यम प्रतिपाति के अनेक प्रकार हैं।

जैसे तेल एवं वर्तिका के होते हुए भी वायु के झोंके से दीपक एकदम बुझ जाता है इसी प्रकार प्रतिपाति अवधिज्ञान का ह्रास धीरे-धीरे नहीं होता अपितु वह किसी भी क्षण एकदम लुप्त हो जाता है।

अप्रतिपाति अवधिज्ञान

२५—से कि तं अपडिवाति ओहिणाणं?

अपडिवाति ओहिणाणं जेणं अलोगस्स एगमवि आगासपदेसं पासेज्जा तेण परं अपडिवाति ओहिणाणं। से त्तं अपडिवाति ओहिणाणं।

२४—प्रश्न—अप्रतिपाति अवधिज्ञान किस प्रकार का है ?

उत्तर—जिस ज्ञान से ज्ञाता अलोक के एक भी आकाश-प्रदेश को जानता है—देखता है, वह अप्रतिपाति अर्थात् न गिरनेवाला अवधिज्ञान कहलाता है। यह अप्रतिपाति अवधिज्ञान का स्वरूप है।

विवेचन—जैसे कोई महापराक्रमी पुरुष अपने समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके निष्कंटक राज्य करता है, ठीक इसी प्रकार अप्रतिपाति अवधिज्ञानी केवलज्ञानरूप राज्य-श्री को अवश्य प्राप्त करके त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ बन जाता है। यह ज्ञान बारहवें गुणस्थान के अन्त तक स्थायी रहता है, क्योंकि तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार अवधिज्ञान के छह भेदों का वर्णन समाप्त हुआ।

द्रव्यादि क्रम से अवधिज्ञान का निरूपण

२५—तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ।

तत्थ दव्वओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अणंताणि रूविदव्वाइं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ।

खेत्तओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जाइं अलोए लोयमेत्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ।

कालओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं जाणइ पासइ, उक्कोसेणं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ अवसप्पिणीओ अतीतं च अणागत च कालं जाणइ पासइ।

भावओ णं ओहिणाणी जहण्णेणं अणंते भावे जाणइ पासइ, उक्कोसेण वि अणंते भावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणमणंतभागं जाणइ पासइ।

२५—अवधिज्ञान संक्षिप्त में चार प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। यथा—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से।

(१) द्रव्य से—अवधिज्ञानी जघन्यतः—कम से कम अनन्त रूपी द्रव्यों को जानता और देखता है। उत्कृष्ट रूप से समस्त रूपी द्रव्यों को जानता-देखता है।

(२) क्षेत्र से—अवधिज्ञानी जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भागमात्र क्षेत्र को जानता-देखता है। उत्कृष्ट अलोक में लोकपरिमित असंख्यात खण्डों को जानता-देखता है।

(३) काल से—अवधिज्ञानी जघन्य—एक आवलिका के असंख्यातवें भाग काल को जानता-देखता है। उत्कृष्ट—अतीत और अनागत—असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी परिमाण काल को जानता व देखता है।

(४) भाव से—अवधिज्ञानी जघन्यतः अनन्त भावों को जानता-देखता है और उत्कृष्ट भी अनन्त भावों को जानता-देखता है। किन्तु सर्व भावों के अनन्तवें भाग को ही जानता-देखता है।

विवेचन—भाव से जघन्य और उत्कृष्ट रूप से अनन्त भावों—पर्यायों को जानना कहा गया है किन्तु उत्कृष्ट पद में जघन्य की अपेक्षा अनन्तगुणी पर्यायों का जानना समझना चाहिए। अवधि-

ज्ञानी पुद्गल की अनन्त पर्यायों को जानता व देखता है, किन्तु सर्वपर्यायों को नहीं। वह सर्व द्रव्यों को जानता व देखता है पर सर्वपर्याय उसका विषय नहीं है।

अवधिज्ञानविषयक उपसंहार

२६—ओहीभवपच्चतिओ, गुणपच्चतिओ य वण्णिओ एसो।
तस्स य बहू वियप्पा, दव्वे खेत्ते य काले य॥

से त्तं ओहिणाणं।

२६—यह अवधिज्ञान भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक दो प्रकार से कहा गया है। और उसके भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप से बहुत-से विकल्प (भेद-प्रभेद) होते हैं।

विवेचन—पूर्वोक्त गाथाओं में अवधिज्ञान के भेदों के विषय में तथा उनमें से भी प्रत्येक के विकल्पों का निर्देश किया गया है।

गाथा में आए हुए 'य' शब्द से भाव अर्थात् पर्याय ग्रहण करना चाहिये।

अबाह्य-बाह्य अवधिज्ञान

२७—नेरइय-देव-तित्थंकरा य, ओहिस्सऽबाहिरा हुंति।
पासंति सव्वओ खलु सेसा देसेण पासंति॥

से त्तं ओहिणाणपच्चक्खं।

२७—नारक, देव एवं तीर्थंकर अवधिज्ञान से युक्त (अबाह्य) ही होते हैं और वे सब दिशाओं तथा विदिशाओं में देखते हैं। शेष अर्थात् इनके सिवाय मनुष्य एवं तिर्यंच ही देश से देखते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष अवधिज्ञान का वर्णन सम्पूर्ण हुआ।

विवेचन—गाथा में बताया गया है कि नैरयिक, देव और तीर्थंकर, इनको निश्चय ही अवधिज्ञान होता है। दूसरी विशेषता इनमें यह है कि इन तीनों को जो अवधिज्ञान होता है, वह सर्व दिशाओं और विदिशाओं विषयक होता है। शेष मनुष्य व तिर्यंच ही देश से प्रत्यक्ष करते हैं। तात्पर्य यह है कि नारक, देव और तीर्थंकर अवधिज्ञान से बाहर नहीं होते, इसके दो अर्थ होते हैं। प्रथम यह कि इन्हें अवश्य ही जन्मसिद्ध अवधिज्ञान होता है। दूसरा अर्थ यह कि ये अपने अवधिज्ञान द्वारा प्रकाशित क्षेत्र के भीतर ही रहते हैं, क्योंकि इनका अवधिज्ञान सभी दिशा-विदिशाओं को प्रकाशित करता है। शेष मनुष्यों और तिर्यंचों के लिए यह नियम नहीं है। शेष मनुष्य और तिर्यंच अवधिज्ञान से कोई अबाह्य होते हैं और कोई बाह्य भी होते हैं, अर्थात् उन्हें दोनों प्रकार का ज्ञान हो सकता है।

देव और नारकी आजीवन अवधिज्ञान से अबाह्य रहते हैं, किन्तु तीर्थंकर छद्मस्थकाल तक ही अवधिज्ञान से अबाह्य होते हैं। तीर्थंकर बनने वाली आत्मा यदि देवलोक से या लोकान्तिक देवलोकों में से च्यवकर आई है तो वह विपुल अवधिज्ञान लेकर आती है और यदि वह पहले, दूसरे एवं तीसरे नरक से आती है तो अवधिज्ञान उतना ही रहता है जितना तत्रस्थ नारकी

में होता है, किन्तु वह अवधिज्ञान अप्रतिपाति होता है। इस प्रकार अवधिज्ञान का निरूपण सम्पन्न हुआ।

मनःपर्यव ज्ञान

२८—से किं तं मणपज्जवनाणं ? मणपज्जवणाणे णं भंते ! किं मणुस्साणं उपपज्जइ अमणुस्साणं ?

गोयमा ! मणुस्साणं, णो अमणुस्साणं।

२८—प्रश्न—भंते ! मनःपर्यवज्ञान का स्वरूप क्या है ? यह ज्ञान मनुष्यों को उत्पन्न होता है या अमनुष्यों को ? (देव नारक और तिर्यंचों का ?)।

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम ! मनःपर्यवज्ञान मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है, अमनुष्यों को नहीं।

विवेचन—सूत्रकार अवधिज्ञान के पश्चात् अब मनःपर्यवज्ञान का अधिकारी कौन हो सकता है, इसका विवेचन प्रश्न और उत्तर के रूप में करते हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि जिन नहीं किंतु जिन-सदृश गणधरों में प्रमुख गौतम स्वामी को यह शंका कैसे हो सकती है कि मनःपर्यवज्ञान किसको होता है ?

उत्तर यह है कि प्रश्न कई कारणों से किये जाते हैं। यथा—जिज्ञासा का समाधान करने के लिए, विवाद करने के लिए, किसी ज्ञानी की परीक्षा करने के लिए अथवा अपनी विद्वत्ता सिद्ध करने के लिए भी। किन्तु गौतम स्वामी के लिए इनमें से कोई भी कारण संभाव्य नहीं हो सकता था। वे चार ज्ञान के धारक, पूर्ण निरभिमान एवं विनीत थे। अतः उनके प्रश्न पूछने के निम्न कारण हो सकते हैं। जैसे—अपने अवगत विषय को स्पष्ट करने के लिये, अन्य लोगों की शंका के निवारण हेतु, उपस्थित अनेक शिष्यों के संशय के निवारणार्थ, लोगों को ज्ञान हो तथा उनकी अभिरुचि संयम-साधना एवं तप में बढ़े। यह दृष्टिकोण ही गौतम स्वामी के प्रश्न पूछने में संभव है।

इससे यह भी परिलक्षित होता है कि आत्मज्ञानी गुरु के सान्निध्य का लाभ लेते हुए निकटस्थ शिष्य को अति विनम्रता से ज्ञानार्जन करते रहना चाहिए।

२९—जइ मणुस्साणं, किं सम्मुच्छिम-मणुस्साणं गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ?
गोयमा ! नो संमुच्छिम-मणुस्साणं, गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं उपपज्जइ।

२९—यदि मनुष्यों को उत्पन्न होता है तो क्या संमूर्छिम मनुष्यों को या गर्भव्युत्क्रान्तिक (गर्भज) मनुष्यों को उत्पन्न होता है ?

उत्तर—गौतम ! संमूर्छिम मनुष्यों को नहीं, गर्भव्युत्क्रान्तिक मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है।

१. **विवेचन**—भगवान् ने गौतम स्वामी को बताया कि मनःपर्यवज्ञान गर्भज मनुष्यों को ही होता है। गर्भज वे होते हैं जो माता पिता के संयोग से उत्पन्न हों। संमूर्छिम मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होता। संमूर्छिम वे कहलाते हैं जो निम्नलिखित चौदह स्थानों में उत्पन्न हों, यथा—गर्भज मनुष्यों के मल, मूत्र, श्लेष्म, नाक का मैल, वमन, पित्त, रक्त-राध, वीर्य, शोणित में तथा आर्द्र हुए

शुष्क शुक्रपुद्गलों में, स्त्री-पुरुष के संयोग में, शव में, नगर तथा गांव की गंदी नालियों में तथा अन्य सभी अशुचि स्थानों में संमूर्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। संमूर्छिमों की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र की ही होती है। वे मनरहित, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, सभी प्रकार से अपर्याप्त होते हैं। उनकी आयु सिर्फ अन्तर्मुहूर्त्त की होती है, अतः चारित्र का अभाव होने से इन्हें मनःपर्यवज्ञान नहीं होता।

३०—जइ गब्भवक्कंतियमणुस्साणं किं कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, अकम्मभूमगगब्भववक्कंतियमणुस्साणं, अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं? गोयमा! कम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो अकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं णो अंतरदीवगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं।

३०-यदि गर्भज मनुष्यों को मनःपर्यवज्ञान होता है तो क्या कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, अकर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है अथवा अन्तरद्वीपज गर्भज मनुष्यों को होता है?

उत्तर—गौतम! कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ही मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है, अकर्मभूमिज गर्भज और अंतरद्वीपज गर्भज मनुष्यों को नहीं होता।

विवेचन—जहां असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, कला, शिल्प, राजनीति एवं चार तीर्थों की प्रवृत्ति हो वह कर्मभूमि कहलाती है। ३० अकर्मभूमि और ५६ अंतरद्वीप अकर्मभूमि या भोगभूमि कहलाते हैं। अकर्मभूमिज मानवों का जीवनयापन कल्पवृक्षों पर निर्भर होता है। इनका विस्तृत वर्णन जीवाभिगम सूत्र में किया गया है।

३१—जइ कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय मणुमस्साणं किं संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुमस्साणं असंखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय मणुस्साणं?

गोयमा! संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, णो असंखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं।

३१—प्रश्न—यदि कर्मभूमिज मनुष्यों को मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है तो क्या संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है अथवा असंख्यात वर्ष की आयु प्राप्त कर्मभूमिज मनुष्यों को होता है?

उत्तर—गौतम! संख्यात वर्ष की आयु वाले गर्भज मनुष्यों को ही उत्पन्न होता है, असंख्यात वर्ष की आयुष्य प्राप्त कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को नहीं होता।

विवेचन—गर्भज मनुष्य संख्यात एवं असंख्यात वर्ष की आयु वाले, अर्थात् दो प्रकार के होते हैं। संख्यात वर्ष की आयु से यहाँ तात्पर्य है, जिसकी आयु कम से कम ९ वर्ष की और उत्कृष्ट करोड़ पूर्व की हो। इससे अधिक आयु वाला असंख्यात वर्ष की आयु प्राप्त कहलाता है तथा मनःपर्यवज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

३२—जइ संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं पज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं।

अपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ?

गोयमा ! पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो अपज्जत्तग-संखेज्ज-वासाउयकम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं।

३२—यदि संख्यातवर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है तो क्या पर्याप्त संख्यातवर्ष की आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को या असंख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है ?

उत्तर—गौतम ! पर्याप्त संख्यात वर्ष की वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, अपर्याप्त को नहीं।

विवेचन—पर्याप्त एवं अपर्याप्त—संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज, गर्भज मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, (१) पर्याप्त (२) अपर्याप्त।

पर्याप्त—कर्मप्रकृति के उदय से मनुष्य स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करे वह पर्याप्त कहलाता है।

अपर्याप्त—कर्म के उदय से स्वयोग्य पर्याप्तियों को जो पूर्ण न कर सके उसे अपर्याप्त कहते हैं।

जीव की शक्ति-विशेष की पूर्णता पर्याप्ति कहलाती है। पर्याप्तियाँ छः हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) आहार-पर्याप्ति—जिस शक्ति से जीव आहार के योग्य बाह्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें वर्ण, रस आदि रूप में बदलता है उसकी पूर्णता को आहारपर्याप्ति कहते हैं।

(२) शरीरपर्याप्ति—जिस शक्ति द्वारा रस, रूप में परिणत आहार को अस्थि, मांस, मज्जा, एवं शुक्र-शोणित आदि में परिणत किया जाता है उसकी पूर्णता को शरीरपर्याप्ति कहते हैं।

(३) इन्द्रियपर्याप्ति—इन्द्रियों के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके अनाभोगनिर्वर्तित योग-शक्ति द्वारा उन्हें इन्द्रिय रूप में परिणत करने की शक्ति की पूर्णता को इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं।

(४) श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति—उच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को जिस शक्ति के द्वारा ग्रहण करके छोड़ा जाता है, उसकी पूर्ति को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं।

(५) भाषापर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा आत्मा भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा के रूप में परिणत करता और छोड़ता है उसकी पूर्णता को भाषापर्याप्ति कहते हैं।

(६) मनःपर्याप्ति—जिस शक्ति के द्वारा मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके, उन्हें मन के रूप में परिणत करता है उसकी पूर्णता को मनःपर्याप्ति कहते हैं। मनःपुद्गलों के अवलम्बन से ही जीव मनन-संकल्प-विकल्प करता है।

आहारपर्याप्ति एक ही समय में पूर्ण हो जाती है। एकेन्द्रिय में प्रथम की चार पर्याप्तियाँ होती हैं। विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय में पाँच पर्याप्तियाँ पाई जाती हैं, मन नहीं। संज्ञी मनुष्य में छः पर्याप्तियाँ होती हैं। ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि जिस जीव में जितनी पर्याप्तियाँ पाई जाती हैं, वे सब हों तो उसे पर्याप्त कहते हैं। जब तक उनमें से न्यून हों तब तक वह अपर्याप्त कहा

जाता है। प्रथम आहार पर्याप्ति को छोड़कर शेष पर्याप्तियों की समाप्ति अन्तर्मुहूर्त्त में होती है। जो पर्याप्त होते हैं वे ही मनुष्य मनःपर्यवज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं।

३३—जइ पज्जत्तगसंखेज्जवासाउयकम्मभूमगगब्भवक्कंतियमणुस्साणं, किं सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, मिच्छदिट्ठिपज्जत्तगसंखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, सम्मामिच्छदिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ?

गोयमा ! सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, णो मिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, णो सम्मामिच्छद्दिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं।

३३—यदि मनःपर्यवज्ञान पर्याप्त, संख्यात वर्ष की आयु वाले, कर्मभूमिज, गर्भज, मनुष्यों को होता है तो क्या वह सम्यक्दृष्टि, पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज-गर्भज मनुष्यों को होता है, मिथ्यादृष्टि पर्याप्त, संख्यात वर्ष की आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है अथवा मिश्रदृष्टि पर्याप्त संख्येय वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है ?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है। मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को नहीं होता।

विवेचन—सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि के लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) सम्यक्दृष्टि—सम्यक्दृष्टि उसे कहते हैं जो आत्मा के, सत्य के तथा जिनप्ररूपित तत्त्व के सम्मुख हो। संक्षेप में, जिसको तत्त्वों पर सम्यक् श्रद्धा हो।

(२) मिथ्यादृष्टि—मिथ्यादृष्टि वह कहलाता है जिसकी जिन-प्ररूपित तत्त्वों पर श्रद्धा न हो और जो आत्मबोध एवं सत्य से विमुख हो।

(३) मिश्रदृष्टि—मिश्रदर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जिसकी दृष्टि किसी पदार्थ का यथार्थ निर्णय अथवा निषेध करने में सक्षम न हो, जो सत्य को न ग्रहण कर सकता हो, न त्याग कर सकता हो, और जो मोक्ष के उपाय एवं बंध के हेतुओं को समान मानता हो तथा जीवादि पदार्थों पर न श्रद्धा रखता हो और न ही अश्रद्धा करता हो, ऐसी मिश्रित श्रद्धा वाला जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है। यथा—कोई व्यक्ति रंग की एकरूपता देखकर सोने व पीतल में भेद न कर पाता हो।

३४—जइ सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं, किं संजय-सम्म-दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग- गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, असंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जावासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, संजया-संजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय- मणुस्साणं ?

गोयमा ! संजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्ज-वासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं,

णो असंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूगम-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, णो संजया-संजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कतिय-मणुस्साणं।

३४—प्रश्न—यदि सम्यग्दृष्टि पर्याप्त, संख्यावर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, तो क्या संयत—संयमी सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, अथवा असंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है या संयतासंयत—देशविरत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्म-भूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है ?

उत्तर—गौतम ! संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है। असंयत और संयतासंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को नहीं होता।

विवेचन—इन प्रश्नोत्तरों में संयत, असंयत और संयतासंयत जीवों के विषय में उल्लेख किया गया है। इनके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

संयत—जो सर्वविरत हैं तथा चारित्रमोहनीय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशम से जिन्हें सर्व-विरति चारित्र की प्राप्ति हो गई है, वे संयत कहलाते हैं।

असंयत—जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हों, जिनके अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से—देशविरति न हो उन्हें अविरत या असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

संयतासंयत—संयतासंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य श्रावक होते हैं। श्रावकों को हिंसा आदि पांच आश्रवों का अंश रूप से त्याग होता है, सम्पूर्ण रूप से नहीं।

संयतादि को क्रमशः विरत, अविरत और विरताविरत तथा पच्चक्खाणी, अपच्चक्खाणी एवं पच्चक्खाणापच्चखाणी भी कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि संयत या सर्वविरत मनुष्यों को ही मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो सकता है, असंयत और संयतासंयत सम्यक्दृष्टि मनुष्य इस ज्ञान के पात्र नहीं हैं।

३५—जइ संजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जावासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं किं पमत्तसंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्ज वासाउयकम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, किं अप्पमत्त-संजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं ?

गोयमा ! अप्पमत्तसंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय - कम्मभूमग - गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, णो पमत्तसंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं।

३५—प्रश्न—यदि संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को उत्पन्न होता है तो क्या प्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है या अप्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यातवर्ष-आयुष्क कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को ?

उत्तर—गौतम ! अप्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्तक संख्यातवर्ष की आयुवाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है, प्रमत्त को नहीं।

विवेचन—इस सूत्र में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि—भगवन् ! अगर संयत को ही मन:-पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है तो संयत भी प्रमत्त एवं अप्रमत्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इनमें से कौन इस ज्ञान का अधिकारी है ? भगवान् ने उत्तर दिया—अप्रमत्त संयत ही इस ज्ञान का अधिकारी है।

अप्रमत्तसंयत—जो सातवें आदि गुणस्थानों में पहुंचा हुआ हो, जो निद्रा आदि प्रमादों से अतीत हो चुका हो, जिसके परिणाम संयम में वृद्धिगत हो रहे हों ऐसे मुनि को अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

प्रमत्तसंयत—जो संज्वलन कषाय, निद्रा, विकथा आदि प्रमाद में प्रवर्तते हैं उन्हें प्रमत्तसंयत कहते हैं। ऐसे मुनि मन:पर्यवज्ञान के अधिकारी नहीं होते।

३६—जइ अप्पमत्तसंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्ज-वासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, कि इड्ढिपत्त-अप्पमत्तसंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, अणिड्ढिपत्त-अप्पमत्तसंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणस्साणं ?

गोयमा ! इड्ढिपत्त-अप्पमत्तसंजय-सम्मद्दिट्ठिपज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतिय-मणुस्साणं, णो अणिड्ढिप्पत्त-अप्पमत्तसंजय-सम्मद्दिट्ठि-पज्जत्तग-संखेज्जवासाउय-कम्मभूमग-गब्भवक्कंतियमणुस्साणं मणपज्जवणाणं-समुप्पज्जइ।

३६—प्रश्न—यदि अप्रमत्तसंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले, कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को मन:पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है तो क्या ऋद्धिप्राप्त—लब्धिधारी अप्रमत्तसंयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्षायु-कर्मभूमिज-गर्भज मनुष्यों को होता है अथवा लब्धिरहित अप्रमत्त संयत सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को होता है ?

उत्तर—गौतम ! ऋद्धिप्राप्त अप्रमादी सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात की वर्ष आयु वाले कर्मभूमिज गर्भज मनुष्यों को मन:पर्यवज्ञान की प्राप्ति होती है। ऋद्धिरहित अप्रमादी सम्यग्दृष्टि पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयुवाले कर्मभूमि में पैदा हुए गर्भज मनुष्यों को मन:पर्यवज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

विवेचन—ऋद्धिप्राप्त—जो अप्रमत्त आत्मार्थी मुनि अतिशायिनी बुद्धि से सम्पन्न हों तथा अवधिज्ञान, पूर्वगतज्ञान, आहारकलब्धि, वैक्रियलब्धि, तेजोलेश्या, विद्याचारण, जंघाचारण आदि अनेक लब्धियों में से किन्हीं लब्धियों से युक्त हों, उन्हें ऋद्धिप्राप्त कहते हैं। कुछ लब्धियाँ औदयिक भाव में, कुछ क्षायोपशमिक भाव में और कुछ क्षायिक भाव में होती हैं। ऐसी विशिष्ट लब्धियां संयम एवं तप रूपी कष्टसाध्य साधना से प्राप्त होती हैं। विशिष्ट लब्धि प्राप्त एवं ऋद्धि-सम्पन्न मुनि को ही मन:पर्यवज्ञान उत्पन्न होता है।

अनृद्धिप्राप्त—अप्रमत्त होने पर भी जिन संयतों को कोई विशिष्ट लब्धियाँ प्राप्त नहीं होतीं उन्हें अनृद्धिप्राप्त अप्रमत्त संयत कहते हैं। ये मन:पर्यवज्ञान के अधिकारी नहीं होते।

मनःपर्याय ज्ञान के भेद

३७—तं च दुविहं उप्पज्जइ, तंजहा-उज्जुमती य विउलमती य।

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।

तत्थ दव्वओ णं उज्जुमती अणंते अणंतपदेसिए खंधे जाणइ पासइ, ते चेव विउलमती अब्भहियतराए, विउलतराए, विसुद्धतराए, वितिमिरतराए जाणइ पासइ।

खित्तओ णं—उज्जुमई जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइ भागं, उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उवरिमहेट्ठिल्ले खुड्डगपयरे, उड्ढं जाव जोइसस्स उवरिमतले, तिरियं जाव अंतोमणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु, पन्नरससु कम्मभूमिसु, तीसाए अकम्मभूमिसु, छप्पन्नाए अंतरदीवगेसु सन्निपंचिंदियाणं पज्जत्तयाणं मणोगए भावे जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अड्ढाइज्जेहिं-मंगुलेहिं अब्भहियतरं, विउलतरागं विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं खेत्तं जाणइ पासइ।

कालओ णं उज्जुमई जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं उक्कोसएणवि पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं अतीयमणागयं वा कालं जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई अब्भहियतरागं विसुद्धतरागं, वितिमिरतरागं जाणइ पासइ।

भावओ णं—उज्जुमई अणंते भावे जाणइ पासइ, सव्वभावाणं अणंतभागं जाणइ पासइ, तं चेव विउलमई विसुद्धतरागं वितिमिरतरागं जाणइ पासइ।

३७—मनःपर्यवज्ञान दो प्रकार से उत्पन्न होता है। यथा—(१) ऋजुमति (२) विपुलमति।

दो प्रकार का होता हुआ भी यह विषय-विभाग की अपेक्षा चार प्रकार से है। यथा (१) द्रव्य से (२) क्षेत्र से (३) काल से (४) भाव से।

(१) द्रव्य से—ऋजुमति अनन्त अनन्तप्रदेशिक स्कन्धों को विशेष तथा सामान्य रूप से जानता व देखता है, और विपुलमति उन्हीं स्कन्धों को कुछ अधिक विपुल, विशुद्ध और निर्मल रूप से जानता व देखता है।

(२) क्षेत्र से—ऋजुमति जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र क्षेत्र को तथा उत्कर्ष से नीचे, इस रत्नप्रभा पृथ्वी के उपरितन-अधस्तन क्षुल्लक प्रतर को और ऊँचे ज्योतिषचक्र के उपरितल पर्यंत और तिरछे लोक में मनुष्य क्षेत्र के अन्दर अढाई द्वीप समुद्र पर्यंत, पन्द्रह कर्मभूमियों, तीस अकर्म-भूमियों और छप्पन अन्तरद्वीपों में वर्तमान संज्ञिपंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के मनोगत भावों को जानता व देखता है। और उन्हीं भावों को विपुलमति अढ़ाई अंगुल अधिक विपुल, विशुद्ध और निर्मलतर तिमिररहित क्षेत्र को जानता व देखता है।

(३) काल से—ऋजुमति जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग को और उत्कृष्ट भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग भूत और भविष्यत् काल को जानता व देखता है। उसी काल को विपुलमति उससे कुछ अधिक, विपुल, विशुद्ध और वितिमिर अर्थात् सुस्पष्ट जानता व देखता है।

(४) भाव से—ऋजुमति अनन्त भावों को जानता व देखता है, परन्तु सब भावों के अनन्तवें भाग को ही जानता व देखता है। उन्हीं भावों को विपुलमति कुछ अधिक, विपुल, विशुद्ध और निर्मल रूप से जानता व देखता है।

विवेचन—मन:पर्यवज्ञान के दो भेद—(१) ऋजुमति—जो अपने विषय का सामान्य रूप से प्रत्यक्ष करता है।

(२) विपुलमति—वह कहलाता है जो अपने विषय को विशेष रूप से प्रत्यक्ष करता है।

अब मन:पर्यवज्ञान के विषय का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

(१) द्रव्यत:—मन:पर्यवज्ञानी मनोवर्गणा के मनरूप में परिणत अनन्त प्रदेशी स्कन्धों की पर्यायों को स्पष्ट रूप से देखता व जानता है।

जैनागम में कहीं भी मन:पर्याय दर्शन का विधान नहीं है, फिर भी मूल पाठ में 'जाणइ' के साथ 'पासइ' अर्थात् देखता है, ऐसा कहा जाता है। इसका तात्पर्य क्या है? इस संबंध में अनेक आचार्यों ने अनेक अभिमत व्यक्त किए हैं। किन्हीं का कथन है कि मन:पर्यायज्ञानी अवधिदर्शन से देखता है, किन्तु यह समाधान संगत नहीं है, क्योंकि किसी-किसी मन:पर्यायज्ञानी को अवधिदर्शन-अवधिज्ञान होते ही नहीं हैं। किसी का मन्तव्य है कि मन:पर्यवज्ञान ईहाज्ञानपूर्वक होता है। कोई उसे अचक्षुदर्शनपूर्वक मानते हैं तो कोई प्रज्ञापना सूत्र में प्रतिपादित पश्यत्तापूर्वक स्वीकार करते हैं। विशेषावश्यक भाष्य में इस विषय की विस्तारपूर्वक मीमांसा की गई है। जिज्ञासु जन उसका अवलोकन करें। प्रस्तुत में टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है कि मन:पर्यायज्ञान मनरूप परिणत पुद्गलस्कन्धों को प्रत्यक्ष जानता है और मन द्वारा चिन्तित बाह्य पदार्थों को अनुमान से जानता है। भाष्यकार और चूर्णिकार का भी यही अभिमत है। इसी अपेक्षा से 'पासइ' शब्द का प्रयोग किया गया है। दूसरा समाधान टीकाकार ने यह किया है कि ज्ञान एक होने पर भी क्षयोपशम की विचित्रता के कारण उसका उपयोग अनेकविध हो सकता है। अतएव विशिष्टतर मनोद्रव्यों के पर्यायों को जानने की अपेक्षा 'जाणइ' कहा है, और सामान्य मनोद्रव्यों को जानने की अपेक्षा 'पासइ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(२) क्षेत्रत:—लोक के मध्यभाग में अवस्थित आठ रुचक प्रदेशों से छह दिशाएँ और चार विदिशाएं प्रवृत्त होती हैं। मानुषोत्तर पर्वत, जो कुण्डलाकार हैं उसके अन्तर्गत अढ़ाई द्वीप और दो समुद्र हैं। उसे समयक्षेत्र भी कहते हैं। इसकी लम्बाई-चौड़ाई ४५ लाख योजन की है। मन:पर्यवज्ञानी समयक्षेत्र में रहने वाले समनस्क जीवों के मन की पर्यायों को जानता व देखता है तथा विमला दिशा में सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्रादि में रहने वाले देवों के तथा भद्रशाल वन में रहने वाले संज्ञी जीवों के मन की पर्यायों को भी प्रत्यक्ष करता है। वह नीचे पुष्कलावती विजय के अन्तर्गत ग्राम नगरों में रहने वाले संज्ञी मनुष्यों और तिर्यंचों के मनोगत भावों को भी भलीभांति जानता है। मन की पर्याय ही मन:पर्याय ज्ञान का विषय है।

(३) कालत:—मन:पर्यवज्ञानी केवल वर्तमान को ही नहीं अपितु अतीतकाल में पल्योपम के असंख्यातवें काल पर्यत तथा इतना ही भविष्यत्काल को अर्थात् मन की जिन पर्यायों को हुए पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग हो गया है और जो मन की भविष्यकाल में पर्यायें होंगी, जिनकी अवधि पल्योपम के असंख्यातवें भाग की है, उतने भूत और भविष्य-काल को वर्तमान काल की तरह भली-भांति जानता व देखता है।

(४) भावत:—मन:पर्यवज्ञान का जितना क्षेत्र बताया जा चुका है, उसके अन्तर्गत जो समनस्क जीव हैं वे संख्यात ही हो सकते हैं, असंख्यात नहीं। जबकि समनस्क जीव चारों गतियों में असंख्यात हैं, उन सबके मन की पर्यायों को नहीं जानता। मन का प्रत्यक्ष अवधिज्ञानी भी कर सकता है किन्तु मन की पर्यायों को मन:पर्यायज्ञानी सूक्ष्मतापूर्वक, अधिक विशुद्ध रूप से प्रत्यक्ष जानता व देखता है।

यहाँ एक शंका होती है कि अवधिज्ञान का विषय रूपी है और मन:पर्यायज्ञान का विषय भी तो रूपी है फिर अवधिज्ञानी मन:पर्यवज्ञानी की तरह मन को तथा मन की पर्यायों को क्यों नहीं जानता ?

शंका का समाधान यह है कि अवधिज्ञानी मन को व उसकी पर्यायों को भी प्रत्यक्ष कर सकता है किन्तु उसमें झलकते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। जैसे टेलीग्राम की टिक-टिक कोई भी कानों से सुन सकता है किन्तु उसके पीछे क्या आशय है, इसे टेलीग्राम पर काम करने वाले व्यक्ति ही जान पाते हैं।

एक दूसरी शंका और भी उत्पन्न होती है कि ज्ञान अरूपी और अमूर्त है जबकि मन:पर्यवज्ञान का विषय रूपी है, ऐसी स्थिति में वह मनोगत भावों को कैसे जान सकता है और कैसे प्रत्यक्ष कर सकता है ?

इसका समाधान यह है कि क्षायोपशमिक भाव में जो ज्ञान होता है वह एकान्त रूप से अरूपी नहीं होता कथंचित् रूपी भी होता है। निश्चय रूप से अरूपी ज्ञान क्षायिक भाव में ही होता है। जैसे औदयिक भाव में जीव कथंचित् रूपी होता है, वैसे ही क्षायोपशमिक ज्ञान भी कथंचित् रूपी होता है, सर्वथा अरूपी नहीं।

एक उदाहरण से इस बात को समझा जा सकता है। जैसे—विद्वान् व्यक्ति भाषा को सुनकर कहने वाले के भावों को भी समझ लेता है उसी प्रकार विभिन्न निमित्तों से भाव समझे जा सकते हैं, क्योंकि क्षायोपशमिक भाव सर्वथा अरूपी नहीं होता।

ऋजुमति और विपुलमति में अन्तर

ऋजुमति और विपुलमति में अंतर एक उदाहरण से समझना चाहिए। जैसे दो छात्रों ने एक ही विषय की परीक्षा दी हो और उत्तीर्ण भी हो गये हों। किन्तु एक ने सर्वाधिक अंक प्राप्त कर प्रथम श्रेणी प्राप्त की और दूसरे ने द्वितीय श्रेणी। स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी प्राप्त करने वाले का ज्ञान कुछ अधिक रहा और दूसरे का उससे कुछ कम।

ठीक इसी तरह ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति ज्ञान अधिकतर, विपुलतर एवं विशुद्धतर होता है। ऋजुमति तो प्रतिपाति भी हो सकता है अर्थात् उत्पन्न होकर नष्ट हो सकता है, किन्तु विपुलमति नहीं गिरता। विपुलमति मन:पर्यवज्ञानी उसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करता है।

अवधिज्ञान और मन:पर्यवज्ञान में अन्तर

(१) अवधिज्ञान की अपेक्षा मन:पर्यवज्ञान अधिक विशुद्ध होता है।

(२) अवधिज्ञान का विषयक्षेत्र सभी रूपी पदार्थ हैं, जबकि मन:पर्यवज्ञान का विषय केवल पर्याप्त संज्ञी जीवों के मानसिक पर्याय ही हैं।

(३) अवधिज्ञान के स्वामी चारों गतियों में पाए जाते हैं, किन्तु मन:पर्याय के अधिकारी लब्धिसंपन्न संयत ही हो सकते हैं।

(४) अवधिज्ञान का विषय कुछ पर्याय सहित रूपी द्रव्य है, जबकि मन:पर्यवज्ञान का विषय उसकी अपेक्षा अनन्तवाँ भाग है।

(५) अवधिज्ञान मिथ्यात्व के उदय से विभङ्गज्ञान के रूप में परिणत हो सकता है, जबकि मन:पर्यवज्ञान के होते हुए मिथ्यात्व का उदय होता ही नहीं। अर्थात् इस ज्ञान का विपक्षी कोई अज्ञान नहीं है।

(६) अवधिज्ञान आगामी भव में भी साथ जा सकता है जबकि मन:पर्यवज्ञान इस भव तक ही रहता है, जैसे संयम और तप।

मन:पर्यवज्ञान का उपसंहार

३८—मणपज्जवनाणं पुण, जणमण-परिचिंतियत्थपागडणं।
माणुसखित्तनिबद्धं, गुणपच्चइअं चरित्तवओ॥

से त्तं मणपज्जवनाणं।

३८—मन:पर्यवज्ञान मनुष्य क्षेत्र में रहे हुए प्राणियों के मन द्वारा परिचिन्तित अर्थ को प्रगट करनेवाला है। क्षान्ति, संयम आदि गुण इस ज्ञान की उत्पत्ति के कारण हैं और यह चारित्रसम्पन्न अप्रमत्तसंयत को ही होता है।

विवेचन—उक्त गाथा में 'जन' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसकी व्युत्पत्ति है—"जायते इति जन:"। इसके अनुसार जन का अर्थ केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु समनस्क भी है। मनुष्यलोक दो समुद्र और अढाई द्वीप तक ही सीमित है। उस मर्यादित क्षेत्र में जो मनुष्य, तिर्यंच, संज्ञी पंचेन्द्रिय तथा देव रहते हैं उनके मन के पर्यायों को मन:पर्यवज्ञानी, जान सकते हैं।

यहाँ 'गुणपच्चइयं' तथा 'चरित्तवओ' ये दो पद महत्त्वपूर्ण हैं। अवधिज्ञान जैसे भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक, इस तरह दो प्रकार का है, वैसे मन:पर्याय नहीं। वह केवल गुणप्रत्ययिक ही है। अवधिज्ञान तो अविरत, श्रावक और प्रमत्तसंयत को भी हो जाता है किन्तु मन:पर्याय ज्ञान केवल चारित्रवान् साधक को ही होता।

केवलज्ञान

३९—से किं तं केवलनाणं? केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—भवत्थकेवलनाणं च सिद्ध-केवलनाणं च।

से किं तं भवत्थकेवलनाणं? भवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—सजोगि-भवत्थकेवल-नाणं च अजोगिभवत्थ-केवलनाणं च।

से किं तं सजोगिभवत्थ-केवलणाणं? सजोगिभवत्थकेवलणाणं दुविहं पण्णत्तं तंजहा—पढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलणाणं च, अपढमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलणाणं च। अहवा चरमसमय-

सजोगिभवत्थ-केवलणाणं च, अचरमसमय-सजोगिभवत्थ-केवलणाणं च। से त्तं सजोगिभवत्थ-केवलणाण।

से किं तं अजोगिभवत्थ-केवलणाणं? अजोगिभवत्थ-केवलणाणं दुविहं पण्णत्तं तं जहा—पढमसमय-अजोगिभवत्थ-केवलणाणं च, अपढमसमय-अजोगिभवत्थ-केवलणाणं च। अहवा चरम-समय-अजोगिभवत्थकेवलणाणं, अचरमसमय-अजोगिभवत्थकेवलणाणं च। से त्तं भवत्थ-केवलणाणं।

३९—गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! केवलज्ञान का स्वरूप क्या है?

उत्तर—गौतम! केवलज्ञान दो प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—(१) भवस्थ-केवलज्ञान और (२) सिद्ध-केवलज्ञान।

प्रश्न—भवस्थ-केवलज्ञान कितने प्रकार का है?

उत्तर—भवस्थ-केवलज्ञान दो प्रकार का है। यथा—(१) सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान एवं (२) अयोगिभवस्थ केवलज्ञान।

प्रश्न—भगवन्! सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कितने प्रकार का है?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान भी दो प्रकार का है, यथा-प्रथमसमय-सयोगिभवस्थ केवलज्ञान अर्थात् जिसे उत्पन्न हुए प्रथम ही समय हो और दूसरा अप्रथम-समय-सयोगिभवस्थ केवलज्ञान—जिस ज्ञान को पैदा हुए एक से अधिक समय हो गये हों।

इसे अन्य दो प्रकार से भी बताया है। यथा (१) चरमसमय-सयोगिभवस्थ केवलज्ञान-सयोगि अवस्था में जिसका अन्तिम एक समय शेष रह गया है, ऐसे भवस्थकेवली का ज्ञान (२) अचरम समय-सयोगिभवस्थ केवलज्ञान—सयोगि-अवस्था में जिसके अनेक समय शेष रहते हैं उसका केवलज्ञान। इस प्रकार यह सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान का वर्णन है।

प्रश्न—अयोगिभवस्थ केवलज्ञान कितने प्रकार का है?

उत्तर—अयोगिभवस्थ केवलज्ञान दो प्रकार का है। यथा—

(१) प्रथमसमय-अयोगिभवस्थ केवलज्ञान
(२) अप्रथमसमय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान

अथवा (१) चरमसमय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान
(२) अचरमसमय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान

इस प्रकार अयोगिभवस्थ केवलज्ञान का वर्णन पूरा हुआ। यही भवस्थ-केवलज्ञान है।

विवेचन—यहाँ सकल प्रत्यक्ष का स्वरूप बताया गया है। अरिहन्त और सिद्ध भगवान् में केवलज्ञान समान होने पर भी स्वामी के भेद से उसके दो भेद किये हैं—(१) भवस्थकेवलज्ञान और (२) सिद्धकेवलज्ञान।

जो ज्ञान ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घातिकर्मों के क्षय होने से उत्पन्न होता है, वह आवरण से सर्वथा रहित एवं पूर्ण होता है। जिस प्रकार रवि-मण्डल में

प्रकाश ही प्रकाश होता है अंधकार का लेश भी नहीं होता, इसी प्रकार केवलज्ञान पूर्ण प्रकाश-पुंज होता है। उत्पन्न होने के बाद फिर कभी वह नष्ट नहीं होता। यह ज्ञान सादि अनंत है तथा सदा एक सरीखा रहने वाला है।

केवलज्ञान मनुष्य भव में ही उत्पन्न होता है, अन्य किसी भव में नहीं। उसकी अवस्थिति सदेह और विदेह दोनों अवस्थाओं में पाई जाती है। इसीलिए सूत्रकार ने भवस्थ एवं सिद्ध केवलज्ञान दो प्रकार का बताया है। मनुष्य शरीर में अवस्थित तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती प्रभु के केवलज्ञान को भवस्थ केवलज्ञान कहते हैं तथा देहरहित मुक्तात्मा को सिद्ध कहते हैं। उनके ज्ञान को सिद्धकेवल-कहा है। इस विषय में वृत्तिकार ने कहा है—

"तत्रेह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्योऽन्यत्र केवलोत्पादाभावात्, भवे तिष्ठन्ति इति भवस्थाः।"

भवस्थ केवलज्ञान भी दो प्रकार का बताया गया है। सयोगिभवस्थ केवलज्ञान और अयोगि-भवस्थ केवलज्ञान। वीर्यात्मा अर्थात् आत्मिक शक्ति से आत्मप्रदेशों में स्पन्दन होने से मन, वचन और काय में जो व्यापार होता है उसी को योग कहते हैं। वह योग पहले गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। चौदहवें गुणस्थान में योगनिरुन्धन होने पर जीव अयोगी कहलाता है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के चौदह स्थान या श्रेणियाँ हैं, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। बारहवें गुणस्थान में वीतरागता उत्पन्न हो जाती है किन्तु केवलज्ञान नहीं हो पाता। केवलज्ञान तो तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश के पहले समय में ही उत्पन्न होता है। इसलिये उसे प्रथम समय का सयोगिभवस्थ केवलज्ञान कहते हैं। किन्तु जिसे तेरहवें गुणस्थान में रहते हुए एक से अधिक समय हो जाते हैं, उसे अप्रथम-समय का सयोगिभवस्थ केवलज्ञान होता है। अथवा जो तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर पहुँच गया है, उसे चरम समय सयोगिभवस्थ केवलज्ञान तथा जो तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में नहीं पहुंचा उसके ज्ञान को अचरम समय सयोगिभवस्थ केवलज्ञान कहा जाता है।

अयोगिभवस्थ केवलज्ञान के भी दो भेद हैं:—जिस केवलज्ञान-प्राप्त आत्मा को चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश किये हुए पहला समय ही हुआ है, उसके ज्ञान को प्रथम समय अयोगिभवस्थ-केवल ज्ञान कहते हैं। और जिसे प्रवेश किये अनेक समय हो गये हैं, उसके ज्ञान को अप्रथम समय-अयोगि-भवस्थ-केवलज्ञान कहते हैं। अथवा जिसे सिद्ध होने में एक समय ही शेष रहा है उसके ज्ञान को चरमसमय-अयोगिभवस्थ केवलज्ञान तथा जिसे सिद्ध होने में एक से अधिक समय शेष है, ऐसे चौदहवें गुणस्थान के स्वामी के केवलज्ञान को अचरम-समय-अयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कहते हैं।

चौदहवें गुणस्थान की स्थिति, अ, इ, उ, ऋ, और ऌ इन पाँच अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, मात्र इतनी ही है। इसे शैलेशी अवस्था भी कहते हैं।

सिद्ध वे कहलाते हैं जो आठ कर्मों से सर्वथा विमुक्त हो गए हैं। वे संख्या में अनन्त हैं किन्तु स्वरूप सबका सदृश है। उनका केवलज्ञान, सिद्ध केवलज्ञान कहलाता है।

सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

"षिधु संराद्धौ, सिध्यति स्म इति सिद्धः, यो येन गुणेन परिनिष्ठितो, न पुनः साधनीयः स सिद्ध उच्यते, यथा सिद्ध ओदनः स च कर्मसिद्धादिभेदादनेकविधः, अथवा सितं-बद्धं ध्मातं भस्मी-कृतमष्टप्रकारं कर्म येन स सिद्धः,·········सकलकर्मविनिर्मुक्तो मुक्तावस्थामुपगत इत्यर्थः।"

अर्थात् जिन आत्माओं ने आठों कर्मों को नष्ट कर दिया है और उनसे मुक्त हो गए हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं। यद्यपि सिद्ध अनेक प्रकार के हो सकते हैं, यथा—कर्मसिद्ध, शिल्पसिद्ध, विद्यासिद्ध, मंत्रसिद्ध, योगसिद्ध, आगमसिद्ध, अर्थसिद्ध, यात्रासिद्ध, तपःसिद्ध, कर्मक्षयसिद्ध आदि, किन्तु यहाँ कर्मक्षयसिद्ध का ही अधिकार है।

कर्मक्षयजन्य गुण कभी लुप्त नहीं होते। वे आत्मा की तरह अविनाशी, सहभावी अरूपी और अमूर्त होते हैं। अतः सिद्धों में इनका होना और सदैव रहना अनिवार्य है।

सिद्ध केवलज्ञान

४०—से किं तं सिद्धकेवलनाणं ?

सिद्धकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं तं जहा—अणंतरसिद्ध-केवलनाणं च, परंपरसिद्ध केवलनाणं च।

४०—प्रश्न—सिद्ध केवलज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर—वह दो प्रकार का है, यथा—(१) अनंतरसिद्ध केवलज्ञान और (२) परंपरसिद्ध केवलज्ञान।

विवेचन—जैन दर्शन के अनुसार तैजस और कार्मण शरीर से आत्मा का सर्वथा मुक्त या पृथक् हो जाना ही मोक्ष है। प्रस्तुत सूत्र में सिद्धकेवलज्ञान के दो भेद किये गये हैं—

(१) अनंतरसिद्ध केवलज्ञान—जिन्हें सिद्ध हुए एक समय ही हुआ हो उन्हें अनंतर सिद्ध कहते हैं। उनका ज्ञान अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान है।

(२) परम्परसिद्ध-केवलज्ञान—जिन्हें सिद्ध हुए एक से अधिक समय हो गये हों उन परम्पर-सिद्ध केवलज्ञानियों का केवलज्ञान।

वृत्तिकार ने निम्न आठ द्वारों के आधार पर सिद्ध स्वरूप का वर्णन किया है। वे हैं—

(१) सत्पदप्ररूपणा (२) द्रव्यप्रमाणद्वार (३) क्षेत्रद्वार (४) स्पर्शनाद्वार (५) काल-द्वार (६) अन्तरद्वार (७) भावद्वार (८) अल्पबहुत्वद्वार।

इन आठों द्वारों पर भी पन्द्रह-पन्द्रह उपद्वार घटाए गये हैं। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) क्षेत्र (२) काल (३) गति (४) वेद (५) तीर्थ (६) लिङ्ग (७) चारित्र (८) बुद्ध (९) ज्ञान (१०) अवगाहना (११) उत्कृष्ट (१२) अन्तर (१३) अनुसमय (१४) संख्या (१५) अल्पबहुत्व।

(१) सत्पदप्ररूपणा

(१) क्षेत्रद्वार—अढ़ाईद्वीप के अन्तर्गत पन्द्रह कर्मभूमि से सिद्ध होते हैं। संहरण की अपेक्षा दो समुद्र, अकर्मभूमि, अन्तरद्वीप, ऊर्ध्वदिशा में पण्डुकवन तथा अधोदिशा में अधोगामिनी विजय से भी सिद्ध होते हैं।

(२) कालद्वार—अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के उतरते समय ३ वर्ष साढ़े आठ मास शेष रहने पर, सम्पूर्ण चौथे आरे तथा पाँचवें आरे में ६४ वर्ष तक सिद्ध होते हैं। उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे में और चौथे आरे में कुछ काल तक सिद्ध हो सकते हैं।

(३) गतिद्वार—प्रथम चार नरकों से, पृथ्वी-पानी और वादर वनस्पति से, संज्ञी तिर्यंच-पंचेन्द्रिय, मनुष्य, भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—चारों जाति के देवों से निकले हुए जीव मनुष्यगति प्राप्त कर सिद्ध हो सकते हैं।

(४) वेदद्वार—वर्तमानकाल की अपेक्षा अपगत-वेदी (वेदरहित) ही सिद्ध होते हैं, पहले चाहे उन्होंने (स्त्री वेद, पुरुष वेद या नपुंसक वेद) तीनों वेदों का अनुभव किया हो।

(५) तीर्थद्वार—तीर्थंकर के शासनकाल में ही अधिक सिद्ध होते हैं। वहुत कम जीव अतीर्थ में सिद्ध होते हैं।

(६) लिङ्गद्वार—द्रव्य से स्वलिङ्गी, अन्यलिङ्गी और गृहिलिङ्गी सिद्ध होते हैं। भाव से स्वलिङ्गी ही सिद्ध होते हैं।

(७) चारित्रद्वार—चारित्र पाँच होते हैं। इनके आधार पर कोई सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथा-ख्यात चारित्र से, कोई सामायिक, छेदोपस्थानीय, सूक्ष्मसंपराय एवं यथाख्यात चारित्र से तथा कोई पाँचों से ही सिद्ध होते हैं। यथाख्यातचारित्र के अभाव में कोई आत्मा सिद्ध नहीं हो सकती, वह सिद्धि का साक्षात् कारण है।

(८) बुद्धद्वार—प्रत्येकवुद्ध, स्वयंवुद्ध और बुद्धवोधित—इन तीनों अवस्थाओं से सिद्ध होते हैं।

(९) ज्ञानद्वार—साक्षात् रूप से केवलज्ञान से ही सिद्ध होते हैं, किन्तु पूर्वावस्था की अपेक्षा से मति, श्रुत और केवलज्ञान से, कोई मति, श्रुत, अवधि और केवलज्ञान से कोई मति, श्रुत, मन:पर्यव और केवलज्ञान से तथा कोई मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान से सिद्ध होते हैं।

(१०) अवगाहनाद्वार—जघन्य दो हाथ, मध्यम सात हाथ और उत्कृष्ट ५०० धनुष की अवगाहना वाले सिद्ध होते हैं।

(११) उत्कृष्टद्वार—कोई सम्यक्त्व प्राप्त होने के वाद प्रतिपाती होकर देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल व्यतीत होने पर सिद्ध होते हैं। कोई अनन्तकाल के वाद सिद्ध होते हैं—तथा कोई असंख्यात और कोई संख्यातकाल के पश्चात् सिद्ध होते हैं।

(१२) अन्तरद्वार—सिद्ध होने का अन्तरकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह मास है। छह मास के पश्चात् कोई न कोई जीव सिद्ध होता ही है।

(१३) अनुसमयद्वार—जघन्य दो समय तक और उत्कृष्ट आठ समय तक लगातार सिद्ध होते रहते हैं। आठ समय के पश्चात् अन्तर पड़ जाता है।

(१४) संख्याद्वार—जघन्य एक समय में एक और उत्कृष्ट एक सौ आठ सिद्ध होते हैं। इससे अधिक सिद्ध एक समय में नहीं होते।

(१५) अल्पबहुत्वद्वार—एक समय में दो, तीन आदि सिद्ध होने वाले स्वल्प जीव हैं। एक-एक सिद्ध होने वाले उनसे संख्यात गुणा अधिक हैं।

(२) द्रव्यद्वार

(१) क्षेत्रद्वार—ऊर्ध्वदिशा में एक समय में चार सिद्ध होते हैं। जैसे—निषधपर्वत, नन्दनवन और मेरु आदि के शिखर से चार, नदी नालों से तीन, समुद्र में दो, पण्डकवन में दो, तीस अकर्मभूमि क्षेत्रों में से प्रत्येक में दस-दस, ये सब संहरण की अपेक्षा से हैं। प्रत्येक विजय में जघन्य २०, उत्कृष्ट १०८। पन्द्रह कर्मभूमि क्षेत्रों में एक समय में उत्कृष्ट १०८ सिद्ध हो सकते हैं, अधिक नहीं।

(२) कालद्वार—अवसर्पिणी काल के तीसरे और चौथे आरे में एक समय में उत्कृष्ट १०८ तथा पाँचवें आरे में २० सिद्ध हो सकते हैं, अधिक नहीं। उत्सर्पिणी काल के तीसरे और चौथे आरे में भी ऐसा ही समझना चाहिए। शेष सात आरों में संहरण की अपेक्षा एक समय में दस-दस सिद्ध हो सकते हैं।

(३) गतिद्वार—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, और वालुकाप्रभा, इन नरकभूमियों से निकले हुए एक समय में दस, पंकप्रभा से निकले हुए चार, सामान्य रूप से तिर्यंच से निकले हुए दस, विशेष रूप से पृथ्वीकाय और अप्काय से चार-चार और वनस्पतिकाय से आए छह सिद्ध हो सकते हैं।

विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञो तिर्यक्पंचेन्द्रिय से निकले हुए जीव सिद्ध नहीं हो सकते। सामान्यतः मनुष्य गति से आए हुए बीस, मनुष्यपुरुषों से निकले हुए दश, मनुष्यस्त्री से बीस। सामान्यतः देव-गति से आए हुए एक सौ आठ सिद्ध हों। भवनपति एवं व्यंतर देवों से दस-दस तथा उनकी देवियों से पाँच-पाँच। ज्योतिष्क देवों से दस, देवियों से बीस और वैमानिक देवों से आए हुए १०८ तथा उनकी देवियों से आए हुए एक समय में बीस सिद्ध हो सकते हैं।

(४) वेदद्वार—एक समय में स्त्रीवेदी २०, पुरुषवेदी १०८ और नपुंसकवेदी १० सिद्ध हो सकते हैं। पुरुष मरकर पुनः पुरुष बनकर १०८ सिद्ध हो सकते हैं।

(५) तीर्थंकरद्वार—एक समय में पुरुष तीर्थंकर चार और स्त्री तीर्थंकर दो सिद्ध हो सकते हैं।

(६) बुद्धद्वार—एक समय में प्रत्येकबुद्ध १०, स्वयंबुद्ध ४, बुद्ध-बोधित १०८ सिद्ध हो सकते हैं।

(७) लिङ्गद्वार—एक समय में गृहलिङ्गी चार, अन्य लिङ्गी दस, स्वलिङ्गी एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं।

(८) चारित्रद्वार—सामायिक चारित्र के साथ सूक्ष्मसाम्पराय तथा यथाख्यात चारित्र पालकर एक समय में १०८, तथा छेदोपस्थापनासहित चार चारित्रों का पालन करने वाले भी १०८ और पाँचों की आराधना करने वाले एक समय में १० सिद्ध हो सकते हैं।

(९) ज्ञानद्वार—पूर्वभाव की अपेक्षा से एक समय में मति एवं श्रुतज्ञान के धारक उत्कृष्ट

चार, मति श्रुत व मनःपर्यव ज्ञान वाले दस, मति, श्रुत, अवधिज्ञानी तथा चार ज्ञान के स्वामी केवलज्ञान प्राप्त करके एक सौ आठ सिद्ध हो सकते हैं।

(१०) अवगहनद्वार—एक समय में जघन्य अवगाहना वाले उत्कृष्ट चार, मध्यम अवगाहना वाले उत्कृष्ट १०८, उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो सिद्ध हो सकते हैं।

(११) उत्कृष्टद्वार—अनन्तकाल के प्रतिपाती यदि पुनः सम्यक्त्व प्राप्त करें तो एक समय में एक सौ आठ, असंख्यातकाल एवं संख्यातकाल के प्रतिपाती दस-दस। अप्रतिपाती सम्यक्त्वी चार सिद्ध हो सकते हैं।

(१२) अन्तरद्वार—एक समय के अन्तर से अथवा दो, तीन एवं चार समयों का अन्तर पाकर सिद्ध हों। इसी क्रम से आगे समझना चाहिए।

(१३) अनुसमयद्वार—यदि आठ समय पर्यंत निरन्तर सिद्ध होते रहें तो पहले समय में जघन्य एक, दो, तीन, उत्कृष्ट बत्तीस; इसी क्रम में दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें और आठवें समय में समझना। फिर नौवें समय में अवश्य अन्तर पड़ता है अर्थात् कोई जीव सिद्ध नहीं होता। ३३ से ४८ निरन्तर सिद्ध हों तो सात समय पर्यन्त हों, आठवें समय में अवश्य अन्तर पड़ जाता है। यदि ४९ से लेकर ६० पर्यन्त निरन्तर सिद्ध हों तो छह समय तक सिद्ध हों, सातवें में अन्तर पड़ जाता है। यदि ६१ से लेकर ७२ तक निरन्तर सिद्ध हों तो उत्कृष्ट पाँच समय पर्यंत ही हों, बाद में निश्चित विरह पड़ जाता है। यदि ७२ से लेकर ८४ पर्यंत सिद्ध हों तो चार समय तक सिद्ध हो सकते हैं, पाँचवें समय में अवश्य अन्तर पड़ जाता है। यदि ८५ से लेकर ९६ पर्यंत सिद्ध हों तो तीन समय पर्यंत हों। यदि ९७ से लेकर १०२ सिद्ध हों तो दो समय तक हों, फिर अन्तर पड़ जाता है। यदि पहले समय में ही १०३ से १०८ सिद्ध हों तो दूसरे समय में अन्तर अवश्य पड़ता है।

(१४) संख्याद्वार—एक समय में जघन्य एक और उत्कृष्ट १०८ सिद्ध हों।

(१५) अल्पबहुत्व—पूर्वोक्त प्रकार से ही है।

(३) क्षेत्रद्वार

मानुषोत्तर पर्वत के अन्तर्गत अढ़ाई द्वीप, लवण और कालोदधि समुद्र हैं। कोई भी जीव सिद्ध होता है तो इन्हीं द्वीप समुद्रों से होता है। अढ़ाई द्वीप से बाहर केवलज्ञान नहीं हो सकता और केवलज्ञान के बिना मोक्षप्राप्ति संभव नहीं है। इसमें भी १५ उपद्वार हैं जिन्हें पहले की भांति समझना चाहिये।

(४) स्पर्शनाद्वार

जो भी सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं या आगे होंगे वे सभी आत्मप्रदेशों से परस्पर मिले हुए हैं। यथा—"एक माँहि अनेक राजे अनेक मांहि एककम्।" जैसे—हजारों, लाखों प्रदीपों का प्रकाश एकीभूत होने से भी किसी को किसी प्रकार की अड़चन या वाधा नहीं होती, वैसे ही सिद्धों के विषय में भी समझना चाहिए। यहाँ भी १५ उपद्वार पहले की तरह जाने।

(५) कालद्वार

जिन क्षेत्रों से एक समय में १०८ सिद्ध हो सकते हैं, वहाँ से निरन्तर आठ समय तक सिद्ध हों, जिस क्षेत्र से १० या २० सिद्ध हो सकते हैं, वहाँ चार समय तक निरन्तर सिद्ध हों, जहाँ से २, ३, ४, सिद्ध हो सकते हैं, वहाँ दो समय तक निरतर सिद्ध हों। इसमें भी क्षेत्रादि उपद्वार घटाते हैं :—

(१) क्षेत्र द्वार—एक समय में १५ कर्मभूमियों में १०८ उत्कृष्ट सिद्ध हो सकते हैं, वहाँ अन्तर रहित आठ समय तक सिद्ध हो सकते हैं। अकर्मभूमि तथा अधोलोक में चार समय तक, नन्दन वन, पाण्डुक-वन और लवण समुद्र में निरंतर दो समय तक, और ऊर्ध्वलोक में निरंतर चार समय तक सिद्ध हो सकते हैं।

(२) कालद्वार—प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के तीसरे, चौथे आरे में निरंतर आठ-आठ समय तक और शेष आरों में ४-४ समय तक निरंतर सिद्ध हो सकते हैं।

(३) गतिद्वार—देवगति से आए हुए उत्कृष्ट आठ समय तक, शेष तीन गतियों से चार-चार समय तक निरन्तर सिद्ध हो सकते हैं।

(४) वेदद्वार—जो पूर्वजन्म में पुरुष थे और इस भव में भी पुरुष हों, वे उत्कृष्ट ८ समय तक और शेष भंगों वाले ४ समय तक निरंतर सिद्ध हो सकते हैं।

(५) तीर्थद्वार—किसी भी तीर्थंकर के शासन में उत्कृष्ट ८ समय तक तथा पुरुष तीर्थंकर और स्त्री तीर्थंकर निरन्तर दो समय तक सिद्ध हो सकते हैं, अधिक नहीं।

(६) लिङ्गद्वार—स्वलिङ्ग में आठ समय तक, अन्य लिङ्ग में ४ समय तक, गृहिलिंग में निरंतर दो समय तक सिद्ध हो सकते हैं।

(७) चारित्रद्वार—जिन्होंने क्रमशः पाँचों ही चारित्रों का पालन किया हो, वे चार समय तक, शेष तीन या चार चारित्र वाले उत्कृष्ट आठ समय तक लगातार सिद्ध हो सकते हैं।

(८) बुद्धद्वार—बुद्धबोधित आठ समय तक, स्वयंबुद्ध दो समय तक, सामान्य साधु या साध्वी के द्वारा प्रतिबुद्ध हुए चार समय तक निरंतर सिद्ध हो सकते हैं।

(९) ज्ञानद्वार—प्रथम दो ज्ञानों से (मति, श्रुत से) केवली हुए दो समय तक; मति, श्रुत एवं मनःपर्यवज्ञान से केवली हुए ४ समय तक तथा मति, श्रुत, अवधि ज्ञान से और चारों ज्ञानपूर्वक केवली हुए ८ समय तक सिद्ध हो सकते हैं।

(१०) अवगहनाद्वार—उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो समय तक, मध्यम अवगाहना वाले निरन्तर ८ समय तक, जघन्य अवगाहना वाले दो समय तक निरंतर सिद्ध हो सकते हैं।

(११) उत्कृष्टद्वार—अप्रतिपाती सम्यक्त्वी दो समय तक, संख्यात एवं असंख्यात काल तक के प्रतिपाती उत्कृष्ट ४ समय तक, अनन्तकाल प्रतिपाती सम्यक्त्वी उत्कृष्ट ८ समय तक सिद्ध हो सकते हैं।

नोट—शेष चार उपद्वार घटित नहीं होते।

(६) अन्तरद्वार

जितने काल तक एक भी जीव सिद्ध न हो उतना समय अन्तरकाल या विरहकाल कहलाता है। यही विरहकाल यहाँ विभिन्न द्वारों से बतलाया गया है—

(१) क्षेत्रद्वार—समुच्चय अढ़ाई द्वीप में विरह जघन्य १ समय का, उत्कृष्ट ६ मास का। जम्बूद्वीप के महाविदेह और धातकीखंड के महाविदेह में उत्कृष्ट पृथक्त्व (२ से ९ तक) वर्ष का, पुष्करार्द्ध द्वीप में एक वर्ष से कुछ अधिक काल का विरह पड़ सकता है।

(२) कालद्वार—जन्म की अपेक्षा से—५ भरत ५ एरावत में १८ कोड़ाकाड़ी सागरोपम से कुछ न्यून समय का अन्तर पड़ता है। क्योंकि उत्सर्पिणी काल का चौथा आरा दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम, पाँचवां तीन और छठा चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। अवसर्पिणी काल का पहला आरा चार, दूसरा तीन और चौथा दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। ये सब १८ कोड़ाकोड़ी हुए। इनमें से उत्सर्पिणी काल में चौथे आरे की आदि में २४ वें तीर्थंकर का शासन संख्यात काल तक चलता है। तत्पश्चात् विच्छेद हो जाता है। अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अन्तिम भाग में पहले तीर्थंकर पैदा होते हैं। उनका शासन तीसरे आरे में एक लाख पूर्व तक चलता है, इस कारण अठारह कोड़ाकोड़ी से कुछ न्यून कहा। उस शासन में से सिद्ध हो सकते हैं, उसके व्यवच्छेद होने पर उस क्षेत्र में जन्मे हुए सिद्ध नहीं होते। संहरण की अपेक्षा से उत्कृष्ट अन्तर संख्यात हजार वर्ष का है।

(३) गतिद्वार—नरक से निकले हुए सिद्ध होने का उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व हजार वर्ष का, तिर्यंच से निकले हुए सिद्धों का अंतर पृथक्त्व १०० वर्ष का, तिर्यंची और सौधर्म-ईशान देवलोक के देवों को छोड़कर शेष सभी देवों से आए हुए सिद्धों का अंतर १ वर्ष से कुछ अधिक का एवं मानुषी का अंतर, स्वयंबुद्ध होने का संख्यात हजार वर्ष का। पृथ्वी, पानी, वनस्पति, सौधर्म-ईशान देवलोक के देव और दूसरी नरकभूमि, इनसे निकले हुए जीवों के सिद्ध होने का उत्कृष्ट अंतर हजार वर्ष का होता है। जघन्य सर्व स्थानों में एक समय का अंतर जानना चाहिए।

(४) वेदद्वार—पुरुषवेदी से अवेदी होकर सिद्ध होने का उत्कृष्ट विरह एक वर्ष से कुछ अधिक, स्त्रीवेदी और नपुंसक वेदी से अवेदी होकर सिद्ध होने वालों का उत्कृष्ट विरह संख्यात हजार वर्ष का है। पुरुष मरकर पुनः पुरुष बने, उनका सिद्धिप्राप्ति का उत्कृष्ट अन्तर एक वर्ष से कुछ अधिक है। शेष आठ भंगों के प्रत्येक भंग के अनुसार संख्यात हजार वर्षों का अंतर है। प्रत्येकबुद्ध का भी इतना ही अंतर है। जघन्य अंतर सर्व स्थानों में एक समय का है।

(५) तीर्थंकरद्वार—तीर्थंकर का मुक्तिप्राप्ति का उत्कृष्ट अन्तर पृथक्त्व हजार पूर्व और स्त्री तीर्थंकर का उत्कृष्ट अनन्तकाल। अतीर्थंकरों का उत्कृष्ट विरह एक वर्ष से अधिक, नोतीर्थसिद्धों (प्रत्येकबुद्धों) का संख्यात हजार वर्ष का तथा जघन्य सभी का एक समय का।

(६) लिङ्गद्वार—स्वलिङ्गी सिद्ध होने का जघन्य एक समय, उत्कष्ट एक वर्ष से कुछ अधिक, अन्य लिंगी और गृहिलिंगी का उत्कृष्ट संख्यात सहस्र वर्ष का।

(७) चारित्रद्वार—पूर्वभाव की अपेक्षा से सामायिक, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र पालकर सिद्ध होने का अन्तर एक वर्ष से कुछ अधिक काल का, शेष का अर्थात् छेदोपस्थापनीय और

परिहार-विशुद्धि चारित्र का अन्तर १८ कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ अधिक का। ये दोनों चारित्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में पहले और अंतिम तीर्थंकर के समय में होते हैं।

(८) बुद्धद्वार—बुद्धबोधित हुए सिद्ध होने का उत्कृष्ट अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक का, शेष प्रत्येकबुद्ध तथा साध्वी से प्रतिबोधित हुए सिद्ध होने का संख्यात हजार वर्ष का तथा स्वयंबुद्ध का, पृथक्त्व सहस्र पूर्व का अन्तर जानना चाहिए।

(९) ज्ञानद्वार—मति-श्रुत ज्ञानपूर्वक केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होने वालों का अन्तर पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण का तथा मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान से केवलज्ञान प्राप्त करने वालों का सिद्ध होने का अंतर वर्ष से कुछ अधिक। इनके अतिरिक्त चारों ज्ञानों से केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होने वालों का उत्कृष्ट अंतर संख्यात सहस्र वर्ष का जानना चाहिए।

(१०) अवगाहनाद्वार—१४ राजूलोक का घन बनाया जाय तो ७ राजूलोक हो जाता है। उसमें से, एक प्रदेश की श्रेणी सात राजू लम्बी है, उसके असंख्यातवें भाग में जितने आकाश प्रदेश हैं, यदि एक-एक समय में एक-एक आकाश प्रदेश का अपहरण करें तो उन्हें रिक्त होने में जितना काल लगे उतना उत्कृष्ट अवगाहना वालों का उत्कृष्ट अन्तर पड़े। मध्यम अवगाहना वालों का उत्कृष्ट अन्तर एक वर्ष से कुछ अधिक। जघन्य अन्तर सर्वस्थानों में एक समय का।

(११) उत्कृष्टद्वार—अप्रतिपाती सिद्ध होने का अन्तर सागरोपम का असंख्यातवाँ भाग, संख्यातकाल तथा असंख्यातकाल के प्रतिपाती हुए सिद्ध होने वालों का अन्तर उ० संख्यात हजार वर्ष का तथा अनन्तकाल के प्रतिपाती हुए सिद्ध होने वालों का अन्तर १ वर्ष से कुछ अधिक का। जघन्य सब स्थानों में एक समय का अन्तर।

(१२) अनुसमयद्वार—दो समय से लेकर आठ समय तक निरन्तर सिद्ध होते हैं।

(१३) गणनाद्वार—एकाकी या अनेक सिद्ध होने का अन्तर उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्ष का।

(१४) अल्पबहुत्वद्वार—पूर्ववत्।

(७) भावद्वार

भाव छः होते हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक और सान्निपातिक। क्षायिक भाव से ही सब जीव सिद्ध होते हैं।

इस द्वार में १५ उपद्वारों का विवरण पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

(८) अल्पबहुत्वद्वार

ऊर्ध्वलोक से सबसे थोड़े ४ सिद्ध होते हैं। अकर्मभूमि क्षेत्रों में १० सिद्ध होते हैं। वे उनसे संख्यातगुणा हैं। स्त्री आदि से २० सिद्ध होते हैं। वे संख्यात गुणा होते हैं क्योंकि साध्वी का संहरण नहीं होता। उनसे अलग-अलग विजयों में तथा अधोलोक में २० सिद्ध हो सकते हैं। उनसे १०८ सिद्ध होने वाले संख्यातगुणा अधिक हैं।

इस प्रकार अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान का वर्णन समाप्त हुआ।

परम्परसिद्ध केवलज्ञान

जिनको सिद्ध हुए एक समय से अधिक अथवा अनन्त समय हो गए हैं वे परम्परसिद्ध कहलाते हैं। उनका द्रव्यप्रमाण सात द्वारों में तथा १५ उपद्वारों में अनन्त कहना चाहिए क्योंकि ये अन्त-रहित हैं, काल अनन्त है। सर्वक्षेत्रों से अनन्त जीव सिद्ध हुए हैं।

अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान

४९—से किं तं अणंतरसिद्धकेवलनाणं ?

अणंतरसिद्धकेवलनाणं पण्णरसविहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) तित्थसिद्धा (२) अतित्थसिद्धा
(३) तित्थयरसिद्धा (४) अतित्थयरसिद्धा
(५) सयंबुद्धसिद्धा (६) पत्तेयबुद्धसिद्धा (७) बुद्धबोहियसिद्धा
(८) इत्थिलिंगसिद्धा (९) पुरिसलिंगसिद्धा (१०) नपुंसगलिंगसिद्धा
(११) सलिंगसिद्धा (१२) अन्नलिंगसिद्धा (१३) गिहिलिंगसिद्धा
(१४) एगसिद्धा (१५) अणेगसिद्धा,

से त्तं अणंतरसिद्धकेवलनाणं।

प्रश्न—अनन्तरसिद्ध-केवलज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर—अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान १५ प्रकार से वर्णित है। यथा—

(१) तीर्थसिद्ध (२) अतीर्थसिद्ध (३) तीर्थंकरसिद्ध (४) अतीर्थंकरसिद्ध (५) स्वयंबुद्ध सिद्ध (६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध (७) बुद्धबोधितसिद्ध (८) स्त्रीलिंगसिद्ध (९) पुरुषलिंगसिद्ध (१०) नपुंसकलिंगसिद्ध (११) स्वलिंगसिद्ध (१२) अन्यलिंगसिद्ध (१३) गृहिलिंगसिद्ध (१४) एकसिद्ध (१५) अनेकसिद्ध।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान के संबंध में विवेचन किया गया है। जिन आत्माओं को सिद्ध हुए एक ही समय हुआ हो, उन्हें अनन्तरसिद्ध कहते हैं और उनका ज्ञान अनन्तर-सिद्धकेवलज्ञान कहलाता है। अनन्तरसिद्ध केवलज्ञानी भवोपाधि भेद से १५ प्रकार के हैं। यथा—

(१) तीर्थसिद्ध—जिसके द्वारा संसार तरा जाए उसे तीर्थ कहते हैं। चतुर्विध श्रीसंघ का नाम तीर्थ है। तीर्थ की स्थापना होने पर जो सिद्ध हों, उन्हें तीर्थसिद्ध कहते हैं। तीर्थ की स्थापना तीर्थंकर करते हैं।

(२) अतीर्थसिद्ध—तीर्थ की स्थापना होने से पहले अथवा तीर्थ के व्यवच्छेद हो जाने के पश्चात् जो जीव सिद्धगति प्राप्त करते हैं वे अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं। जैसे माता मरुदेवी ने तीर्थ की स्थापना से पूर्व सिद्धगति पाई। भगवान् सुविधिनाथजी से लेकर शांतिनाथ भगवान् के शासन तक बीच के सात अन्तरों में तीर्थ का विच्छेद होता रहा। उस समय जातिस्मरण आदि ज्ञान से जो अन्तकृत केवली हुए उन्हें भी अतीर्थसिद्ध कहते हैं।

(३) तीर्थंकरसिद्ध—विश्व में लौकिक लोकोत्तर पदों में तीर्थंकर का पद सर्वोपरि है। जो इस पद की प्राप्ति करकेसिद्ध हुए हैं वे तीर्थंकरसिद्ध हैं।

(४) अतीर्थंकरसिद्ध—तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य जितने चक्रवर्ती, बलदेव, माण्डलिक, सम्राट्, आचार्य, उपाध्याय, गणधर, अन्तकृत् केवली, सामान्य केवली आदि सिद्ध हुए वे अतीर्थंकर सिद्ध कहलाते हैं।

(५) स्वयंबुद्धसिद्ध—जो किसी बाह्य निमित्त के विना जातिस्मरण अथवा अवधिज्ञान के द्वारा स्वयं संसार से विरक्त हो जाएँ उन्हें स्वयंबुद्ध कहते हैं। स्वयंबुद्ध होकर सिद्ध होने वाले स्वयंबुद्धसिद्ध हैं।

(६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध—जो उपदेशादि श्रवण किये विना, बाह्य किसी निमित्त से बोध प्राप्त करके सिद्ध होते हैं वे प्रत्येकबुद्ध सिद्ध कहलाते हैं। जैसे—करकण्डू एवं नमिराज ऋषि आदि।

(७) बुद्धबोधितसिद्ध—जो तीर्थंकर अथवा आचार्य आदि के उपदेश से बोध प्राप्त कर सिद्ध-गति प्राप्त करें उन्हें बुद्धबोधितसिद्ध कहते हैं। यथा—चन्दनबाला, जम्बूकुमार एवं अतिमुक्तकुमार आदि।

(८) स्त्रीलिंगसिद्ध—सूत्रकार ने स्त्रीत्व के तीन भेद बताये हैं। यथा—(१) वेद से (२) निर्वृत्ति से और (३) वेष से। वेद के उदय से और वेष से मोक्ष संभव नहीं है, केवल शरीरनिर्वृत्ति से ही सिद्ध होना स्वीकार किया गया है। जो स्त्री के शरीर में रहते हुए मुक्त हो गए हैं, वे स्त्रीलिंग सिद्ध हैं।

(९) पुरुषलिंगसिद्ध—पुरुष की आकृति में रहते हुए मोक्ष प्राप्त करने वाले पुरुषलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

(१०) नपुंसकलिंगसिद्ध—नपुंसक दो तरह के होते हैं। (१) स्त्री-नपुंसक (२) पुरुष-नपुंसक। जो पुरुषनपुंसक सिद्ध होते हैं वे नपुंसकलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

(११) स्वलिंगसिद्ध—श्रमण का वेष, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि को धारण करके सिद्ध होता है, उसे स्वलिंगसिद्ध कहते हैं।

(१२) अन्यलिंगसिद्ध—जो साधुवेष के धारक नहीं हैं किन्तु क्रिया जिनागमानुसार करके सिद्ध होते हैं वे अन्यलिंग सिद्ध कहलाते हैं।

(१३) गृहस्थलिंगसिद्ध—गृहस्थ वेष में मोक्ष प्राप्त करनेवाले, जैसे मरुदेवी माता।

(१४) एकसिद्ध—एक समय में एक-एक सिद्ध होने वाले एकसिद्ध कहलाते हैं।

(१५) अनेकसिद्ध—एक समय में दो से लेकर उत्कृष्ट १०८ सिद्ध होने वाले अनेकसिद्ध कहे जाते हैं। इन सबका केवलज्ञान अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान है।

परम्परसिद्ध केवलज्ञान

४३—से किं तं परम्परसिद्ध-केवलनाणं ?

परम्परसिद्ध-केवलनाणं अणेगविहं पण्णत्तं, तंजहा—अपढमसमय-सिद्धा, दुसमय-सिद्धा, तिसमयसिद्धा, चउसमयसिद्धा, जाव दससमयसिद्धा, संखिज्जसमयसिद्धा, असंखिज्जसमयसिद्धा, अणंतसमयसिद्धा।

से त्तं परम्परसिद्ध-केवलनाणं, से त्तं सिद्ध केवलनाणं।

तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ।

तत्थ दव्वओ णं केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ।
खित्तओ णं केवलनाणी सव्वं खित्तं जाणइ, पासइ।
कालओ णं केवलनाणी सव्वं कालं जाणइ, पासइ।
भावओ णं केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ, पासइ।

प्रश्न—वह परम्परसिद्ध-केवलज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर—परम्परसिद्ध-केवलज्ञान अनेक प्रकार से प्ररूपित है। यथा—अप्रथमसमयसिद्ध, द्विसमयसिद्ध, त्रिसमयसिद्ध, चतुःसमयसिद्ध, यावत् दससमयसिद्ध, संख्यातसमयसिद्ध, असंख्यातसमयसिद्ध और अनन्तसमयसिद्ध। इस प्रकार परम्परसिद्ध केवलज्ञान का वर्णन है। तात्पर्य यह है कि परम्परसिद्धों के सूत्रोक्त भेदों के अनुरूप ही उनके केवलज्ञान के भेद हैं।

संक्षेप में वह चार प्रकार का है—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से।

(१) द्रव्य से केवलज्ञानी सर्वद्रव्यों को जानता व देखता है।
(२) क्षेत्र से केवलज्ञानी सर्व लोकालोक क्षेत्र को जानता-देखता है।
(३) काल से केवलज्ञानी भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीनों कालों को जानता व देखता है।
(४) भाव से केवलज्ञानी सर्व द्रव्यों के सर्व भावों—पर्यायों को जानता व देखता है।

विवेचन—सूत्रकार ने परम्परसिद्ध-केवलज्ञान का वर्णन किया। वस्तुतः केवलज्ञान और सिद्धों के स्वरूप में किसी प्रकार की भिन्नता या तरतमता नहीं है। सिद्धों में जो भेद कहा गया है वह पूर्वोपाधि या काल आदि के भेद से ही है। केवलज्ञान में मात्र स्वामी के भेद से भेद है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन के उपयोग के विषय में आचार्यों की विभिन्न धारणाएँ हैं, जिनका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। जैनदर्शन पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन, इस प्रकार बारह प्रकार का उपयोग मानता है। इनमें से किसी एक में कुछ समय के लिए स्थिर हो जाने को उपयोग कहते हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन के सिवाय दस उपयोग छद्मस्थ में पाए जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि में तीन अज्ञान और तीन दर्शन अर्थात् छः उपयोग और छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि में चार ज्ञान तथा तीन दर्शन, इस प्रकार सात उपयोग हो सकते हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग अनावृत क्षायिक एवं सम्पूर्ण हैं। शेष दस उपयोग क्षायोपशमिक छाद्मस्थिक—आवृतानावृत-

संज्ञक हैं। इनमें ह्रास-विकास, एवं न्यूनाधिकता होती है। किन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन में ह्रास-विकास या न्यून-आधिक्य नहीं होता। वे प्रकट होने पर कभी अस्त नहीं होते।

छाद्मस्थिक उपयोग क्रमभावी हैं, अर्थात् एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है, एक से अधिक नहीं। इस विषय में सभी आचार्य एकमत हैं, किन्तु केवली के उपयोग के विषय में तीन धारणाएँ हैं। यथा—

(१) निरावरणज्ञान-दर्शन होते हुए भी केवली में एक समय में एक ही उपयोग होता है। जब ज्ञान-उपयोग होता है तब दर्शन-उपयोग नहीं होता और जब दर्शन-उपयोग होता है तब ज्ञान-उपयोग नहीं हो सकता। इस मान्यता को क्रम-भावी तथा एकान्तर-उपयोगवाद भी कहते हैं। इसके समर्थक जिनभद्र-गणी क्षमाश्रमण आदि हैं।

(२) केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय में दूसरा मत युगपद्वादियों का है। उनका कथन है:—जैसे सूर्य और उसका ताप युगपत् होते हैं, वैसे ही निरावरण ज्ञान-दर्शन भी एक साथ प्रकाश करते हैं अर्थात् अपने-अपने विषय को ग्रहण करते रहते हैं, क्रमशः नहीं। इस मान्यता के समर्थक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर आदि हैं जो अपने समय के अद्वितीय तार्किक विद्वान् थे।

(३) तीसरी मान्यता अभेदवादियों की है। उनका कथन है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों एकरूप हो जाते हैं। जब ज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है तब पृथक् दर्शन की क्या आवश्यकता है? दूसरे, ज्ञान प्रमाण माना गया है, दर्शन नहीं, अतः वह अप्रधान है। इस मान्यता के समर्थक आचार्य वृद्धवादी आदि हुए हैं।

युगपत्-उपयोगवाद

यहाँ पर एकान्तर-उपयोगवादियों की मान्यता का खंडन करते हुए युगपद्वादियों ने विभिन्न प्रमाणों द्वारा अपने मत की पुष्टि की है। युगपद्वादियों का मत है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों उपयोग सादि-अनन्त हैं, इसलिए केवली एक साथ पदार्थों को जानता भी है और देखता भी है। कहा भी है:—

जं केवलाइं सादी, अपज्जवसिताइं दोऽवि भणिलाइं।
तो बेंति केइ जुगवं, जाणइ पासइय सव्वण्णू॥

(१) उनकी मान्यता है कि एकान्तर उपयोग पक्ष में सादि-अनन्तता घटित नहीं होती, क्योंकि जब ज्ञान का उपयोग होता है तब दर्शन का नहीं रहता और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं रहता। इससे उक्त ज्ञान, दर्शन सादि-सान्त सिद्ध होते हैं।

(२) एकान्तर-उपयोग में दूसरा दोष मिथ्यावरणक्षय है। केवलज्ञानावरण और दर्शनावरण का पूर्णरूप से क्षय हो जाने पर भी यदि ज्ञान के समय दर्शन का और दर्शन के साथ ज्ञान का उपयोग नहीं रहता तो आवरणों का क्षय मिथ्या—बेकार हो जाएगा। जैसे दो दीपकों को निरावरण कर देने से वे एक साथ प्रकाश करते हैं, इसी प्रकार दोनों उपयोग एक साथ प्रकाश करते हैं क्रमशः नहीं। यही मान्यता निर्दोष है।

(३) युगपद्वादी एकान्तर-उपयोग पक्ष में तीसरा दोष इतरेतरावरणता सिद्ध करते हैं। यदि

दर्शन के उपयोग से ज्ञान का उपयोग रुक जाता है और ज्ञानोपयोग होने पर दर्शनोपयोग नहीं रहता तो निष्कर्ष यह हुआ कि ये दोनों एक दूसरे के आवरण हैं। किन्तु ऐसा मानना आगम-विरुद्ध है।

(४) एकान्तर-उपयोग के पक्ष में चौथा दोष 'निष्कारण आवरणता' है—ज्ञान और दर्शन को आवृत करने वाले ज्ञान-दर्शनावरण का सर्वथा क्षय हो जाने पर भी यदि उनका उपयोग निरन्तर-सदैव चालू नहीं रहता और उनको आवृत करने वाला अन्य कोई कारण हो नहीं सकता तो यह मानना पड़ेगा कि बिना कारण ही उन पर बीच-बीच में आवरण आ जाता है। अर्थात् आवरण-क्षय हो जाने पर भी निष्कारण आवरण का सिलसिला जारी ही रहता है जो कि सिद्धान्तविरोधी है।

(५) एकान्तर-उपयोग के पक्ष में केवली का असर्वज्ञत्व और असर्वदर्शित्व सिद्ध होता है। क्योंकि जब केवली का उपयोग ज्ञान में है तब दर्शन में उपयोग न होने से वे असर्वदर्शी होते हैं और जब दर्शन में उपयोग है तब ज्ञानोपयोग न होने से उनमें असर्वज्ञत्व का प्रसंग आ जाता है। अतः युगपद् उपयोग मानना ही दोष रहित है।

(६) क्षीणमोह गुणस्थान के चरम समय में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, ये तीन कर्म एक साथ ही क्षीण होते हैं। तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में आवरण नष्ट होने पर ज्ञान-दर्शन एक साथ प्रकाशित होते हैं। इसलिए एकान्तर-उपयोग पक्ष उपयुक्त नहीं है।

एकान्तर उपयोगवाद

(१) केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दोनों सादि-अनन्त हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, किन्तु यह कथन लब्धि की अपेक्षा से है, न कि उपयोग की अपेक्षा से। मति, श्रुत और अवधिज्ञान का लब्धिकाल ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है, जब कि उपयोग अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता। इस समाधान से उक्त दोष की निवृत्ति हो जाती है।

(२) निरावरण ज्ञान—दर्शन का युगपत् उपयोग न मानने से आवरणक्षय मिथ्या सिद्ध हो जायगा, यह कथन भी उपयुक्त नहीं। क्योंकि किसी विभंगज्ञानी को सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही मति, श्रुत और अवधि, ये तीनों ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं, यह आगम का कथन है। किन्तु उनके उपयोग का युगपत् होना आवश्यक नहीं है। जैसे चार ज्ञानों के धारक को चतुर्ज्ञानी कहते हैं फिर भी उसका उपयोग एक ही समय में चारों में नहीं रहता, किसी एक में होता है। स्पष्ट है कि जानने व देखने का समय एक नहीं अपितु भिन्न भिन्न होता है। (प्रज्ञापना सूत्र, पद ३० तथा भगवती सूत्र श. २५)

(३) एकान्तर-उपयोग पक्ष में इतरेतरावरणता नामक दोष कहना भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन सदैव निरावरण रहते हैं। इनको क्षायिक लब्धि भी कहते हैं और इनमें से किसी एक में चेतना के प्रवाहित हो जाने को उपयोग कहा जाता है। छद्मस्थ का ज्ञान या दर्शन में उपयोग अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं रहता। केवली के ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक-एक समय तक ही रहता है। इस प्रकार उपयोग सदा सादि सान्त ही होता है। वह कभी ज्ञान में और कभी दर्शन में परिवर्तित होता रहता है। इससे इतरेतरावरणता दोष मानना अनुचित है।

(४) अनावरण होते ही ज्ञान-दर्शन का पूर्ण विकास हो जाता है, फिर निष्कारण-आवरण

होने का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि आवरण और उसके हेतु नष्ट होने पर ही केवलज्ञान होता है। किन्तु उपयोग का स्वभाव ऐसा है कि वह दोनों में से एक समय में किसी एक में ही प्रवाहित होता है, दोनों में नहीं।

(५) केवली जिस समय जानते हैं उस समय देखते नहीं, इससे असर्वदर्शित्व और जिस समय देखते हैं उस समय जानते नहीं, इससे असर्वज्ञत्व सिद्ध होता है, इस कथन का प्रत्युत्तर यही है कि आगम में केवली को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भी लब्धि की अपेक्षा से कहा गया है, न कि उपयोग की अपेक्षा से। अतः एकान्तर-उपयोग पक्ष निर्दोष है।

(६) युगपत् उपयोगवाद की मान्यता यहाँ तक तो युक्तिसंगत है कि ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म युगपत् ही क्षीण होते हैं किन्तु उपयोग भी युगपत् ही हो, यह आवश्यक नहीं है। कहा भी है—

"जुगवं दो नत्थि उवओगा।"

अर्थात् दो उपयोग साथ नहीं होते। यह नियम केवल छद्मस्थों के लिए नहीं है। अतएव केवलियों में भी एक साथ, एक समय में एक ही उपयोग पाया जा सकता है दो नहीं।

अभिन्न-उपयोगवाद

(१) केवलज्ञान अनुत्तर अर्थात् सर्वोपरि ज्ञान है, इसके उत्पन्न होने पर फिर केवलदर्शन की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। क्योंकि केवलज्ञान के अन्तर्गत सामान्य और विशेष सभी विषय आ जाते हैं।

(२) जैसे चारों ज्ञान केवलज्ञान में अन्तर्भूत हो जाते हैं उसी प्रकार चारों दर्शन भी इसमें समाहित हो जाते हैं। अतः केवलदर्शन को अलग मानना निरर्थक है।

(३) अल्पज्ञता में साकार उपयोग, अनाकार उपयोग तथा क्षायोपशमिक भाव की विभिन्नता के कारण दोनों उपयोगों में परस्पर भेद हो सकता है, किन्तु क्षायिक भाव में दोनों में विशेष अन्तर न रहने से केवलज्ञान ही शेष रह जाता है अतः केवली का उपयोग सदा केवलज्ञान में ही रहता है।

(४) यदि केवलदर्शन का अस्तित्व भिन्न माना जाय तो वह सामान्यग्राही होने से अल्प विषयक सिद्ध हो जाएगा, जबकि वह अनन्त विषयक है।

(५) जब केवली प्रवचन करते हैं, तब वह केवलज्ञानपूर्वक होता है, इससे अभेद पक्ष ही सिद्ध होता है।

(६) नन्दीसूत्र एवं अन्य आगमों में भी केवलदर्शन का विशेष उल्लेख नहीं पाया जाता, इससे भी भासित होता है कि केवलदर्शन केवलज्ञान से भिन्न नहीं रह जाता।

सिद्धान्तवादी का पक्ष—प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, चाहे वह दृश्य हो या अदृश्य, रूपी हो या अरूपी और अणु हो या महान्। विशेष धर्म भी अनन्तानन्त हैं और सामान्य धर्म भी। विशेष धर्म केवलज्ञानग्राह्य हैं और सामान्य धर्म केवलदर्शन द्वारा ग्राह्य। दोनों की पर्यायें समान हैं। उपयोग एक समय में दोनों में से एक रहता है। जब वह विशेष की ओर प्रवहमान रहता है तब

केवलज्ञान कहलाता है तथा सामान्य की ओर प्रवहमान होने पर केवलदर्शन । इस दृष्टि से चेतना का प्रवाह एक समय में एक ओर ही हो सकता है, दोनों ओर नहीं ।

(२) जैसे देशज्ञान के विलय से केवलज्ञान होता है वैसे ही देशदर्शन के विलय से केवल-दर्शन । ज्ञान की पूर्णता को केवलज्ञान और दर्शन की पूर्णता को केवलदर्शन कहते हैं । इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान-दर्शन दोनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् है और दोनों को एक मानना ठीक नहीं ।

(३) छद्मस्थ काल में जब ज्ञान और दर्शनरूप दो विभिन्न उपयोग पाये जाते हैं तब उनकी पूर्ण अवस्था में वे एक कैसे हो सकते हैं ? अवधिज्ञान एवं अवधिदर्शन को जब एक नहीं माना जाता तो फिर केवलज्ञान और केवलदर्शन एक कैसे माने जा सकते हैं ?

(४) नन्दीसूत्र में प्रमुख रूप से पाँच ज्ञानों का ही वर्णन है, दर्शनों का नहीं । इससे दोनों की एकता सिद्ध नहीं होती । इस बात की पुष्टि सोमिल ब्राह्मण के प्रसंग से होती है ।

सोमिल के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—

"हे सोमिल ! मैं ज्ञान और दर्शन की अपेक्षा द्विविध हूँ ।" (भगवती सूत्र० श० १८, उ० १०) भगवान् के इस कथन से सिद्ध होता है कि दर्शन भी ज्ञान की तरह स्वतन्त्र सत्ता रखता है । नन्दीसूत्र में भी सम्यक् श्रुत के अंतर्गत "उप्पन्ननाण-दंसणधरेहिं" कहा है । इसमें ज्ञान के अतिरिक्त दर्शन पद भी जुड़ा हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि केवली में दर्शन का अस्तित्व अलग होता है ।

नयों की दृष्टि से उक्त विषय का समन्वय

उपाध्याय यशोविजय ने तीनों ही मान्यताओं का समन्वय नयों की शैली से किया है, यथा:—

(१) ऋजु सूत्र नय के दृष्टिकोण से एकान्तर-उपयोगवाद उपयुक्त है ।

(२) व्यवहारनय के दृष्टिकोण से युगपद्-उपयोगवाद सत्य प्रतीत होता है तथा:—

(३) संग्रहनय से अभेद-उपयोगवाद समुचित ज्ञात होता है ।

उपर्युक्त केवलज्ञान और केवलदर्शन के विषय में तीनों मतों को जानने के लिए नन्दीसूत्र की चूर्णि, मलयगिरिकृत वृत्ति तथा हरिभद्रकृत वृत्ति देखना चाहिए । जिनभद्रगणी कृत विशेषावश्यक भाष्य में भी यह विषय विशद रूप से वर्णित है ।

ज्ञातव्य है कि दिगम्बरपरम्परा में युगपद्-उपयोगवाद का एक ही पक्ष मान्य है । वह दोनों का उपयोग एक ही साथ मानती है ।

केवलज्ञान का उपसंहार

४३—अह सव्वदव्व-परिणाम-भाव-विण्णत्तिकारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं नाणं ।।

केवलज्ञान सम्पूर्ण द्रव्यों को, उत्पाद आदि परिणामों को तथा भाव-सत्ता को अथवा वर्ण, गन्ध, रस आदि को जानने का कारण है । वह अनन्त, शाश्वत तथा अप्रतिपाति है । ऐसा यह केवलज्ञान एक प्रकार का ही है ।

विवेचन—प्रस्तुत गाथा में केवलज्ञान का उपसंहार किया गया है और उसका आंतरिक स्वरूप भी बताया है। पाँच विशेषणों के द्वारा सूत्रकार ने इसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। वे निम्न हैं:—

(१) सव्वदव्व-परिणाम-भावविण्णत्तिकारणं—सर्वद्रव्यों को, उनकी पर्यायों को तथा औदयिक आदि भावों को जानने का हेतु है।

(२) अणंतं—वह अनन्त है क्योंकि ज्ञेय अनन्त है तथा ज्ञान उससे भी महान् है।

(३) सासयं—सादि-अनन्त होने से केवलज्ञान शाश्वत है।

(४) अप्पडिवाई—यह ज्ञान अप्रतिपाति अर्थात् कभी भी गिरनेवाला नहीं है।

(५) एगविहं—सब प्रकार की तरतमता एवं विसदृशता से रहित तथा सदाकाल व सर्वदेश में एक समान प्रकाश करने वाला व उपर्युक्त पंच-विशेषणों सहित यह केवलज्ञान एक ही है।

वाग्योग और श्रुत

४४—केवलनाणेणऽत्थे, नाउं जे तत्थ पण्णवणजोग्गे।
ते भासइ तित्थयरो, वइजोगसुअं हवइ सेसं।
से त्तं केवलनाणं, से त्तं नोइन्दियपच्चक्खं।

केवलज्ञान के द्वारा सब पदार्थों को जानकर उनमें जो पदार्थ वर्णन करने योग्य होते हैं, अर्थात् जिन्हें वाणी द्वारा कहा जा सकता है, उन्हें तीर्थंकर देव अपने प्रवचनों में प्रतिपादन करते हैं। वह उनका वचनयोग होता है अर्थात् वह अप्रधान द्रव्यश्रुत है। यहाँ 'शेष' का अर्थ 'अप्रधान' है।

इस प्रकार केवलज्ञान का विषय सम्पूर्ण हुआ और नोइन्द्रिय प्रत्यक्ष का प्रकरण भी समाप्त हुआ।

विवेचन—स्पष्ट है कि तीर्थंकर भगवान् जितना केवलज्ञान से जानते हैं, उसमें से जितना कथनीय है उसी का प्रतिपादन करते हैं। सभी पदार्थो का कहना उनकी शक्ति से भी परे है, क्योंकि पदार्थ अनन्तानन्त हैं और आयुष्य परिमित समय का होता है। इसके अतिरिक्त बहुत-से सूक्ष्म अर्थ ऐसे हैं जो वचन के अगोचर हैं। इसलिए प्रत्यक्ष किये हुए पदार्थ का अनन्तवां भाग ही वे कह सकते हैं।

केवलज्ञानी जो प्रवचन करते हैं वह उनका श्रुतज्ञान नहीं, अपितु भाषापर्याप्ति नाम कर्मोदय से करते हैं। उनका वह प्रवचन वाग्योग-द्रव्यश्रुत कहलाता है क्योंकि सुनने वालों के लिए वह द्रव्यश्रुत, भावश्रुत का कारण बन जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि तीर्थंकर भगवान् का वचनयोग द्रव्यश्रुत है, भावश्रुत नहीं। वह केवलज्ञान-पूर्वक होता है। वर्तमान काल में जो आगम हैं, वे भावश्रुतपूर्वक हैं, क्योंकि वे गणधरों के द्वारा सूत्रबद्ध किये गए हैं। गणधरों को जो श्रुतज्ञान हुआ, वह भगवान् के वचनयोग रूप द्रव्यश्रुत से हुआ है।

इस प्रकार सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष एवं नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रकरण समाप्त हुआ।

परोक्षज्ञान

४५—से किं तं परोक्खनाणं ?

परोक्खनाणं दुविहं पन्नत्तं, तं जहा-आभिणिबोहिअनाणपरोक्खं च, सुअनाणपरोक्खं च।

जत्थ आभिणिबोहियनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुअनाणं तत्थ आभिणिबोहियनाणं।

दोऽवि एयाइं अण्णमण्णमणुगयाइं, तहवि पुण इत्थ आयरिआ नाणत्तं पण्णवयंति-अभिनिबुज्झइ त्ति आभिणिबोहियनाणं, सुणेइ त्ति सुअं, मइपुव्वं जेण सुअं, न मई सुअपुव्विआ।

प्रश्न—वह परोक्षज्ञान कितने प्रकार का है ?

उत्तर—परोक्षज्ञान दो प्रकार का प्रतिपादित किया गया है। यथा—

आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान।

जहाँ आभिनिबोधिक ज्ञान है वहाँ पर श्रुतज्ञान भी होता है। जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ आभिनिबोधिक ज्ञान भी होता है।

ये दोनों ही अन्योन्य अनुगत—एक दूसरे के साथ रहने वाले हैं। परस्पर अनुगत होने पर भी आचार्य इन दोनों में परस्पर भेद प्रतिपादन करते हैं। जो सन्मुख आए हुए पदार्थों को प्रमाण-पूर्वक अभिगत करता है वह आभिनिबोधिक ज्ञान है, किन्तु जो सुना जाता है वह श्रुतज्ञान है, जो कि श्रवण का विषय है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही होता है किन्तु मतिज्ञान श्रुत-पूर्वक नहीं होता।

विवेचन—जो सन्मुख आए हुए पदार्थों को इन्द्रिय और मन के द्वारा जानता है, उस ज्ञान-विशेष को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं। शब्द सुनकर वाच्य पदार्थ का जो ज्ञान होता है वह ज्ञानविशेष श्रुतज्ञान कहलाता है। इन दोनों का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है। अतः दोनों एक दूसरे के विना नहीं रह सकते। जैसे सूर्य और प्रकाश, इनमें से एक जहाँ होगा, दूसरा भी अनिवार्य रूप से पाया जायेगा।

"मइपुव्वं जेण सुयं, न मई सुअपुव्विया।"

श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है किन्तु श्रुतपूर्विका मति नहीं होती। जैसे वस्त्र में ताना वाना साथ ही होता है किन्तु फिर भी ताना पहले तन जाने के बाद ही वाना काम देता है। यद्यपि व्यवहार में यही कहा जाता है कि जहाँ ताना होता है वहाँ वाना रहता है और जहाँ वाना है वहाँ ताना भी है। ऐसा नहीं कहा जाता कि ताना पहले तना और वाना बाद में डाला गया। तात्पर्य यह है कि लब्धि रूप से दोनों सहचर हैं, उपयोग रूप से प्रथम मति और फिर श्रुत का व्यापार होता है।

शंका हो सकती है कि एकेन्द्रिय जीवों में मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान दोनों हैं, ये दोनों भी ज्ञानावरण के क्षयोपशम से होते हैं, किन्तु इनका अस्तित्व कैसे माना जाए ?

उत्तर यह है कि आहारादि संज्ञाएँ एकेन्द्रिय जीवों में भी होती हैं। वे बोध रूप होने से भावश्रुत उनमें भी सिद्ध होता है। इस विषय में आगे बताया जायगा। अभी तो यही जानना है कि

ये दोनों ज्ञान एक जीव में एक साथ रहते हैं। दोनों ही ज्ञान परस्पर प्रतिबद्ध हैं फिर भी इनमें जो भेद है वह इस प्रकार है—मतिज्ञान वर्तमानकालिक वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान त्रिकाल-विषयक होता है। मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान उसका कार्य है। मतिज्ञान के होने पर ही श्रुतज्ञान हो सकता है। एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक द्रव्यश्रुत नहीं होता किन्तु भावश्रुत उनमें भी होता है।

अब मति और श्रुत का विवेचन अन्य प्रकार से किया जाता है।

मति और श्रुत के दो रूप

४६—अविसेसिआ मई मइनाणं च मइअन्नाणं च। विसेसिआ सम्मदिट्ठिस्स मई मइनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स मई मइ-अन्नाणं। अविसेसिअं सुयं सुयनाणं च सुयअन्नाणं च। विसेसिअं सुयं सम्मदिट्ठिस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छदिट्ठिस्स सुयं सुयअन्नाणं।

सामान्य रूप से मति, मतिज्ञान और मति-अज्ञान दोनों प्रकार का है। परन्तु विशेष रूप से वही मति सम्यक्दृष्टि का मतिज्ञान है और मिथ्यादृष्टि की मति, मति-अज्ञान होता है। इसी प्रकार विशेषता रहित श्रुत, श्रुतज्ञान और श्रुत-अज्ञान उभय रूप है। विशेषता प्राप्त वही सम्यक्-दृष्टि का श्रुत, श्रुतज्ञान और मिथ्यादृष्टि का श्रुत-अज्ञान होता है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सामान्य-विशेष, ज्ञान-अज्ञान और सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि के विषय में उल्लेख किया गया है। जैसे सामान्यतया 'मति' शब्द ज्ञान और अज्ञान दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है।

जैसे किसी ने कहा—फल, द्रव्य अथवा मनुष्य। इन शब्दों में क्रमशः सभी प्रकार के फलों, द्रव्यों और मनुष्यों का अन्तर्भाव हो जाता है किन्तु आम्रफल, जीवद्रव्य एवं मुनिवर कहने से उनकी विशेषता सिद्ध होती है। इसी प्रकार स्वामी विशेष की अपेक्षा किये विना मति शब्द ज्ञान और अज्ञान दोनों रूपों में प्रयुक्त किया जा सकता है। किन्तु जब हम विशेष रूप से विचार करते हैं तब सम्यग्दृष्टि आत्मा की 'मति' मतिज्ञान और मिथ्यादृष्टि आत्मा की 'मति' मति-अज्ञान कहलाती है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि स्याद्वाद दृष्टि द्वारा, प्रमाण और नय की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप का निरीक्षण करके यथार्थ वस्तु को स्वीकार करता है तथा अयथार्थ का परित्याग करता है। सम्यग्दृष्टि की 'मति' आत्मोत्थान और परोपकार की ओर प्रवृत्त होती है। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि की 'मति' अनन्तधर्मात्मक वस्तु में एक धर्म का अस्तित्व स्वीकार करती है, शेष का निषेध करती है।

सामान्यतया 'श्रुत' भी ज्ञान-अज्ञान दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। जब श्रुत का स्वामी सम्यग्दृष्टि होता है तो वह ज्ञान कहलाता है और यदि उसका स्वामी मिथ्यादृष्टि होता है तो वह अज्ञान कहलाता है। सम्यक्दृष्टि का ज्ञान आत्मोत्थान और दूसरों की उन्नति में प्रवृत्त होता है तथा मिथ्यादृष्टि का श्रुतज्ञान आत्मपतन के साथ पर की अवनति का कारण बनता है। सम्यक्दृष्टि मिथ्याश्रुत को भी अपने श्रुतज्ञान के द्वारा सम्यक्श्रुत में परिवर्तित कर लेता है तथा मिथ्यादृष्टि सम्यक्श्रुत को भी मिथ्याश्रुत में बदल लेता है।

सारांश यह है कि ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति, आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति एवं निर्वाण पद की प्राप्ति करना है। सम्यग्दृष्टि जीव की बुद्धि और उसका शब्दज्ञान, दोनों ही

मार्गदर्शक होते हैं। इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि की मति और शब्दज्ञान, दोनों ही विवाद, विकथा एवं पतन का कारण बनते हुए जीव को पथभ्रष्ट करते हैं, साथ ही दूसरों के लिये भी अहितकर बन जाते हैं।

कहा जा सकता है कि जब मतिज्ञान और मति-अज्ञान दोनों ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं, तब दोनों में सम्यक्-मिथ्या का भेद किस कारण से होता है? उत्तर यह है कि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ ज्ञान मिथ्यात्वमोहनीय के उदय से मिथ्या बन जाता है।

आभिनिबोधिक ज्ञान के भेद

४७—से किं तं आभिणिबोहियनाणं?

आभिनिबोहियनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—सुयनिस्सियं च असुयनिस्सियं च।

से किं तं असुयनिस्सियं? असुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—

उप्पत्तिया वेणइआ कम्मया पारिणामिया।
बुद्धी चउव्विहा वुत्ता, पंचमा नोवलब्भइ।

भगवन्! वह आभिनिबोधिक ज्ञान किस प्रकार का है?

उत्तर—अभिनिबोधिकज्ञान—मतिज्ञान दो प्रकार का है, जैसे—(१) श्रुतनिश्रित और (२) अश्रुतनिश्रित।

प्रश्न:—अश्रुतनिश्रित कितने प्रकार का है?

उत्तर:—अश्रुतनिश्रित चार प्रकार का है। यथा—

(१) औत्पत्तिकी:—क्षयोपशम भाव के कारण, शास्त्र अभ्यास के बिना ही सहसा जिसकी उत्पत्ति हो, उसे औत्पत्तिकी बुद्धि कहते हैं।

(२) वैनयिकी:—गुरु आदि की विनय-भक्ति से उत्पन्न बुद्धि वैनयिकी है।

(३) कर्मजा—शिल्पादि के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न बुद्धि कर्मजा होती है।

(४) पारिणामिकी—चिरकाल तक पूर्वापर पर्यालोचन से अथवा उम्र के परिपाक से जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसे पारिणामिकी बुद्धि कहते हैं।

ये चार प्रकार की बुद्धियाँ शास्त्रकारों ने वर्णित की हैं, पाँचवां भेद उपलब्ध नहीं होता।

(१) औत्पत्तिकी बुद्धि का लक्षण

४८—पुव्वमदिट्ठ-मस्सुय-मवेइय, तक्खणविसुद्धगहियत्था।
अव्वाहय-फलजोगा, बुद्धी उप्पत्तिया नाम॥

जिस बुद्धि के द्वारा पहले बिना देखे और बिना सुने ही पदार्थों के विशुद्ध अर्थ-अभिप्राय को तत्काल ही ग्रहण कर लिया जाता है और जिससे अव्याहत-फल-बाधारहित परिणाम का योग होता है, उसे औत्पत्तिकी बुद्धि कहा जाता है।

औत्पत्तिकी बुद्धि के उदाहरण

४९—भरह-सिल-मिंढ-कुक्कुड-तिल-वालुय-हत्थि-अगड-वणसंडे ।
पायस-अइआ-पत्ते, खाडहिला-पंचपियरो य ।।१।।
भरह-सिल-पणिय-रुक्खे, खुड्डग-पड-सरड-काय-उच्चारे ।
गय-घयण-गोल-खंभे-खुड्डग-मग्गित्थि-पइ-पुत्ते ।।२।।
महुसित्थ-मुद्दि-अंके नाणए भिक्खु चेडग-निहाणे ।
सिक्खा य अत्थसत्थे इच्छा य महं सयसहस्से ।।३।।

विवेचन—गाथाओं का अर्थ विवेचन से ही समझना चाहिए ।

आगमों में तथा अन्य ग्रन्थों में उन बुद्धिमानों का नाम विश्रुत रहा है जिन्होंने अपनी तत्काल उत्पन्न बुद्धि या सूझ-बूझ से कही हुई बातों से अथवा किये गये अद्भुत कृत्यों से लोगों को चमत्कृत किया है । ऐसे व्यक्तियों में राजा, मंत्री, न्यायाधीश, संत-महात्मा, शिष्य, देव, दानव, कलाकार, बालक, नर-नारी आदि के वर्णन उल्लेखनीय होते हैं और उनके वर्णन इतिहास, कथानक, दृष्टान्त, उदाहरण या रूपक आदि में मिलते हैं ।

आजकल यद्यपि अनेकों दृष्टांत ऐसे पाये जा सकते हैं जो औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा एवं पारिणामिकी बुद्धि से संबंधित है, किन्तु यहाँ पर सूत्रगत उदाहरणों का ही उल्लेख किया जाता है:—

(१) भरत—उज्जयिनी नगरी के निकट नटों के एक ग्राम में भरत नामक नट रहता था । उसकी पत्नी का देहान्त हो गया और वह रोहक नामक एक पुत्र को छोड़ गई । बालक बड़ा होनहार और बुद्धिमान् था, किन्तु छोटा था, अतः उसकी व अपनी देखभाल के लिए भरत ने दूसरा विवाह कर लिया ।

रोहक की विमाता दुष्ट स्वभाव की स्त्री थी । वह उसके प्रति दुर्व्यवहार किया करती थी । एक दिन रोहक से रहा नहीं गया तो बोला—'माताजी ! आप मुझसे अच्छा व्यवहार नहीं करती, क्या यह आपके लिए उचित है ?' रोहक के यह शब्द सुनते ही विमाता आगबबूला होती हुई बोली 'दुष्ट ! छोटे मुँह बड़ी बात कहता है ! जा मेरे दुर्व्यवहार के कारण जो तुझसे बने कर लेना ।' यह कहकर वह अपने कार्य में लग गई ।

रोहक ने विमाता के वचन सुने तो उससे बदला लेने की ठान ली और उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगा । समय आया और एक दिन जब वह अपने पिता के पास सोया हुआ था, अचानक उठकर बोला—'पिताजी ! कोई पुरुष दौड़कर जा रहा है ।' भरत नट ने यह सुनकर सोचा कि मेरी पत्नी सदाचारिणी नहीं है । परिणामस्वरूप वह पत्नी से विमुख हो गया तथा उससे बोलना भी बन्द कर दिया ।

पति के रंग-ढंग देखकर रोहक की विमाता समझ गई कि किसी प्रकार रोहक ने ही अपने पिता को मेरे विरुद्ध भड़काया है । उसकी अक्ल ठिकाने आई और वह रोहक से बोली—'बेटा ! मुझसे भूल हुई । भविष्य में मैं तेरे साथ मधुर और अच्छा व्यवहार रखूँगी ।'

रोहक का क्रोध भी शान्त हो गया और वह अपने पिता के भ्रम-निवारण का अवसर खोजने लगा । एक दिन चाँदनी रात में उसने अंगुली से अपनी ही छाया दिखाते हुए पिता से कहा—

"पिताजी ! देखिये वह पुरुष भागा जा रहा है !" भरत नट ने क्रोधित होकर अपनी तलवार उठाई और उस लम्पट पुरुष को मारने के लिये दौड़ा। रोहक से उसने पूछा—"कहाँ है वह दुष्ट ?" इस पर रोहक ने अपनी ही छाया की ओर इंगित करके कहा—'यह रहा।'

भरत नट बहुत लज्जित हुआ यह सोचकर कि मैंने इस बालक के कहने से पत्नी को दुराचारिणी समझ लिया। मन ही मन पश्चात्ताप करते हुए वह अपनी पत्नी से पूर्ववत् मधुर व्यवहार रखने लगा। फिर भी बुद्धिमान् रोहक ने विचार किया—'विमाता, विमाता ही होती है। कहीं मेरे द्वारा किये गये व्यवहार से कुपित रहने के कारण यह किसी दिन मुझे विष आदि के प्रयोग से मार न डाले।' यह सोचकर वह छाया की तरह पिता के साथ रहने लगा। उन्हीं के साथ खाता-पीता, सोता था।

एक दिन किसी कार्यवश भरत को उज्जयिनी जाना था। रोहक भी पिता के साथ ही गया। नगरी का वैभव और सौन्दर्य देखकर वह मुग्ध-सा हो गया और वहाँ घूम-घूमकर उसके नक्शे को अपने मस्तिष्क में बिठाने लगा। कुछ समय पश्चात् जब वह पिता के साथ अपने गाँव की ओर लौटा तब नगरी के बाहर क्षिप्रा नदी के तट तक आते ही भरत को किसी भूली हुई वस्तु का स्मरण आया। अतः रोहक को नदी के तट पर बिठाकर वह पुनः नगरी की ओर लौट गया।

रोहक नदी के तीर पर रेत से खेलने लगा। अकस्मात् ही उसे न जाने क्या सूझा कि उसने रेत पर उज्जयिनी का महल समेत हूबहू नक्शा बना दिया। संयोगवश उसी समय नगरी का राजा उधर आ गया। चलते हुए वह रोहक के बनाए हुए नक्शे के समीप आया और उस पर चलने को हुआ। उसी क्षण रोहक ने टोकते हुए कहा—"महाशय ! इस मार्ग से मत जाओ।"

राजा चौंककर बोला—"क्यों क्या बात है ?"

रोहक ने उत्तर दिया—"यहाँ राजभवन है, इसमें कोई व्यक्ति बिना इजाजत के प्रवेश नहीं कर सकता।"

राजा ने यह सुनते ही कौतूहलपूर्वक रोहक द्वारा बनाया हुआ अपनी नगरी का नक्शा देखा। देखकर हैरान रह गया और सोचने लगा—'यह छोटा-सा बालक कितना बुद्धिमान् है जिसने नगरी में घूमकर ही इसका इतना सुन्दर और सही नक्शा बना लिया।' उसी क्षण उसके मन में यह विचार भी आया कि—'मेरे चार सौ निन्यानवे मंत्री हैं। अगर इनसे भी ऊपर इस बालक के समान एक अतीव कुशाग्र बुद्धि वाला महामंत्री हो तो राज्यकार्य कितने सुन्दर ढंग से चले। इसके बुद्धिबल के कारण अन्य बल न्यून होने पर भी मैं निष्कंटक राज्य कर सकूँगा तथा किसी भी शत्रु पर सहज ही विजय पा लूँगा। किन्तु पहले इसकी परीक्षा कर लेनी चाहिये।' यह विचार करके राजा रोहक का, उसके पिता का तथा गांव का नाम पूछकर नगर की ओर चल दिया।

इधर अपने पिता के लौटकर आने पर रोहक भी अपने गाँव की ओर रवाना हो गया। राजा भूला नहीं और कुछ समय बाद ही उसने रोहक की परीक्षा लेना प्रारंभ कर दिया।

(२) शिला—राजा ने सर्वप्रथम रोहक के ग्रामवासियों को बुलाकर कहा—'तुम लोग मिलकर एक ऐसा मंडप बनाओ जो राजा के योग्य हो और उसका आच्छादन गाँव के बाहर पड़ी हुई महाशिला हो। किन्तु शिला को वहाँ से उखाड़ा न जाय।'

राजा की आज्ञा सुनकर गाँव के निवासी नट बड़ी चिन्ता में पड़ गये। सोचने लगे—मंडप बनाना तो मुश्किल नहीं पर शिला को उठाए बिना वह मंडप पर कैसे छाई जाएगी ? लोग इकट्ठे होकर इसी पर विचार विमर्श कर रहे थे कि रोहक भूखा होने के कारण अपने पिता को बुलाने के लिए वहाँ आ पहुँचा। उसने सब बात सुनी और नटों की चिन्ता को समझ गया। समझ लेने के बाद बोला—'आप लोग इस छोटी-सो बात को लेकर चिन्ता में पड़े हुए हैं। मैं आपकी चिन्ता मिटा देता हूँ।'

लोग हैरान होकर उसकी ओर देखने लगे; एक ने उपाय पूछा। रोहक ने कहा—पहले आप सब शिला के चारों ओर की भूमि खोदो। चारों तरफ भूमि खुद जाने पर नीचे सुन्दर खम्भे खड़े कर दो और फिर शिला के नीचे की जमीन खोद डालो। यह हो जाय तब फिर शिला के नीचे की तरफ चारों ओर सुन्दर दीवारें खड़ी कर दो। बस मंडप तैयार हो जाएगा और शिला हटानी भी नहीं पड़ेगी।

रोहक की बात सुनकर लोग बड़े प्रसन्न हुए और उसकी हिदायत के अनुसार ही काम प्रारंभ कर दिया। थोड़े दिनों में ही महाशिला के नीचे भव्य स्तंभ लगा दिये गए और वैसा ही सुन्दर परकोटा आदि बनाकर मंडप तैयार किया गया। बिना हटाये ही शिला मंडप का आच्छादन बन गई।

कार्य समाप्त होने पर भरत सहित अन्य नटों ने जाकर राजा से निवेदन किया—'महाराज ! आपकी आज्ञानुसार मंडप तैयार कर दिया गया है। कृपा करके उसका निरीक्षण करने के लिए पधारें।'

राजा ने स्वयं जाकर मंडप को देखा और प्रसन्न होकर पूछा—'तुम लोगों को मंडप बनाने का यह तरीका किसने बताया ?'

ग्रामीणों ने एक स्वर से रोहक की ओर इंगित करते हुए कहा—"राजाधिराज ! यह इस नन्हें बच्चे रोहक की बुद्धि का चमत्कार है। इसी ने हमें यह उपाय बताया और हम आपकी इच्छा-नुसार कार्य कर सके हैं।"

राजा को इसी उत्तर की आशा थी। उसने रोहक को एक परीक्षा में उत्तीर्ण पाकर उसकी प्रशंसा की तथा नगर की ओर रवाना हो गया।

(३) मिण्ढ—राजा ने दूसरी बार रोहक की परीक्षा करने के लिए उसके गाँव वालों के पास एक मेढा भेजा, साथ ही कहलवाया कि—"यह मेढा एक पक्ष पश्चात् लौटाना, पर ध्यान रखना कि इसका वजन न बढ़े और न ही घटने पाए।"

गाँववाले फिर चिन्ताग्रस्त हो गये। सोचने लगे—'अगर इसे अच्छा खाना खिलायेंगे तो इसका वजन बढ़ेगा ही, और भूखा रखेंगे तो घट जायगा।'

कोई उपाय न सूझने पर उन्होंने रोहक को ही बुलाया और उससे अपनी चिन्ता का हल पूछा। रोहक ने अविलम्ब तरीका बताया और उसके निर्देशानुसार गाँव वालों ने मेढ़े को अच्छी खुराक देना शुरू किया। किन्तु उसके सामने ही एक पिंजरे में व्याघ्र को रख दिया। परिणाम यह हुआ कि अच्छी खुराक मिलने पर भी व्याघ्र के भय से मेढ़े का वजन न बढ़ा और न घटा। एक

पक्ष के बाद गाँववालों ने मेढ़े को लौटा दिया। राजा ने उसका वजन करवाया तो वह बराबर उतना ही निकला जितना गाँव भेजे जाने के समय था। राजा ने इस घटना के पीछे भी रोहक की ही चतुराई जानकर उसकी सराहना की।

(४) कुक्कुट—कुछ दिनों के अनन्तर राजा ने पुन: रोहक की परीक्षा लेने के लिए एक कुक्कुट—अर्थात् मुर्गा उसके गाँव भेज दिया। मुर्गा लड़ना ही नहीं जानता था, फिर भी कहलवाया कि इसे अन्य किसी मुर्गे के बिना ही लड़ाकू बनाया जाय।

गाँववाले इस बार भी घबराए कि अन्य मुर्गे के सामने हुए बिना यह लड़ना कैसे सीखेगा? पर रोहक ने यह समस्या भी हल की। एक बड़ा तथा मजबूत दर्पण मंगवाकर मुर्गे के सामने रखवा दिया। इस दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को ही अपना प्रतिद्वन्द्वी समझकर मुर्गा धीरे-धीरे उससे लड़ने का प्रयत्न करने लगा। कुछ ही समय में लड़ाका बन गया। राजा के पास वापस मुर्गा भेजा गया और जब राजा ने उसे अन्य किसी मुर्गे के बिना ही लड़ते देखा तो रोहक की बुद्धि पर दंग होते हुए अतीव प्रसन्नता प्रकट की।

(५) तिल—उक्त घटना के कुछ दिन पश्चात् राजा ने रोहक की और परीक्षा लेने के लिए उसके गांववालों को दरबार में बुलाकर आज्ञा दी—'तुम्हारे समक्ष तिलों का यह एक ढेर है, इसे बिना गिने ही बतलाओ कि इसमें कितने तिल हैं? यह भी ध्यान रखना कि संख्या बताने में अधिक विलम्ब न हो।'

राजा की यह अनोखी आज्ञा सुनकर लोग किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गए। उन्हें कुछ भी समझ में नहीं आया कि अब क्या करें? कैसे बिना गिने ही तिलों की संख्या बताएँ? पर उन्हें रोहक का ध्यान आया और दौड़े-दौड़े वे उसी के पास पहुँचे। रोहक गाँववालों की बात अर्थात् राजाज्ञा सुन कर कुछ क्षण मौन रहा, फ़िर बोला—आप लोग जाकर महाराज से कह देना कि हम गणित के विद्वान् तो नहीं हैं, फिर भी तिलों की संख्या उपमा के द्वारा बताते हैं। वह इस प्रकार है—"इस उज्जयिनी नगरी के ऊपर बिल्कुल सीध में आकाश में जितने तारे हैं, ठीक उतनी ही संख्या इस ढेर में तिलों की है।"

ग्रामीण लोगों ने प्रसन्न होते हुए राजा के पास जाकर यही कह दिया। राजा ने रोहक की बुद्धिमत्ता देखकर दाँतों तले अंगुली दबाई और मन ही मन प्रसन्न हुआ।

(६) बालुक—कुछ दिन के बाद राजा ने पुन: रोहक की परीक्षा करने के लिए उसके गाँव वालों को आदेश दिया कि—'तुम्हारे गाँव के आसपास बढ़िया रेत है। उस बालू रेत की एक डोरी बनाकर शीघ्र भेजो।'

बेचारे नट घबराए, भला बालू रेत की डोरी कैसे बट सकती थी? पर वहाँ रोहक जो था, उसने चुटकी बजाते ही उन्हें मुसीबत से उबार लिया। उसी के कथनानुसार गाँववालों ने जाकर राजा से प्रार्थना की—"महाराज! हम तो नट हैं, बाँसों पर नाचना ही जानते हैं। डोरी बनाने का काम कभी किया नहीं। फिर भी आपकी आज्ञा का पालन करने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। कृपा करके आप अपने भण्डार में से रेत की बनी हुई डोरी का एक नमूना दिलवादें।"

राजा अब क्या उत्तर देता ? मन ही मन कटकर रह गया। रोहक की बुद्धि के सामने उसकी अपनी अकल पानी भरने लगी।

(७) हस्ती—एक दिन राजा ने एक वृद्ध ही नहीं अपितु मरणासन्न हाथी नटों के गाँव में भेज दिया और कहलवाया—"इस हाथी की अच्छी तरह सेवा करो और प्रतिदिन इसके समाचार मेरे पास भेजते रहो, पर कभी आकर यह मत कहना कि वह मर गया है, अन्यथा दंड दिया जायगा।"

लोगों ने फिर रोहक से सलाह ली। रोहक ने उत्तर दिया—'हाथी को अच्छी खुराक देते रहो, आगे जो होगा, मैं सम्हाल लूंगा।' यही किया गया। हाथी को शाम को उसके अनुकूल खुराक दी गई किन्तु वह रात्रि को ही मर गया। लोग घबराए कि अब राजा को जाकर क्या समाचार दें ? किन्तु रोहक ने उन्हें तसल्ली दी और उसके निर्देशानुसार ग्रामवासियों ने जाकर राजा से कहा—"महाराज ! आज हाथी न कुछ खाता है, न पीता है, न उठता है न ही कुछ चेष्टा करता है।" यहाँ तक कि वह आज सांस भी नहीं लेता।"

राजा ने कुपित होते हुए पूछा—"तो क्या हाथी मर गया ?" ग्रामीण बोले—"प्रभु ! हम ऐसा कैसे कह सकते हैं, ऐसा तो आप ही फरमा सकते हैं।"

राजा ने समझ लिया कि हाथी मर गया किन्तु रोहक की चतुराई से गाँववालों ने यही बात अन्य प्रकार से समझाई है। राजा चुप हो गया। गाँववासी भी जान बचाकर सहर्ष अपने घरों की ओर लौट आए।

(८) अगड-कूप—एक बार राजा ने नटों के गाँव फिर संदेश भेजा—"तुम्हारे यहाँ जो कुआ है वह अत्यन्त मधुर एवं शीतल जल वाला है। अतः उसे हमारे यहाँ भेज दो, अन्यथा दंड के भागी बनोगे।"

राजाज्ञा प्राप्तकर लोग चिन्ताग्रस्त होते हुए पुनः रोहक की शरण में दौड़े। रोहक ने ही उन्हें फिर चिन्तामुक्त कर दिया। उसके द्वारा सिखाये हुए व्यक्ति राजा के पास पहुँचे और कहने लगे—

"महाराज ! हमारे यहाँ का कुआ ग्रामीण है। वह बड़ा भीरु और संकोचशील है। इसलिये आप अपने यहाँ के किसी कुए को हमारे यहाँ भेजने की कृपा कीजिए। अपने सजातीय पर विश्वास करके वह उसके साथ नगर में आ जाएगा।"

राजा रोहक की बुद्धि की प्रशंसा करता हुआ चुप हो गया।

(९) वन-खण्ड—कुछ दिन निकल जाने के बाद एक दिन राजा ने फिर रोहक के गाँववालों को संदेश भेजा—'तुम्हारे गाँव के पूर्व में जो वन-खण्ड है उसे पश्चिम में कर दो।'

ऐसा करना क्या गाँववालों के वश की बात थी ? रोहक ने ही उन्हें सुझाया—'इस गाँव को ही वनखण्ड की पूर्वदिशा में बसा लो। ऐसा करने पर वनखण्ड स्वयं पश्चिम दिशा में हो जायगा।' लोगों ने ऐसा ही किया तथा राजकर्मचारियों के द्वारा कार्य पूर्ण हो जाने का संदेश भेज दिया गया।

रोहक की अद्‌भुत बुद्धि के चमत्कार का राजा को पुनः प्रमाण मिला और वह मन ही मन बहुत आनंदित हुआ।

(१०) पायस—एक दिन अचानक ही राजा ने नटों को आज्ञा दी कि—'विना अग्नि में पकाये खीर तैयार करके भिजवाओ।'

नट लोग फिर हैरान हुए किन्तु रोहक ने उन्हें सुझाव दिया—'चावलों को पहले पानी में भिगोकर रख दो, तत्पश्चात् उनको दूध-भरी देगची में डाल दो। देगची को चूने के ढेर पर रखकर चूने में पानी डाल दो। चूने की तीव्र गरमी से खीर पक जाएगी।'

ऐसा ही किया गया और पकी हुई खीर राज-दरबार में पेश हुई। उसे तैयार करने की विधि जब राजा ने सुनी तो एक बार फिर वे रोहक की बुद्धि के कायल हुए।

(११) अतिग—उक्त घटना के कुछ समय पश्चात् राजा ने रोहक को अपने पास बुला भेजा और कहा—

"मेरी आज्ञा पालन करने वाला बालक कुछ शर्तों को मानकर मेरे पास आए। वे शर्तें हैं—आनेवाला न शुक्ल पक्ष में आए और न कृष्ण पक्ष में, न दिन में आए और न रात में, न धूप में आए और न छाया में, न आकाशमार्ग से आए और न भूमि से, न मार्ग से आए और न उन्मार्ग से, न स्नान करके आए और न विना स्नान किये, किन्तु आए अवश्य।"

राजा की ऐसी निराली शर्तों को सुनकर वहाँ जितने भी व्यक्ति उपस्थित थे मानों सभी को साँप सूंघ गया। कोई नहीं सोच सका कि ऐसी अद्‌भुत शर्तें पूरी हो सकेंगी। किन्तु रोहक ने हार नहीं मानी। वह निश्चिन्ततापूर्वक धीरे-धीरे राजमहल से बाहर निकला और अपने गाँव की ओर बढ़ गया। उसने अनुकूल समय की प्रतीक्षा की और अमावस्या तथा प्रतिपदा की संधि के पूर्व कंठ तक स्नान किया। संध्या के समय सिर पर चालनी का छत्र धारण करके मेढे पर बैठकर गाड़ी के पहिये के बीच के मार्ग से राजा के पास चल दिया। साथ ही राजदर्शन, देवदर्शन एवं गुरुदर्शन खाली हाथ नहीं करना चाहिये, इस नीतिवचन को ध्यान में रखते हुए हाथ में एक मिट्टी का ढेला भी ले आया।

राजा की सेवा में पहुँचकर उसने उचित रीति से नमस्कार किया तथा मिट्टी का ढेला उनके समक्ष रख दिया। राजा ने चकित होकर पूछा—"यह क्या है?" रोहक ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—"देव! आप पृथ्वीपति हैं, अतः मैं पृथ्वी लाया हूँ।"

रोहक के मांगलिक वचन सुनकर राजा अत्यन्त प्रमुदित हुआ और उसे अपने पास रख लिया। गाँववाले भी अपने-अपने घरों को लौट गये। रात्रि में राजा ने रोहक को अपने पास ही सुलाया। प्रथम प्रहर व्यतीत होने के पश्चात् दूसरे प्रहर में राजा की नींद खुली और उन्होंने रोहक को सम्बोधित करते हुए पूछा—"रोहक! जाग रहा है या सो रहा है?" रोहक ने उसी समय उत्तर दिया—"जाग रहा हूँ महाराज!"

"क्या सोच रहा है?"—राजा ने फिर पूछा। रोहक ने कहा—'मैं सोच रहा हूँ कि अजा (बकरी) के उदर में गोल-गोल मिंगनियाँ कैसे बन जाती है?" राजा को इस का उत्तर नहीं सूझा। उसने रोहक से ही पूछ लिया—"क्या सोचा? वे कैसे बनती हैं?" रोहक बोला—"देव!

बकरी के उदर में संवर्त्तक नामक एक विशेष प्रकार की वायु होती है, उसी के कारण मिंगनियां गोल-गोल हो जाती हैं।" यह कहकर रोहक सो गया।

(१२) पत्र—रात के तीसरे प्रहर में राजा ने फिर पूछ लिया—"रोहक, जाग रहा है?" रोहक अविलंब बोल उठा—"जाग रहा हूँ स्वामी!" राजा के फिर यह पूछने पर कि क्या सोच रहा है, रोहक ने कहा—

"मैं यह सोच रहा हूँ कि पीपल के पत्ते का डंठल बड़ा होता है या शिखा?" राजा संशय में पड़ गया और रोहक से ही उसका निवारण करने के लिये कहा। रोहक ने उत्तर दिया—"जब तक शिखा का भाग नहीं सूखता तब तक दोनों तुल्य होते हैं।" उत्तर देकर राजा के सोने के पश्चात् वह भी सो गया।

(१३) खाडहिला (गिलहरी)—रात्रि का चतुर्थ प्रहर चल रहा था कि अचानक राजा ने रोहक को फिर पुकार लिया। रोहक जाग ही रहा था। राजा ने पूछा—'क्या सोच रहा है?" रोहक बोला—"सोच रहा हूँ कि गिलहरी की पूंछ उसके शरीर से बड़ी होती है या छोटी?" राजा ने इसका भी निर्णय उसी से पूछा। रोहक बोला—"देव, दोनों बराबर होते हैं।" उत्तर देकर वह पुनः सो गया।

(१४) पंच पियरो (पाँच पिता)—रात्रि व्यतीत हो गई। सूर्योदय से पूर्व जब मंगलवाद्य बजने लगे, राजा जाग गया किन्तु रोहक प्रगाढ निद्रा में सो रहा था। पुकारने पर जब वह नहीं जागा तो राजा ने अपनी छड़ी से उसे कुछ कोंचा। रोहक तुरन्त जाग गया। राजा ने कौतूहलवश पूछ लिया—'क्यों रोहक, अब क्या सोच रहा है?'

इस बार रोहक ने बड़ा अजीब उत्तर दिया। बोला—'महाराज! मैं सोच रहा हूँ कि आपके पिता कितने हैं?' रोहक की बात सुनकर राजा चक्कर में पड़ गया किन्तु उसकी बुद्धि का कायल होने के कारण बिना क्रोध किये उसी से प्रश्न किया—'तुम्हीं बताओ मैं कितनों का पुत्र हूँ?'

रोहक ने उत्तर दिया—'महाराज! आप पाँच से पैदा हुए हैं। एक तो वैश्रवण से, क्योंकि आप कुबेर के समान उदारचित्त हैं। दूसरे चाण्डाल से, क्योंकि दुश्मनों के लिए आप चाण्डाल के समान क्रूर हैं। तीसरे धोबी से, जैसे धोबी गीले कपड़े को भली-भांति निचोड़कर, सारा पानी निकाल देता है, उसी तरह आप भी राजद्रोही और देशद्रोहियों का सर्वस्व हर लेते हैं। चौथे बिच्छू से, क्योंकि बिच्छू डंक मारकर दूसरों को पीड़ा पहुँचाता है, वैसे ही मुझ निद्राधीन बालक को आपने छड़ी के अग्रभाग से कोंचकर कष्ट दिया है। पांचवें, आप अपने पिता से पैदा हुए हैं, क्योंकि अपने पिता के समान ही आप भी न्यायपूर्वक प्रजा का पालन कर रहे हैं।'

रोहक की बातें सुनकर राजा अवाक् रह गया। प्रातः नित्यक्रिया से निवृत्त होकर वह अपनी माता को प्रणाम करने गया तथा उनसे रोहक की कही हुई सारी बातें कह दी। राजमाता ने उत्तर दिया—"पुत्र! विकारी इच्छा से देखना ही यदि तेरे संस्कारों का कारण हो तो ऐसा अवश्य हुआ। जब तू गर्भ में था, तब मैं एक दिन कुबेर की पूजा करने गई थी। कुबेर की सुन्दर मूर्त्ति को देखकर तथा वापिस लौटते समय मार्ग में एक धोबी और एक चाण्डाल को देखकर मेरी भावना विकृत हुई। इसके बाद घर आने पर एक बिच्छू-युगल को रति-क्रीड़ा करते देखकर भी मन में कुछ विकारी भावना पैदा हुई। वस्तुतः तो तुम्हारे जनक जगत्प्रसिद्ध पिता एक ही हैं।"

यह सुनकर राजा रोहक की अलौकिक बुद्धि का चमत्कार देखकर दंग रह गया। माता को प्रणाम कर वह वापिस लौट आया और दरबार का समय होने पर रोहक को महामंत्री के पद पर नियुक्त कर दिया।

इस प्रकार ये चौदह उदाहरण रोहक की औत्पत्तिकी बुद्धि के हैं।

(१) भरत व शिला के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं।

(२) पणित (प्रतिज्ञा-शर्त)—किसी समय एक भोलाभाला ग्रामीण किसान अपने गाँव से ककड़ियाँ लेकर शहर में बेचने के लिये गया। नगर के द्वार पर पहुँचते ही उसे एक धूर्त मिल गया। उस धूर्त ने उसे ठगने का विचार किया और कहा—"भाई! अगर मैं तुम्हारी सारी ककड़ियाँ खा लूं तो तुम मुझे क्या दोगे?" ग्रामीण ने कहा—"अगर तुम सारी ककड़ियाँ खा लोगे तो मैं तुम्हें इस द्वार में न आ सके ऐसा लड्डू दूंगा।" दोनों में यह शर्त तय हो गई तथा वहाँ उपस्थित कुछ व्यक्तियों को साक्षी बना लिया गया।

नागरिक धूर्त ने अपना वचन पूरा करने के लिए ग्रामीण की ककड़ियों में से प्रत्येक को उठाया तथा थोड़ा-थोड़ा खाकर सभी को जूठी करके रख दिया। तत्पश्चात् बोला—"लो भाई! मैंने तुम्हारी सारी ककड़ियाँ खा लीं।"

बेचारा ग्रामीण आंखें मल-मलकर देखने लगा कि कहीं उसे भ्रम तो नहीं हो रहा है? किन्तु भ्रम नहीं था, ककड़ियाँ तो थोड़ी-थोड़ी खाई हुई सभी सामने पड़ी थीं। इसलिए उसने कहा—"तुमने ककड़ियाँ कहाँ खाई हैं! सब तो पड़ी हैं।"

धूर्त ने कहा—"मैंने ककड़ियाँ खा ली हैं, इसका विश्वास अभी कराये देता हूँ।" ऐसा कहकर उसने ग्रामीण को साथ लेकर सारी ककड़ियाँ बाजार में बेचने के लिए रख दीं। ग्राहक आने लगे पर ककड़ियों को देखकर सभी लौट गये, यह कहकर कि ये ककड़ियाँ तो खाई हुई हैं।

लोगों की बातों के आधार पर नगर के धूर्त ने ग्रामीण से कहा—"देखो, सभी कह रहे हैं कि ककड़ियाँ खाई हुई हैं। अब लाओ मेरा लड्डू।" धूर्त ने साक्षियों को भी इसी प्रकार विश्वास करने के लिए बाध्य कर दिया।

ग्रामीण घबराया कि धूर्त ने ककड़ियाँ खाईं भी नहीं और लड्डू भी माँग रहा है। अब कैसे इतना बड़ा लड्डू इसे दूं? भयभीत होकर उसने धूर्त को रुपया देकर पीछा छुड़ाना चाहा। वह उसे एक रुपया देने लगा, न लेने पर दो और इसी प्रकार सौ रुपये तक आ गया, किन्तु धूर्त ने रुपया लेने से इन्कार कर दिया। वह लड्डू लेने की ही माँग करता रहा। हारकर ग्रामीण ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए कुछ समय की माँग की और किसी ऐसे व्यक्ति को खोजने लगा जो उसे इस संकट से उबारे।

आखिर उसे एक दूसरा धूर्त मिल गया जिसने चुटकियों में ही उसकी समस्या हल कर देने का आश्वासन दिया। उसी के कथनानुसार ग्रामीण ने बाजार जाकर एक छोटा सा लड्डू खरीदा। तत्पश्चात् वह धूर्त अन्य साक्षियों को बुला लाया। सबके आ जाने पर उसने लड्डू को नगर-द्वार के बाहर रख दिया और पुकारने लगा—'अरे लड्डू! चलो, ओ लड्डू, इधर इस दरवाजे में आओ।"

पर लड्डू कहाँ चलनेवाला था। वह तो जहाँ था वहीं पड़ा रहा। तब ग्रामीण ने उस नागरिक धूर्त को सभी साक्षियों के समक्ष संबोधित करते हुए कहा—'भाई ! मैंने तुमसे प्रतिज्ञा की थी कि हार गया तो ऐसा लड्डू दूंगा जो इस द्वार से नहीं निकल सके। अब तुम्हीं देख लो यह लड्डू द्वार से नहीं निकल रहा है। चलो, अपना लड्डू ले जाओ। मैं प्रतिज्ञा से मुक्त हो गया हूँ।'

नागरिक धूर्त कट कर रह गया। सारे साक्षी भी कुछ न कह सके।

(३) वृक्ष—कुछ यात्री एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हुए मार्ग में एक सघन आम्र-वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिये ठहर गये। वृक्ष पर लगे हुए आमों को देखकर उनके मुँह में पानी भर आया। वे किसी प्रकार आम प्राप्त करने का उपाय सोचने लगे। वृक्ष पर बन्दर बैठे हुए थे और उनके डर से वृक्ष पर चढ़कर आम तोड़ना कठिन था। आखिर एक व्यक्ति की औत्पत्तिकी बुद्धि ने काम दिया और उसने पत्थर उठा-उठाकर बन्दरों की ओर फेंकना प्रारम्भ कर दिया। बंदर चंचल और नकलची होते ही हैं। पत्थरों के बदले पत्थर न पाकर पेड़ से आम तोड़-तोड़कर नीचे ठहरे हुए व्यक्तियों की ओर फेंकने लगे। पथिकों को और क्या चाहिये था, मन-मांगी मुराद पूरी हुई। सभी ने जी भरकर आम खाये और मार्ग पर आगे बढ़ गये।

(४) खुड्डग (अंगूठी)—राजगृह नामक नगर के राजा प्रसेनजित ने अपनी न्यायप्रियता एवं बुद्धिवल से समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी। वह निष्कंटक राज्य कर रहा था। प्रतापी राजा प्रसेनजित के बहुत से पुत्र थे। उनमें एक श्रेणिक नामक पुत्र समस्त राजोचित गुणों से सम्पन्न अति सुन्दर और राजा का विशेष प्रेमपात्र था। किन्तु राजा प्रकट रूप में उस पर अपना प्रेम प्रदर्शित नहीं करता था। राजा को डर था कि पिता का प्रेम-पात्र जानकर उसके अन्य भाई ईर्ष्यावश श्रेणिक को मार न डालें। किन्तु श्रेणिक बुद्धिसम्पन्न होने पर भी पिता से प्रेम व सम्मान न पाकर मन ही मन दुःखी व क्रोधित होते हुए घर छोड़ने का निश्चय कर बैठा। अपनी योजनानुसार एक दिन वह चुपचाप महल से निकल कर किसी अन्य देश में जाने के लिए रवाना हो गया।

चलते-चलते वह वेन्नातट नामक नगर में पहुंचा और एक व्यापारी की दूकान पर जाकर कुछ विश्राम के लिए ठहर गया। दुर्भाग्यवश उस व्यापारी का सम्पूर्ण व्यापार और वैभव नष्ट हो चुका था, किन्तु जिस दिन श्रेणिक उसकी दूकान पर जाकर बैठा उस दिन उसका संचित माल, जिसे कोई पूछता भी न था, बहुत ऊँचे भाव पर बिका तथा विदेशों से व्यापारियों के लाए हुए रत्न अल्प मूल्य में प्राप्त हो गये। इस प्रकार अचिन्त्य लाभ हुआ देखकर व्यापारी के मन में विचार आया 'आज मुझे जो महान् लाभ प्राप्त हुआ है इसका कारण निश्चय ही यह पुण्यवान् बालक है। आज यह मेरी दूकान पर आकर बैठा हुआ है। कोई बड़ी महान् आत्मा है यह। यों भी कितना सुन्दर और तेजस्वी दिखाई देता है।'

संयोगवश उसी रात्रि को सेठ ने स्वप्न में देखा था कि उसकी पुत्री का विवाह एक 'रत्नाकर' से हो रहा है और अगले दिन ही जब श्रेणिक उसकी दूकान पर आकर बैठा और दिन भर में लाभ भी आशातीत हुआ तो सेठ को लगा कि यही वह रत्नाकर है। मन ही मन प्रमुदित होकर व्यापारी ने श्रेणिक से पूछ लिया—"आप यहाँ किसके गृह में अतिथि बन कर आए हैं?" श्रेणिक ने बड़े मधुर और विनम्र स्वर में उत्तर दिया—"श्रीमान् ! मैं आपका ही अतिथि हूँ।" इस मधुर एवं आत्मीयतापूर्ण उत्तर को सुनकर सेठ का हृदय प्रफुल्लित हो गया। वह बड़े प्रेम से श्रेणिक को

अपने घर ले गया। उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणों से एवं भोजनादि से उसका सत्कार किया। घर में ही रहने का आग्रह किया। श्रेणिक को तो कहीं निवास करना ही था, वह उसी सेठ के यहाँ ठहर गया। सौभाग्यवश उसके पुण्य से सेठ की धन-सम्पत्ति, व्यापार एवं प्रतिष्ठा दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती गई तथा खोई हुई साख पुनः प्राप्त हो गई। परम आनन्द का अनुभव करते हुए सेठ ने कुछ ही दिनों के बाद श्रेणिक का विवाह अपनी सुयोग्य पुत्री नंदा के साथ कर दिया। पत्नी के साथ श्रेणिक सुखपूर्वक ससुराल में रहने लगा। कुछ ही समय के बाद नंदा गर्भवती हुई और यथाविधि गर्भ का संरक्षण करने लगी।

इधर बिना बताए श्रेणिक के चले जाने से राजा प्रसेनजित बहुत दुःखी हुए और चारों दिशाओं में उसकी खोज के लिए आदमी भेज दिये। पता लगने पर राजा ने कुछ सैनिक श्रेणिक को लिवा लाने के लिए वेन्नातट भेजे। सैनिकों ने जाकर श्रेणिक से प्रार्थना की—"महाराज प्रसेनजित आपके वियोग में बहुत व्याकुल हैं। कृपा करके आप शीघ्र ही राजगृह पधारें।" श्रेणिक ने राजपुरुषों की प्रार्थना स्वीकार करके राजगृह जाने का निश्चय किया तथा अपनी पत्नी नंदा की सहमति लेकर और अपना परिचय विस्तृत लिखकर एक दिन राजगृह की ओर प्रस्थान किया।

इधर नंदा के गर्भ में देवलोक से च्युत होकर आए हुए जीव के पुण्य-प्रभाव से एक दिन नंदादेवी को दोहद उत्पन्न हुआ कि—'मैं एक महान् हाथी पर आरूढ़ होकर नगर-जनों को धन-दान और अभय दान दूँ।' मन में यह भावना आने पर नंदा ने अपने पिता से अपनी इच्छा को पूर्ण करने की प्रार्थना की। पिता ने सहर्ष पुत्री के दोहद को पूर्ण किया। यथासमय नंदा की कुक्षि से एक अनुपम बालक ने जन्म लिया। बाल-रवि के समान सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित करने वाले बालक का जन्मोत्सव मनाया गया तथा उसका नाम 'अभयकुमार' रखा गया। समय व्यतीत हो चला तथा अभयकुमार ने प्रारंभिक ज्ञान से लेकर अनेक शास्त्रों का अभ्यास करते हुए समस्त कलाओं का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक दिन अकस्मात् ही अभयकुमार ने अपनी माता से पूछा—'माँ! मेरे पिता कौन हैं और कहाँ निवास करते हैं?' नंदा ने उपयुक्त समय समझकर अभयकुमार को उसके पिता श्रेणिक का परिचय-पत्र बताया तथा आद्योपान्त्य सारा वृत्तान्त भी कह सुनाया। पिता का परिचय पाकर अभयकुमार को अतीव प्रसन्नता हुई और वह उसी समय राजगृह जाने को व्यग्र हो उठा। माता के समक्ष उसने अपनी इच्छा व्यक्त करते हुए सार्थ के साथ राजगृह जाने की आज्ञा माँगी। नंदादेवी ने अभयकुमार के साथ स्वयं भी चलना चाहा। परिणामस्वरूप अभयकुमार अपनी माता सहित सार्थ के साथ राजगृह की ओर चल दिया।

चलते-चलते राजगृह के बाहर पहुँचे। अभयकुमार ने अपनी माता को सार्थ की सुरक्षा में, नगर के बाहर एक सुन्दर स्थान पर छोड़कर स्वयं नगर में प्रवेश किया। यह जानने के लिये कि शहर का वातावरण कैसा है और किस प्रकार राजा के समक्ष पहुँचा जा सकता है।

नगर में प्रविष्ट होते ही अभयकुमार ने देखा कि एक जलरहित कुएं के चारों ओर लोगों की भीड़ इकट्ठी हो रही है। अभयकुमार ने एक व्यक्ति से लोगों के इकट्ठे होने का कारण पूछा। उसने बताया—"इस सूखे कुएं में राजा की स्वर्ण-मुद्रिका गिर गई है और राजा ने घोषणा की है कि जो व्यक्ति कूप के तट पर खड़ा रहकर अपने हाथ से अँगूठी निकाल देगा उसे महान् पारितोषिक

दिया जायगा। किन्तु यहाँ खड़े हुए व्यक्तियों में से किसी को भी उपाय नहीं सूझ रहा है अँगूठी निकालने का।"

अभयकुमार ने उसी क्षण कहा—"अगर मुझे अनुमति मिले तो मैं अँगूठी निकाल दूँ।" उस व्यक्ति के द्वारा यह बात जानकर राजकर्मचारियों ने अभयकुमार से अँगूठी निकाल देने का अनुरोध किया। अभयकुमार ने सर्वप्रथम कुएं में झांककर अँगूठी को भलीभांति देखा। तत्पश्चात् कुछ ही दूर पर पड़ा हुआ गोबर उठाया और कुए में पड़ी हुई अँगूठी पर डाल दिया। अँगूठी गोबर में चिपक गई। कुछ समय पश्चात् गोबर के सूखने पर उसने कुए में पानी भरवाया और अँगूठी समेत उस गोबर के ऊपर तैर आने पर हाथ बढ़ाकर उसे निकाल लिया। एकत्रित लोग यह देखकर चकित और प्रसन्न हुए। अँगूठी निकलने का समाचार राजा तक पहुंचा। राजा ने अभयकुमार को बुलवाया और पूछा—"वत्स, तुम कौन हो, कहाँ के हो?"

अभयकुमार ने उत्तर दिया—"मैं आपका ही पुत्र हूँ।" यह कल्पनातीत उत्तर सुनकर राजा हैरान हो गया किन्तु पूछने पर अभयकुमार ने अपने जन्म से लेकर राजगृह में पहुंचने तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुनकर राजा को असीम प्रसन्नता हुई। उसने अपने बुद्धिमान् और सुयोग्य पुत्र को हृदय से लगा लिया। पूछा—'तुम्हारी माता कहाँ हैं?' अभयकुमार ने उत्तर दिया—'मैं उन्हें नगर से बाहर छोड़कर आया हूँ।'

यह सुनते ही राजा अपने परिजनों के साथ स्वयं रानी नंदा को लिवाने के लिये चल पड़ा। इधर अभयकुमार ने पहले ही पहुँचकर अपनी माता से पिता के मिलने का तथा उनके राजमहल से चल पड़ने का समाचार दे दिया। रानी नंदा हर्ष-विह्वल हो गई। इतने में ही महाराजा श्रेणिक भी आ पहुँचे। समग्र जनता हर्ष-विभोर थी। अपनी महारानी के दर्शन करके लोगों ने अति उत्साह व समारोह से उन्हें राजमहल में पहुँचाया। राजा ने औत्पत्तिकी बुद्धि के धनी अपने पुत्र अभयकुमार को मंत्रिपद प्रदान किया तथा सानन्द समय व्यतीत होने लगा।

(५) पट—दो व्यक्ति कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक सुन्दर व शीतल जल का सरोवर देखकर उनकी इच्छा स्नान करने की हो गई। दोनों ने अपने-अपने वस्त्र उतारकर सरोवर के किनारे रख दिये तथा स्नान करने के लिए सरोवर में उतर गये। उनमें से एक व्यक्ति जल्दी बाहर आ गया और अपने साथी का ऊनी कम्बल ओढ़कर चलता बना। जब दूसरे ने यह देखा तो वह घबरा-कर चिल्लाया—"अरे भाई, मेरा कम्बल क्यों लिए जा रहा है?" किन्तु पहले व्यक्ति ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब कम्बल का मालिक दौड़ता हुआ उसके पास गया। वह अपना कम्बल माँगने लगा, पर ले जाने वाले ने कम्बल नहीं दिया और दोनों में परस्पर झगड़ा हो गया। अन्ततोगत्वा यह झगड़ा न्यायालय में पेश हुआ। न्यायाधीश की समझ में नहीं आया कि कम्बल किसका है? न कम्बल पर नाम था और न ही कोई साक्षी था जो कम्बल वाले को पहचान सकता। किन्तु अचानक ही अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि के बल पर न्यायाधीश ने दो कंघियाँ मंगवाईं और दोनों के बालों में फिरवाईं। उससे मालूम हुआ कि जिस व्यक्ति का कम्बल था उसके बालों में ऊन के धागे थे और दूसरे के बालों में कपास के तन्तु। इस परीक्षा के बाद कम्बल उसके वास्तविक स्वामी को दिलवा दिया गया। दूसरे को अपराध के अनुसार दंड मिला।

(६) सरट (गिरगिट)—एक बार एक व्यक्ति जंगल में जा रहा था। उसे शौच की हाजत

हुई । शीघ्रता में वह जमीन पर एक विल देखकर, उसी पर शरीर-चिन्ता की निवृत्ति के लिए बैठ गया । अकस्मात् वहाँ एक गिरगिट आ गया और उस व्यक्ति के गुदा भाग को स्पर्श करता हुआ विल में घुस गया । शौचार्थ बैठे हुए व्यक्ति के मन में यह समा गया कि निश्चय ही गिरगिट मेरे पेट में प्रविष्ट हो गया है । वात उसके दिल में जम गई और वह इसी चिन्ता में घुलने लगा । वहुत उपचार कराने पर भी जव स्वस्थ नहीं हो सका तो एक दिन फिर किसी अनुभवी वैद्य के पास पहुँचा ।

वैद्य ने नाडी-परीक्षा के साथ-साथ अन्य प्रकार से भी उसके शरीर की जांच की, किन्तु कोई भी बीमारी प्रतीत न हुई । तव वैद्य ने उस व्यक्ति से पूछा—"तुम्हारी ऐसी स्थिति कवसे चल रही है ?" व्यक्ति ने आद्योपान्त्य समस्त घटित घटना कह सुनाई । वैद्य ने जान लिया कि यह भ्रमवश घुल रहा है । उसकी वुद्धि औत्पत्तिकी थी । अतः व्यक्ति के रोग का इलाज भी उसी क्षण उसके मस्तिष्क में आ गया ।

वैद्यजी ने कहीं से एक गिरगिट पकड़वा मंगाया । उसे लाक्षारस से अवलिप्त कर एक भाजन में डाल दिया । तत्पश्चात् रोगी को विरेचन की औषधि दी और कहा—"तुम इस पात्र में शौच जाओ ।" व्यक्ति ने ऐसा ही किया । वैद्य उस भाजन को प्रकाश में उठा लाया और उस व्यक्ति को गिरगिट दिखा कर वोला—"देखो ! यह तुम्हारे पेट में से निकल आया है ।" व्यक्ति को संतोप हो गया और इसी विश्वास के कारण वह बहुत जल्दी स्वास्थ्य-लाभ करता हुआ पूर्ण नीरोग हो गया ।

(७) काक—वेन्नातट नगर में भिक्षा के लिए भ्रमण करते समय एक बौद्धभिक्षु को जैन मुनि मिल गये । वौद्ध भिक्षु ने उपहास करते हुए जैन मुनि से कहा—"मुनिराज ! तुम्हारे अर्हन्त सर्वज्ञ हैं और तुम उनके पुत्र हो तो वताओ इस नगर में वायस अर्थात् कौए कितने हैं ?"

जैन मुनि ने भिक्षु की धूर्तता को समझ लिया और उसे सीख देने के इरादे से अपनी औत्पत्तिकी वुद्धि का प्रयोग करते हुए कहा—"भंते, इस नगर में साठ हजार—कौए हैं, और यदि कम हैं तो इनमें से कुछ वाहर मेहमान बन कर चले गए हैं और यदि अधिक हैं तो कहीं से मेहमान के रूप में आए हुए हैं । अगर आपको इसमें शंका हो तो गिनकर देख लीजिये ।"

जैन मुनि की बुद्धिमत्ता के समक्ष भिक्षु लज्जावनत होकर वहाँ से चल दिया ।

(८) उच्चार-मल-परीक्षा—एक वार एक व्यक्ति अपनी नवविवाहिता, सुन्दर पत्नी के साथ कहीं जा रहा था । रास्ते में उन्हें एक धूर्त व्यक्ति मिला । कुछ समय साथ चलने एवं वार्तालाप करने से नववधू उस धूर्त पर आसक्त हो गई और उसके साथ जाने के लिए भी तैयार हो गई । धूर्त ने कहना शुरू कर दिया कि यह स्त्री मेरी है । इस बात पर दोनों में झगड़ा शुरू हो गया । अन्त में विवाद करते हुए वे न्यायालय में पहुँचे । दोनों स्त्री पर अपना अधिकार वता रहे थे । यह देखकर न्यायाधीश ने पहले तो तीनों को अलग-अलग कर दिया । तत्पश्चात् स्त्री के पति से पूछा—'तुमने कल क्या खाना खाया था ?' स्त्री के पति ने कहा—"मैंने और मेरी पत्नी ने कल तिल के लड्डू खाए थे ।" न्यायाधीश ने धूर्त से भी यही प्रश्न किया और उसने कुछ अन्य खाद्य पदार्थों के नाम बताये । न्यायाधीश ने स्त्री और धूर्त को विरेचन देकर जाँच करवाई तो स्त्री के मल में तिल दिखाई दिए, किन्तु धूर्त के नहीं । इस आधार पर न्यायाधीश ने असली पति को उसकी पत्नी सौंप दी तथा धूर्त को उचित दंड देकर अपनी औत्पत्तिकी वुद्धि का परिचय दिया ।

(६) गज—किसी राजा को एक बुद्धिमान् मंत्री की आवश्यकता थी । अत्यन्त मेधावी एवं औत्पत्तिकी बुद्धि के धनी व्यक्ति की खोज व परीक्षा करने के लिए राजा ने एक बलवान् हाथी को चौराहे पर बाँध दिया और घोषणा करवादी कि—"जो व्यक्ति इस हाथी को तोल देगा उसे बहुत बड़ी वृत्ति दी जायगी।"

हाथी का तौल करना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं थी । धीरे-धीरे लोग वहां से खिसकने लगे। किन्तु कुछ समय पश्चात् एक व्यक्ति वहाँ आया और उसने सरोवर में नाव डलवाकर हाथी को ले जाकर उस पर चढ़ा दिया। हाथी के वजन से नाव पानी में जितनी डूबी, वहाँ पर उस व्यक्ति ने निशान लगा दिया। तत्पश्चात् हाथी को उतारकर नाव में उतने पत्थर भरे, जितने से नाव पूर्व चिह्नित स्थान तक डूबी। उसके बाद पत्थर निकालकर उन्हें तौल लिया। जितना वजन पत्थरों का हुआ, वही तौल हाथी का है, ऐसा राजा को सूचित कर दिया। राजा ने उस व्यक्ति को विलक्षण बुद्धि की प्रशंसा की तथा उसे अपनी मंत्री-परिषद् का प्रधान बना दिया।

(१०) घयण (भाँड़)—किसी राजा के दरबार में एक भाँड़ रहा करता था। राजा उससे प्रेम किया करता था। वह राजा का मुँहलगा हो गया था। राजा सदैव उसके समक्ष अपनी महारानी की प्रशंसा किया करता था और कहता था कि वह बड़ी ही आज्ञाकारिणी है। किन्तु एक दिन भांड़ ने कह दिया—"महाराज! रानी स्वार्थवश ऐसा करती हैं। विश्वास न हो तो परीक्षा करके देख लीजिए।"

राजा ने भाँड़ के कथनानुसार एक दिन रानी से कहा—"देवी! मेरी इच्छा है कि मैं दूसरी शादी करलूँ और उस रानी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न हो उसे राज्य का उत्तराधिकारी बनाऊं।" रानी ने उत्तर दिया—"महाराज! दूसरा विवाह आप भले ही करलें किन्तु राज्याधिकारी तो परम्परा के अनुसार पहला राजकुमार ही हो सकता है।" राजा भाँड़ की बात को ठीक समझकर हँस पड़ा। रानी ने हँसने का कारण पूछा तो राजा ने भाँड़ की बात कह दी। रानी को यह जानकर बड़ा क्रोध आया। उसने उसी समय राजा के द्वारा भाँड़ को देश-निकाले की आज्ञा दिलवा दी।

देश-परित्याग की आज्ञा में रानी का हाथ जानकर भाँड़ ने बहुत से जूतों की एक गठरी बाँधी और उसे मस्तक पर रखकर रानी के दर्शनार्थ उनके भवन पर जा पहुँचा। रानी ने आश्चर्य-पूर्वक पूछा—"सिर पर यह क्या उठा रखा है?" भाँड़ ने उत्तर दिया—'महारानी जी! इस गठरी में जूतों के जोड़े हैं। इनको पहन कर जिन-जिन देशों में जा सकूंगा, उन-उन देशों तक आपका अपयश फैला दूँगा।"

भाँड़ की यह बात सुनकर रानी घबरा गई और देश-परित्याग के आदेश को वापिस ले लिया गया। भाँड़ अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि के प्रयोग से सानन्द वहीं रहने लगा।

(११) गोलक (लाख की गोली)—किसी बालक ने खेलते हुए कौतूहलवश लाख की एक गोली नाक में डाल ली। गोली अन्दर जाकर श्वास की नली में अटक गई और बच्चे को सांस लेने में रुकावट होने के कारण तकलीफ होने लगी। उसके माता-पिता बहुत घबराये। इतने में एक सुनार वहाँ से निकला और उसने समग्र वृत्तान्त सुनकर उपाय ढूँढ़ निकला। एक बारीक लोह-शलाका मंगवाई गई और सुनार ने उसके अग्रभाग को गरम करके बड़ी सावधानी से बालक की नाक में

डाला। गर्म होने के कारण लाख की गोली शलाका के अग्रभाग में चिपक गई और सुनार ने उसे सावधानी से बाहर निकाल लिया। यह उदाहरण स्वर्णकार की औत्पत्तिकी बुद्धि का परिचायक है।

(१२) खंभ—एक राजा को अत्यन्त बुद्धिमान् मंत्री की आवश्यकता थी। बुद्धिमत्ता की परीक्षा करने के लिए उसने एक विस्तीर्ण और गहरे तालाव में एक ऊँचा खंभा गड़वा दिया। तत्पश्चात् घोषणा करवादी कि—"जो व्यक्ति पानी में उतरे विना किनारे पर रहकर ही इस खंभे को रस्सी से वाँध देगा उसे एक लाख रुपया इनाम में दिया जाएगा।"

यह घोषणा सुनकर लोग टुकुर-टुकुर एक दूसरे की ओर देखने लगे। किसी से यह कार्य नहीं हो सका। किन्तु आखिर एक व्यक्ति वहाँ आया जिसने इस कार्य को सम्पन्न करने का वीड़ा उठाया। उस व्यक्ति ने तालाव के किनारे पर एक जगह मजवूत खूँटी गाड़ी और उससे रस्सी का एक सिरा बाँध दिया। उसके बाद वह रस्सी के दूसरे सिरे को पकड़कर तालाव के चारों ओर घूम गया। ऐसा करने पर खंभा वीच में वंध गया। राजकर्मचारियों ने यह समाचार राजा को दिया। राजा उस व्यक्ति की औत्पत्तिकी बुद्धि से वहुत प्रसन्न हुआ और एक लाख रुपया देने के साथ ही उसे अपना मंत्री भी बना लिया।

(१३) क्षुल्लक—वहुत समय पहले की वात है, किसी नगर में एक संन्यासिनी रहती थी। उसे अपने आचार-विचार पर बड़ा गर्व था। एक वार वह राजसभा में जा पहुँची और वोली—"महाराज, इस नगर में कोई ऐसा नहीं है जो मुझे परास्त कर सके।" संन्यासिनी की दर्प भरी वात सुनकर राजा ने उसी समय नगर में घोषणा करवादी कि जो कोई इस संन्यासिनी को परास्त करेगा उसे राज्य की ओर से सम्मानित किया जाएगा। घोषणा सुनकर और तो कोई नगरवासी नहीं आया, किन्तु एक क्षुल्लक सभा में आया और वोला—"मैं इसे परास्त कर सकता हूँ।"

राजा ने आज्ञा दे दी। संन्यासिनी हँस पड़ी और वोली—"इस मुंडित से मेरा क्या मुकावला?" क्षुल्लक गंभीर था वह संन्यासिनी की धूर्तता को समझ गया और उसके साथ उसी तरह पेश आने का निश्चय करके बोला—"जैसा मैं करूँ अगर वैसा ही तुम नहीं करोगी तो परास्त मानी जाओगी।" यह कहकर उसने समीप ही वैठे मंत्री का हाथ पकड़कर उसे सिंहासन से उतार कर नीचे खड़ा कर दिया और अपना परिधान उतार कर उसे ओढ़ा दिया। तत्पश्चात् संन्यासिनी से भी ऐसा ही करने के लिए कहा। किन्तु संन्यासिनी आवरण रहित नहीं हो सकती थी, अतः लज्जित व पराजित हाकर वहाँ से चल दी। क्षुल्लक की औत्पत्तिकी बुद्धि का यह उदाहरण है।

(१४) मार्ग—एक पुरुष अपनी पत्नी के साथ रथ में बैठकर किसी अन्य ग्राम को जा रहा था। मार्ग में एक जगह रथ को रुकवा कर स्त्री लघुशंका-निवारण के लिये किसी झाड़ी की ओट में चली गई। इधर पुरुष जहाँ था वहीं पर एक वृक्ष पर किसी व्यन्तरी का निवास था। वह पुरुष के रूप पर मोहित होकर उसकी स्त्री का रूप वना आई और आकर रथ में बैठ गई। रथ चल दिया किन्तु उसी समय झाड़ियों के दूसरी ओर गई हुई स्त्री आती दिखाई दी। उसे देखकर रथ में वैठी हुई व्यन्तरी बोली—"अरे, वह सामने से कोई व्यन्तरी मेरा रूप धारण कर आती हुई दिखाई दे रही है। आप रथ को द्रुत गति से ले चलिये।"

पुरुष ने रथ की गति तेज करदी किन्तु तब तक स्त्री पास आ गई थी और वह रथ के साथ-साथ दौडती हुई रो-रोकर कह रही थी—"रथ रोको स्वामी! आपके पास जो वैठी है वह तो कोई

व्यन्तरी है जिसने मेरा रूप बना दिया है।" यह सुनकर पुरुष भौंचक्का रह गया। वह समझ नहीं पाया कि क्या करूँ, किन्तु रथ की गति उसने धीरे-धीरे कम कर दी।

इसी बीच अगला गाँव निकट आ गया था अतः दोनों स्त्रियों का झगड़ा ग्राम-पंचायत में पहुंचाया गया। पंच ने दोनों स्त्रियों के झगड़े को सुनकर अपनी बुद्धि से काम लेते हुए दोनों को उस पुरुष से बहुत दूर खड़ा कर दिया। कहा—"जो स्त्री पहले इस पुरुष को छू लेगी उसी को इस पुरुष की पत्नी माना जायगा।"

यह सुनकर असली स्त्री तो दौड़कर अपने पति को छूने का प्रयत्न करने लगी, किन्तु व्यन्तरी ने वैक्रिय-शक्ति के द्वारा अपने स्थान से ही हाथ लम्बा किया और पुरुष को छू दिया। न्यायकर्ता ने समझ लिया कि यही व्यन्तरी है। व्यन्तरी को भगाकर उस पुरुष को उसकी पत्नी सौंप दी गई। यह न्यायकर्ता की औत्पत्तिकी बुद्धि का उदाहरण है।

(१५) स्त्री—एक समय मूलदेव और पुण्डरीक दो मित्र कहीं जा रहे थे। उसी मार्ग से एक अन्य पुरुष भी अपनी पत्नी के साथ चला जा रहा था। पुण्डरीक उस स्त्री को देखकर उस पर मुग्ध हो गया तथा अपने मित्र मूलदेव से बोला—"मित्र ! यदि यह स्त्री मुझे मिलेगी तो मैं जीवित रहूँगा, अन्यथा मेरी मृत्यु निश्चित है।"

मूलदेव यह सुनकर परेशान हो गया। मित्र का जीवन बचाने की इच्छा से उसे साथ लेकर एक अन्य पगडंडी से चलता हुआ उस युगल के आगे पहुँचा तथा एक झाड़ी में पुण्डरीक को बिठाकर स्वयं पुरुष के समीप जा पहुंचा और बोला—"भाई ! मेरी स्त्री के इस समीप की झाड़ी में ही बालक उत्पन्न हुआ है। अतः अपनी पत्नी को तनिक देर के लिए वहाँ भेज दो।" पुरुष ने मूलदेव को वास्तव में ही संकटग्रस्त समझा और अपनी पत्नी को झाड़ी की ओर भेज दिया। वह झाड़ी में बैठे पुण्डरीक की तरफ गई किन्तु थोड़ी देर में ही लौट कर वापिस आ गई तथा मूलदेव से हँसते हुए कहने लगी—"आपको वधाई है। बड़ा सुन्दर बच्चा पैदा हुआ है।" यह सुनकर मूलदेव बहुत शर्मिन्दा हुआ और वहाँ से चल दिया। यह उदाहरण मूलदेव और उस स्त्री की औत्पत्तिकी बुद्धि का प्रमाण है।

(१६) पति—किसी गाँव में दो भाई रहते थे पर उन दोनों की पत्नी एक ही थी। स्त्री बड़ी चतुर थी अतः कभी यह जाहिर नहीं होने देती थी कि अपने दोनों पतियों में से किसी एक पर उसका अनुराग अधिक है। इस कारण लोग उसकी बड़ी प्रशंसा करते थे। धीरे-धीरे यह बात राजा के कानों तक पहुँची और वह बड़ा विस्मित हुआ। किन्तु मन्त्री ने कहा—"महाराज ! ऐसा कदापि नहीं हो सकता। उस स्त्री का अवश्य ही एक पर प्रेम अधिक होगा।" राजा ने पूछा—"यह कैसे जाना जाए ?" मन्त्री ने उत्तर दिया—"देव ! मैं शीघ्र ही यह जानने का उपाय करूँगा।"

एक दिन मन्त्री ने उस स्त्री के पास सन्देश लिखकर भेजा कि वह अपने दोनों पतियों को पूर्व और पश्चिम दिशा में अमुक-अमुक ग्रामों में भेजे। ऐसा संदेश प्राप्त कर स्त्री ने अपने उस पति को, जिस पर कम राग था, पूर्ववर्त्ती गाँव में भेज दिया और जिस पर अधिक स्नेह था उसे पश्चिम के गाँव में भेजा। पूर्व की ओर जाने वाले पति को जाते और आते दोनों बार सूर्य का ताप सामने रहा। पश्चिम की ओर जाने वाले के लिए सूर्य दोनों समय पीठ की तरफ था। इससे सिद्ध हुआ कि स्त्री का पश्चिम की ओर जाने वाले पति पर अधिक अनुराग था। किन्तु राजा ने इस बात को

स्वीकार नहीं किया, क्योंकि दोनों को दो दिशाओं में जाना आवश्यक था, अतः कोई विशेषता ज्ञात नहीं होती थी। इस पर मंत्री ने दूसरे उपाय से परीक्षा लेना तय किया।

अगले दिन ही मंत्री ने पुनः एक संदेश दो पतियों वाली उस स्त्री के लिये भेजा कि वह अपने पतियों को एक ही समय दो अलग-अलग गाँवों में भेजे। स्त्री ने फिर उसी प्रकार दोनों को दो गांवों में भेज दिया किन्तु कुछ समय बाद मन्त्री के द्वारा भेजे हुए दो व्यक्ति एक साथ ही उस स्त्री के पास आए और उन्होंने उसके दोनों पतियों को अस्वस्थता के समाचार दिये। साथ ही कहा कि जाकर उनकी सार-सम्हाल करो।

पतियों के समाचार पाने पर जिसके प्रति उसका स्नेह कम था, उसके लिए स्त्री बोली— "यह तो हमेशा ऐसे ही रहते हैं।" और दूसरे के लिए बोली—"उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा होगा। मैं पहले उनकी ओर ही जाती हूँ।" ऐसा कहकर कह पहले पश्चिम की ओर रवाना हो गई। इस प्रकार एक पति के लिए उसका अधिक प्रेम मन्त्री की औत्पत्तिकी बुद्धि से साबित हो गया और राजा बहुत सन्तुष्ट हुआ।

(१७) पुत्र—किसी नगर में एक व्यापारी रहता था। उसकी दो पत्नियाँ थीं। एक के पुत्र उत्पन्न हुआ पर दूसरी वन्ध्या ही रही। किन्तु वह भी बच्चे को बहुत प्यार करती थी तथा उसकी देख-भाल रखती थी। इस कारण बच्चा यह नहीं समझ पाता था कि मेरी असली माता कौन सी है? एक बार व्यापारी अपनी पत्नियों के और पुत्र के साथ देशान्तर में गया। दुर्भाग्य से मार्ग में व्यापारी की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात् दोनों स्त्रियों में पुत्र के लिए विवाद हो गया। एक कहती—"बच्चा मेरा है, अतः घर-बार की मालकिन मैं हूँ।" दूसरी कहती—"नहीं, पुत्र मेरा है, इसलिए पति की सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी मैं हूँ।" विवाद बहुत बढ़ा और न्यायालय में पहुँचा। न्यायकर्ता बहुत चक्कर में पड़ गया कि बच्चे की असली माता की पहचान कैसे करें! किन्तु तत्काल ही उसकी औत्पत्तिकी बुद्धि ने साथ दिया और उसने कर्मचारियों को आज्ञा दी—

"पहले इन दोनों में व्यापारी की सम्पत्ति बाँट दो और उसके बाद इस लड़के को आरी से काटकर आधा-आधा दोनों को दे दो।" यह आदेश पाकर एक स्त्री तो मौन रही, किन्तु दूसरी बाण-विद्ध हरिणी की तरह छटपटाती और बिलखती हुई बोल उठी—"नहीं! नहीं!! यह पुत्र मेरा नहीं है, इसका ही है। इसे ही सौंप दिया जाय। मुझे धन-सम्पत्ति भी नहीं चाहिये। वह भी इसे ही दे दें। मैं तो दरिद्र अवस्था में रहकर दूर से ही बेटे को देखकर सन्तुष्ट रह लूँगी।"

न्यायाधीश ने उस स्त्री के दुख को देखकर जान लिया कि यही बच्चे की असली माता है। इसलिये यह धन-सम्पत्ति आदि किसी भी कीमत पर अपने पुत्र की मृत्यु सहन नहीं कर सकती। परिणामस्वरूप बच्चा और साथ ही व्यापारी की सब संपत्ति भी असली माता को सौंप दी गई। वन्ध्या स्त्री को उसकी धूर्तता के कारण धक्के मारकर भगा दिया गया। यह न्यायाधीश की औत्पत्तिकी बुद्धि है।

(१८) मधु-सित्थ (मधु छत्र)—एक जुलाहे की पत्नी का आचरण ठीक नहीं था। एक बार जुलाहा किसी अन्य ग्राम को गया तो उसने किसी दुराचारी पुरुष के साथ गलत संबंध बना लिया। वहाँ उसने जाल-वृक्षों के मध्य एक मधु छत्ता देखा किन्तु उसकी ओर विशेष ध्यान दिये बिना वह

घर लौट आई। ग्राम से लौटकर एक बार संयोगवश जुलाहा मधु खरीदने के लिए बाजार जाने को तैयार हुआ। यह देखकर स्त्री ने उसे रोका और कहा—"तुम मधु खरीदते क्यों हो ? मैं मधु का एक विशाल छत्ता ही तुम्हें बताए देती हूँ।" ऐसा कहकर वह जुलाहे को जाल वृक्षों के पास ले गई पर वहाँ छत्ता दिखाई न देने पर उस स्थान पर पहुँची जहाँ घने वृक्ष थे। और पिछले दिन उसने अनाचार का सेवन किया था। वहीं पर छत्ता था जो उसने पति को दिखा दिया।

जुलाहे ने छत्ता देखा पर साथ ही उस स्थान का निरीक्षण भी कर लिया। अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि से वह समझ गया कि इस स्थान पर उसकी स्त्री निरर्थक नहीं आ सकती। निश्चय ही यहाँ आकर यह दुराचार-सेवन करती है।

(१९) मुद्रिका—किसी नगर में एक ब्राह्मण रहता था। नगर में प्रसिद्ध था कि वह बड़ा सत्यवादी है और कोई अपनी किसी भी प्रकार की धरोहर उसके पास रख जाता है तो, चाहे कितने भी समय के बाद माँगे, वह ब्राह्मण पुरोहित तत्काल लौटा देता है। यह सुनकर एक द्रमक—गरीब व्यक्ति ने अपनी हजार मोहरों की थैली उस पुरोहित के पास धरोहर के रूप में रख दी और स्वयं देशान्तर में चला गया। बहुत समय पश्चात् जब वह लौटा तो पुरोहित से अपनी थैली माँगने आया। किन्तु ब्राह्मण ने कहा—

"तू कौन है ? कहाँ से आया है ? कैसी तेरी धरोहर !"

बेचारा गरीब व्यक्ति ऐसा टका-सा जवाब पाकर पागल-सा हो गया और "मेरी हजार मोहरों की थैली" इन शब्दों का बार-बार उच्चारण करता हुआ नगर भर में घूमने लगा।

एक दिन उस व्यक्ति ने राज्य के मंत्री को कहीं जाते हुए देखा तो उनसे ही कह बैठा—"पुरोहित जी ! मेरी हजार मोहरों की थैली, जो आपके पास धरोहर में रखी है, लौटा दीजिए।" मंत्री उस दरिद्र व्यक्ति की बात सुनकर चकराया पर समझ गया कि 'दाल में कुछ काला है।' इस व्यक्ति को किसी ने धोखा दिया है। वह द्रवित हो गया और राजा के पास पहुंचा। राजा ने जब उस दीन व्यक्ति की करुण- कथा सुनी तो उसे और पुरोहित दोनों को बुलवा भेजा। दोनों राजसभा में उपस्थित हुए तो राजा ने पुरोहित से कहा—"ब्राह्मण देवता ! तुम इस व्यक्ति की धरोहर लौटाते क्यों नही हो ?" पुरोहित ने राजा से भी यही कहा—"महाराज ! मैंने इसे कभी नहीं देखा और न ही इसकी कोई धरोहर मेरे पास है।" यह सुनकर राजा चुप रह गया और पुरोहित भी उठकर घर को रवाना हो गया। इसके बाद राजा ने द्रमक को बहुत दिलासा देकर शान्त किया और पूछा—"क्या सचमुच ही पुरोहित के यहाँ तुमने मोहरों की थैली धरोहर के रूप में रखी थी ?" द्रमक ने जब राजा से आश्वासन पाया तो उसकी बुद्धि कुछ ठिकाने आई और उसने अपनी सारी कहानी तथा धरोहर रखने का दिन, समय, स्थान आदि सब बता दिया। राजा बुद्धिमान् था अतः उसने धूर्त पुरोहित को धूर्तता से ही पराजित करने का विचार किया।

एक दिन उसने पुरोहित को बुलाया तथा उसके साथ शतरंज खेलने में मग्न हो गया। खेलते-खेलते ही दोनों ने आपस में अंगूठियाँ बदल लीं। राजा ने मौका देखकर पुरोहित को पता न लगे, इस प्रकार एक व्यक्ति को पुरोहित की अंगूठी देकर उसके घर भेज दिया और ब्राह्मणी को कहलाया कि "यह अंगूठी पुरोहित जी ने निशानी के लिए भेजी है। कहलवाया है कि अमुक दिन,

अमुक समय पर द्रमक के पास से ली हुई एक हजार सुवर्ण मुद्राओं से भरी हुई थैली, जो अमुक स्थान पर रखी है, शीघ्र ही इस व्यक्ति के साथ भिजवा देना।"

ब्राह्मणी ने पुरोहित की नामांकित अंगूठी लाने वाले को थैली दे दी। सेवक ने राजा को लाकर सौंप दी। राजा ने दूसरी भी बहुत-सी थैलियाँ मंगवाई। उनके बीच में द्रमक की थैली रख दी और उसे अपने पास बुलवाया। द्रमक ने आते ही अपनी थैली पहचान ली और कहा—"महाराज ! मेरी थैली यह है।" राजा ने थैली उसके मालिक को दे दी तथा पुरोहित की जिह्वा छेद कर वहाँ से निकाल दिया। यह उदाहरण राजा की औत्पत्तिकी बुद्धि का परिचायक है।

(२०) अङ्क—एक व्यक्ति ने किसी साहूकार के पास एक हजार रुपयों से भरी हुई नोली धरोहर के रूप में रख दी। वह देशान्तर में भ्रमण करने चला गया। उसके जाने के बाद साहूकार ने नोली के नीचे के भाग को बड़ी सफाई से काटकर उसमें खोटे रुपये भर दिये और नोली को सी दिया। कुछ समय पश्चात् नोली का मालिक लौटा और साहूकार से नोली लेकर अपने घर चला गया। घर जाकर जब उसने नोली में से रुपये निकाले तो खोटे रुपये निकले। यह देखकर वह बहुत घबराया और न्यायालय में पहुँचकर न्यायाधीश को अपना दुःख सुनाया। न्यायाधीश ने उस व्यक्ति से पूछा—"तेरी नोली में कितने रुपये थे ?" "एक हजार" उस व्यक्ति ने उत्तर दिया। तब न्यायाधीश ने खोटे रुपये निकालकर नोली में असली रुपये भरे, केवल उतने शेष रहे जितनी जगह काटकर सी दी गई थी। न्यायकर्ता ने इससे अनुमान लगाया कि अवश्य ही इसमें खोटे रुपये डाले गये हैं। इस पर साहूकार से हजार रुपये उस व्यक्ति को दिलवाए गये तथा साहूकार को न्यायकर्त्ता ने यथोचित दंड देकर अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि का परिचय दिया।

(२१) नाणक—एक व्यक्ति ने किसी सेठ के यहाँ एक हजार सुवर्ण-मोहरों से भरी हुई थैली मुद्रित करके धरोहर रूप में रख दी और देशान्तर में चला गया। कुछ समय बीत जाने पर सेठ ने थैली में से शुद्ध सोने की मोहरें निकालकर नकली मोहरें भर दीं तथा तथा पुनः थैली सीकर मुद्रित कर दी। कई वर्ष पश्चात् जब मोहरों का स्वामी आया तो सेठ ने थैली उसे थमा दी। व्यक्ति ने अपनी थैली पहचानी और अपने नाम से मुद्रित भी देखकर घर लौट आया। किन्तु घर आकर जब मोहरें निकाली तो पाया कि थैली में उसकी असली मोहरें नहीं अपितु नकली मोहरें भरी थीं। वह घबराकर सेठ के पास आया। बोला—"सेठजी ! मेरी मोहरें असली थीं किन्तु इसमें से तो नकली निकली हैं।" सेठ ने उत्तर दिया—"मैं असली नकली कुछ नहीं जानता। मैंने तो तुम्हारी थैली जैसी की तैसी वापिस कर दी है।" पर वह व्यक्ति हजार मोहरों की हानि कैसे सह सकता था ! वह न्यायालय जा पहुँचा।

न्यायाधीश ने दोनों के बयान लिये तथा सारी घटना समझी। उसने थैली के मालिक से पूछा—"तुमने किस वर्ष सेठ के पास थैली रखी थी ?" व्यक्ति ने वर्ष और दिन बता दिया। तब न्यायाधीश ने मोहरों की परीक्षा की और पाया कि भरी हुई मोहरें नई बनी थीं। वह समझ गया कि मोहरें बदली गई हैं। उसने सेठ से असली मोहरें मंगवाकर उस व्यक्ति को दिलवाई तथा दण्ड भी दिया। इस प्रकार न्यायाधीश ने अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि से सही न्याय किया।

(२२) भिक्षु—किसी व्यक्ति ने एक संन्यासी के पास एक हजार सोने की मोहरें धरोहर के रूप में रखीं। वह विदेश में चला गया। कुछ समय बाद लौटा और आकर भिक्षु से अपनी धरोहर

माँगी। किन्तु भिक्षु टाल-मटोल करने लगा और आज-कल करके समय निकालने लगा। व्यक्ति बड़ी चिन्ता में था कि किस प्रकार भिक्षु से अपनी अमानत निकलवाऊँ।

संयोगवश एक दिन उसे कुछ जुआरी मिले। बातचीत के दौरान उसने अपनी चिन्ता उन्हें कह सुनाई। जुआरियों ने उसे आश्वासन देते हुए उसकी अमानत भिक्षु से निकलवा देने का वायदा किया और कुछ संकेत करके चले गये। अगले दिन जुआरी गेरुए रंग के कपड़े पहन, संन्यासी का वेश बनाकर उस भिक्षु के पास पहुँचे और बोले—"हमारे पास ये सोने की कुछ खूंटियाँ हैं, आप इन्हें अपने पास रखलें। हमें विदेश-भ्रमण के लिए जाना है। आप बड़े सत्यवादी महात्मा हैं, अतः आपके पास ही धरोहर रखने आए हैं।"

साधु-वेशधारी वे जुआरी भिक्षु से यह बात कह ही रहे थे कि उसी समय वह व्यक्ति भी पूर्व संकेतानुसार वहाँ आ गया और बोला—"महात्मा जी! वह हजार मोहरों वाली थैली मुझे वापिस दे दीजिए।"

भिक्षु संन्यासियों के सामने अपयश के कारण तथा सोने की खूंटियों के लोभ के कारण पहले के समान इन्कार नहीं कर सका और अन्दर जाकर हजार मोहरों वाली थैली ले आया। थैली उसके स्वामी को मिल गई। वे धूर्त संन्यासी किसी विशेष कार्य याद आ जाने का बहाना कर चलते बने। जुआरियों की औत्पत्तिकी बुद्धि के कारण उस व्यक्ति को अपनी अमानत वापिस मिल गई। धूर्त भिक्षु हाथ मलता रह गया।

(२३) चेटकनिधान—दो व्यक्ति आपस में घनिष्ठ मित्र थे। एक बार वे दोनों शहर से बाहर जंगल में गये हुए थे कि अचानक उन्हें वहाँ एक गड़ा हुआ निधान उपलब्ध हो गया। दोनों निधान पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उनमें से एक ने कहा—"मित्र! हम बड़े भाग्यवान् हैं जो अकस्मात् ही हमें निधान मिल गया। पर इसे हम आज नहीं, कल यहाँ से ले चलेंगे। कल का दिन बड़ा शुभ है।" दूसरे मित्र ने सहज ही उसकी बात मान ली और दोनों अपने-अपने घर आ गए। किन्तु जिसने धन अगले दिन लाने का सुझाव दिया था वह बड़ा मायावी और धूर्त था। वह रात को ही पुनः जंगल में गया और सारा धन वहाँ से निकालकर उस स्थान पर कोयले भर कर चला आया।

अगले दिन दोनों पूर्व निश्चयानुसार निधान की जगह पहुँचे पर धन होता तो मिलता। वहाँ तो कोयले ही कोयले थे। यह देखकर कपटी मित्र सिर और छाती पीट-पीट कर रोने और कहने लगा—

"हाय, हम कितने भाग्यहीन हैं कि दैव ने धन देकर भी हमसे छीन लिया और उसे कोयला कर दिया।" इसी तरह बार-बार कहता हुआ वह चोर नजरों से मित्र की ओर देखता जाता था कि उस पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है! दूसरा मित्र सरल अवश्य था किन्तु इतना मूर्ख नहीं था। अपने मित्र के बनावटी विलाप को वह समझ गया और उसे विश्वास हो गया कि इस धूर्त ने ही धन निकालकर यहाँ कोयले भर दिये हैं। फिर भी उसने अपने कपटी मित्र को सान्त्वना देते हुए कहा—"मित्र! रोओ मत, अब दुःख करने से निधान वापिस थोड़े ही आएगा!" तत्पश्चात् दोनों अपने-अपने घर लौट आए, किन्तु सरल स्वभावी मित्र ने भी अपने मायावी मित्र को सबक सिखाने का निश्चय कर लिया। उसने एक प्रतिमा उसकी बनवाई जो बिल्कुल उसी की शक्ल से मिलती थी। धूर्त मित्र की प्रतिमा को उसने अपने घर पर रख लिया और दो बंदर पाले। वह बंदरों के खाने

योग्य पदार्थ उसी प्रतिमा के मस्तक पर, कन्धों पर, हाथों पर, जंघा पर तथा पैरों पर रख देता था। बन्दर उन स्थानों पर से भोज्य-पदार्थ खा जाते तथा प्रतिमा पर उछल-कूद करते रहते। इस प्रकार वे प्रतिमा की शक्ल को पहचान गये और उससे खूब खेलने लगे।

कुछ दिन बीतने पर एक पर्व के दिन उस भले मित्र ने अपने मायावी मित्र के यहाँ जाकर उससे कहा—"आज त्यौहार का दिन है। अपने दोनों पुत्रों को मेरे साथ भोजन करने के लिए भेज दो।" मित्र ने प्रसन्न होकर लड़कों को खाने के लिए भेज दिया। भले मित्र ने समय पर बच्चों को बहुत प्यार से खिलाया और फिर एक अन्य स्थान पर सुखपूर्वक छिपा दिया।

सायंकाल के समय कपटी मित्र अपने लड़कों को लेने के लिये आया। उसे दूर से आता देख कर ही शीघ्रतापूर्वक पहले मित्र ने कपटी की उस प्रतिमा को वहाँ से हटा दिया और उसी स्थान पर एक आसन बिछा दिया। कपटी मित्र सहज भाव से उसी आसन पर बैठ गया। उसके मित्र ने दोनों बन्दरों को एक कमरे से बाहर निकाल दिया। दोनों उछलते-कूदते हुए सीधे उस मायावी मित्र के पास आए और अभ्यासवश उसके सिर पर कंधों पर व गोद में बैठकर किलकारियाँ भरते हुए अपनी भाषा में खाना माँगने लगे। क्योंकि उसी स्थान पर पहले उसकी प्रतिमा थी जिससे दोनों परिचित थे। यह देखकर मायावी ने पूछा—"मित्र, यह क्या तमाशा है? ये दोनों बन्दर तो मेरे साथ इस प्रकार व्यवहार कर रहे हैं जैसे मुझ से परिचित हों।"

यह सुनकर उस व्यक्ति ने गर्दन झुकाकर उदास भाव से कहा—"मित्र, ये दोनों तुम्हारे ही पुत्र हैं। दुर्भाग्य से बन्दर बन गये, इसी कारण तुम्हें प्यार कर रहे हैं।" मायावी मित्र अपने मित्र की बात सुनकर उछल पड़ा और उसे पकड़कर झंझोड़ते हुए बोला—"क्या कह रहे हो? मेरे पुत्र तो तुम्हारे घर भोजन करने आये थे! बन्दर कैसे हो गये? क्या मनुष्य भी कभी बन्दर बन सकते हैं?"

पहले वाले मित्र ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया—"मित्र! लगता है आपके अशुभ कर्मों के कारण ऐसा हुआ है, क्या सुवर्ण कभी कोयला बना करता है, पर हमारे भाग्यवश वैसा हुआ।" मित्र की यह बात सुनकर कपटी मित्र के कान खड़े हो गये। उसे लगा कि इसको मेरी धोखेबाजी का पता चल गया है किन्तु उसने सोचा—अगर मैं शोर मचाऊँगा तो राजा को पता लगते ही मुझे पकड़ लिया जायगा और धन तो छिनेगा ही, मेरे पुत्र भी पुनः मनुष्य न बन सकेंगे। यह विचार कर उस मायावी ने यथातथ्य सारी घटना मित्र को कह सुनाई। जंगल से लाए हुए धन का आधा भाग भी उसे दे दिया। सरल स्वभाव मित्र ने भी उसके दोनों पुत्रों को लाकर उसे सौंप दिया। यह उदाहरण सरल स्वभाव मित्र की औत्पत्तिकी बुद्धि का सुन्दर उदाहरण है।

(२४) शिक्षा-धनुर्वेद—एक व्यक्ति धनुर्विद्या में बहुत निपुण था। किसी समय वह भ्रमण करता हुआ एक नगर में पहुँचा। वहाँ जब उसकी कलानिपुणता का लोगों को पता चला तो बहुत से अमीरों के लड़के उससे धनुर्विद्या सीखने लगे। विद्या सीखने पर उन धनिक-पुत्रों ने अपने कलाचार्य को बहुत धन दक्षिणा के रूप में भेंट किया। जब लड़कों के अभिभावकों को यह ज्ञात हुआ तो उन्हें बहुत क्रोध आया और सबने मिलकर तय किया कि जब वह व्यक्ति धन लेकर अपने घर लौटेगा तो रास्ते में इसे मार कर सब छीन लेंगे। इस बात का किसी तरह धनुर्विद्या के शिक्षक को पता चल गया।

यह जान कर उसने एक योजना बनाई। उसने अपने गाँव में रहने वाले बन्धुओं को समाचार भेजा—"मैं अमुक दिन रात्रि के समय कुछ गोबर के पिण्ड नदी में प्रवाहित करूँगा। उन्हें तुम लोग निकाल लेना।" इसके बाद शिक्षक ने अपने द्रव्य को गोबर में डालकर कुछ पिण्ड बना लिये और उन्हें अच्छी तरह सुखा लिया। तत्पश्चात् अपने शिष्यों को बुलाकर उन्हें कहा—"हमारे कुल में यह परम्परा है कि जब शिक्षा समाप्त हो जाए तो किसी पर्व अथवा शुभ तिथि में स्नान करके मंत्रों का उच्चारण करते हुए गोबर के सूखे पिण्ड नदी में प्रवाहित किये जाते हैं। अतः अमुक रात्रि को यह कार्यक्रम होगा।"

निश्चित की गई रात्रि में शिक्षक ने उनके साथ जाकर मंत्रोच्चारण करते हुए गोबर के सब पिण्ड नदी में प्रवाहित कर दिये और जब वे निश्चित स्थान पर पहुँचे तो कलाचार्य के बन्धुबान्धव उन्हें सुरक्षित निकालकर अपने घर ले गये।

कुछ समय बीतने पर एक दिन वह शिक्षक अपने शिष्यों और उनके सगे-संबंधियों के समक्ष मात्र शरीर पर वस्त्र पहनकर विदाई लेकर अपने ग्राम की ओर चल दिया। यह देखकर लड़कों के अभिभावकों ने समझ लिया कि इसके पास कुछ नहीं है। अतः उसे लूटने और मारने का विचार छोड़ दिया। शिक्षक अपनी औत्पत्तिकी बुद्धि के फल-स्वरूप सकुशल अपने घर पहुँच गया।

(२५) अर्थशास्त्र-नीतिशास्त्र—एक व्यक्ति की दो पत्नियाँ थीं। दोनों में से एक बाँझ थी तथा दूसरी के एक पुत्र था। दोनों माताएँ पुत्र का पालन-पोषण समान रूप से करती थीं। अतः लड़के को यह मालूम ही नहीं था कि उसकी सगी माता कौन है? एक बार वह वणिक अपनी दोनों पत्नियों और पुत्र को साथ लेकर भगवान् सुमतिनाथ के नगर में गया किन्तु वहाँ पहुँचने के कुछ समय पश्चात् ही उसका देहान्त हो गया। उसके मरणोपरान्त उसकी दोनों पत्नियों में सम्पूर्ण धन-वैभव तथा पुत्र के लिए विवाद होने लगा, क्योंकि पुत्र पर जिस स्त्री का अधिकार होता वही गृह-स्वामिनी बन सकती थी। कुछ भी निर्णय न होने से विवाद बढ़ता चला गया और राज-दरबार तक पहुँचा। वहाँ भी फैसला कुछ नहीं हो पाया। इसी बीच इस विवाद को महारानी सुमंगला ने भी सुना। वह गर्भवती थी। उसने दोनों वणिक-पत्नियों को अपने समक्ष उपस्थित होने का आदेश दिया। उनके आने पर कहा—"कुछ समय पश्चात् मेरे उदर से पुत्र जन्म लेगा और वह अमुक अशोक वृक्ष के नीचे बैठकर तुम्हारा विवाद निपटाएगा। तब तक तुम दोनों यहीं आनन्दपूर्वक रहो।"

भगवान् सुमतिनाथ की माता, सुमंगला देवी की यह बात सुनकर वणिक की वन्ध्या पत्नी ने सोचा—"अभी तो महारानी के पुत्र का जन्म भी नहीं हुआ। पुत्र जन्म लेकर बड़ा होगा तब तक तो यहाँ आनन्द से रह लिया जाय। फिर जो होगा देखा जायगा।" यह विचारकर उसने तुरन्त ही सुमंगला देवी की बात को स्वीकार कर लिया। यह देखकर महारानी सुमंगला ने जान लिया कि बच्चे की माता यह नहीं है। उसे तिरस्कृत कर वहाँ से निकाल दिया तथा बच्चा असली माता को सौंपकर उसे गृह-स्वामिनी बना दिया।

यह उदाहरण माता सुमंगला देवी की अर्थशास्त्रविषयक औत्पत्तिकी बुद्धि का है।

(२६) इच्छायमहं—किसी नगर में एक सेठ रहता था। उसकी मृत्यु हो गई। सेठानी बड़ी परेशानी का अनुभव करने लगी, क्योंकि सेठ के द्वारा ब्याज आदि पर दिया हुआ रुपया वह वसूल नहीं कर पाती थी। तब उसने सेठ के एक मित्र को बुलाकर उससे कहा—"महानुभाव! कृपया आप

मेरे पति द्वारा व्याज आदि पर दिये हुए रुपये वसूल कर मुझे दिलवा दें।" सेठ का मित्र बड़ा स्वार्थी था। वह बोला—"अगर तुम मुझे उस धन में से हिस्सा दो तो मैं रुपया वसूल कर लाऊँगा।" सेठानी ने इस वात को स्वीकार करते हुए उत्तर दिया—'जो आप चाहते हों वह मुझे दे देना।' तत्पश्चात् सेठ के मित्र ने सेठ का सारा रुपया वसूल कर लिया किन्तु वह सेठानी को कम देकर स्वयं अधिक लेना चाहता था। इस वात पर दोनों के वीच विवाद हो गया और वे न्यायालय में पहुँचे।

न्यायाधीश ने मित्र को आज्ञा देकर सम्पूर्ण धन वहाँ मँगवाया और उसके दो ढेर किये। एक ढेर बड़ा था और दूसरा छोटा। इसके वाद न्यायाधीश ने सेठ के मित्र से पूछा—"तुम इन दोनों भागों में से कौन सा लेना चाहते हो?" मित्र तुरन्त वोला—"मैं वड़ा भाग लेना चाहता हूँ।" तव न्यायाधीश ने सेठानी के शब्दों का उल्लेख करते हुए कहा—"तुमसे सेठानी ने पूर्व में ही कहा था—'जो आप चाहते हों वह मुझे दे देना' इसलिये अव इन्हें यही वड़ा भाग दिया जायगा, क्योंकि तुम इसे चाहते हो।" सेठ का मित्र सिर पीटकर रह गया और चुपचाप धन का छोटा भाग लेकर चला गया। न्यायाधीश की औत्पत्तिकी बुद्धि का यह उदाहरण है।

(२६) शतसहस्र—एक परिव्राजक बड़ा कुशाग्रवुद्धि था। वह जिस वात को एक वार सुन लेता उसे अक्षरशः याद कर लेता था। उसके पास चाँदी का एक बहुत वड़ा पात्र था जिसे वह 'खोरक' कहता था।

अपनी प्रज्ञा के अभिमान में चूर होकर उसने एक वार वहुत से व्यक्तियों के समक्ष प्रतिज्ञा की—"जो व्यक्ति मुझे पूर्व में कभी न सुनी हुई यानी 'अश्रुतपूर्व' वात सुनायेगा उसे मैं चाँदी का यह वृहत् पात्र दे दूंगा।" इस प्रतिज्ञा को सुनकर बहुत से व्यक्ति आए और उन्होंने अनेकों वातें परिव्राजक को सुनाईं, किन्तु परिव्राजक अपनी विशिष्ट स्मरणशक्ति के कारण उन वातों को उसी समय अक्षरशः सुना देता था और कहता—"यह तो मैंने पहले भी सुनी है।"

परिव्राजक की चालाकी को एक सिद्धपुत्र ने समझा और उसने निश्चय किया कि मैं परिव्राजक को सवक सिखाऊँगा। परिव्राजक की प्रतिज्ञा की सर्वत्र प्रसिद्धि हो गई थी। वहाँ के राजा नें अपने दरवार में परिव्राजक और उस सिद्धपुत्र को बुलवाया जिसने परिव्राजक को परास्त करने की चुनौती दी थी।

राजसभा में सवके समक्ष सिद्धपुत्र ने कहा—

"तुज्झ पिया मह पिउणो, धारेइ अणूणगं सयसहस्सं।
जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह न सुयं खोरयं देसु॥"

अर्थात् "तुम्हारे पिता को मेरे पिता के एक लाख रुपये देने हैं। यदि यह बात तुमने पहले सुनी है तो अपने पिता का एक लाख रुपये का कर्ज चुका दो, और यदि नहीं सुनी है तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चाँदी का पात्र (खोरक) मुझे सौंप दो।" वेचारा परिव्राजक अपने फैलाए हुए जाल में खुद ही फंस गया। उसे अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी और खोरक सिद्धपुत्र को मिल गया। यह सिद्धपुत्र की औत्पत्तिकी वुद्धि का अनुपम उदाहरण है।

(२) वैनयिकी बुद्धि का लक्षण

५०—भरनित्थरण-समत्था, तिवग्ग-सुत्तत्थ-गहिय-पेयाला ।
उभओ लोग फलवई, विणयसमुत्था हवइ बुद्धी ।।

विनय से पैदा हुई बुद्धि कार्य भार के निरस्तरण अर्थात् वहन करने में समर्थ होती है। त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम का प्रतिपादन करने वाले सूत्र तथा अर्थ का प्रमाण-सार ग्रहण करनेवाली है तथा यह विनय से उत्पन्न बुद्धि इस लोक और परलोक में फल देनेवाली होती है।

वैनयिकी बुद्धि के उदाहरण

निमित्ते-अत्थसत्थे अ, लेहे गणिए अ कूव अस्से य ।
गद्दभ-लक्खण गंठी, अगए रहिए य गणिया य ।।
सीआ साडी दीहं च तणं, अवसव्वयं च कुंचस्स ।
निव्वोदए य गोणे, घोडग पडणं च रुक्खाओ ।।

५०—(१) निमित्त (२) अर्थशास्त्र (३) लेख (४) गणित (५) कूप (६) अश्व (७) गर्दभ (८) लक्षण (९) ग्रंथि (१०) अगड (११) रथिक (१२) गणिका (१३) शीताशाटी (गीली धोती) (१४) नीव्रोदक (१५) बैलों की चोरी, अश्व का मरण, वृक्ष से गिरना। ये वैनयिकी बुद्धि के उदाहरण हैं।

(१) निमित्त—किसी नगर में एक सिद्ध पुरुष रहता था। उसके दो शिष्य थे। गुरु का दोनों पर समान स्नेह था। वह समान भाव से दोनों को निमित्त शास्त्र का अध्ययन कराता था। दोनों शिष्यों में से एक बड़ा विनयवान् था। अतः गुरु जो आज्ञा देते उसका यथावत् पालन करता तथा जो भी सिखाते उस पर निरन्तर चिन्तन-मनन करता रहता था। चिन्तन करने पर जिस विषय में उसे किसी प्रकार की शंका होती उसे समझने के लिये अपने गुरु के समक्ष उपस्थित होता तथा विनयपूर्वक उनकी चरण वंदना करके शंका का समाधान कर लिया करता था। किन्तु दूसरा शिष्य अविनीत था और बार-बार गुरु से कुछ पूछने में भी अपना अपमान समझता था। प्रमाद के कारण पठित विषय पर विमर्श भी नहीं करता था। अतः उसका अध्ययन अपूर्ण एवं दोषपूर्ण रह गया जबकि पहला विनीत शिष्य सर्वगुणसम्पन्न एवं निमित्तज्ञान में पारंगत हो गया।

एक बार गुरु की आज्ञा से दोनों शिष्य किसी गाँव को जा रहे थे। मार्ग में उन्हें बड़े-बड़े पैरों के पदचिह्न दिखाई दिये। अविनीत शिष्य ने अपने गुरुभाई से कहा—"लगता है कि ये पद-चिह्न किसी हाथी के हैं।" उत्तर देते हुए दूसरा शिष्य बोला—"नहीं मित्र! ये पैरों के चिह्न हाथी के नहीं, हथिनी के हैं। वह हथिनी वाम नेत्र से कानी है। इतना ही नहीं हथिनी पर कोई रानी सवार है और वह सधवा तथा गर्भवती भी है। रानी आजकल में ही पुत्र का प्रसव करेगी।"

केवल पद-चिह्नों के आधार पर इतनी बातें सुनकर अविचारी शिष्य की आँखें कपाल पर चढ़ गईं। उसने कहा—"यह सब बातें तुम किस आधार पर कह रहे हो?" विनीत शिष्य ने उत्तर दिया—"भाई! कुछ आगे चलने पर तुम्हें सब कुछ स्पष्ट हो जाएगा।' यह सुनकर प्रश्नकर्ता शिष्य चुप हो गया और दोनों चलते-चलते कुछ समय पश्चात् अपने गन्तव्य ग्राम तक पहुँच गये।

उन्होंने देखा कि ग्राम के बाहर एक विशाल सरोवर के तीर पर किसी अतिसम्पन्न व्यक्ति का पड़ाव पड़ा हुआ है। तम्बुओं के एक ओर बाँये नेत्र से कानी एक हथिनी भी बँधी हुई है। ठीक उसी समय दोनों शिष्यों ने यह भी देखा कि एक दासी जैसी लगने वाली स्त्री एक सुन्दर तम्बू से निकली और वहीं खड़े हुए एक प्रभावशाली व्यक्ति से बोली—"मंत्रिवर ! महाराज को जाकर बधाई दीजिए—राजकुमार का जन्म हुआ है।"

यह सब देख सुनकर जिस शिष्य ने ये सारी बातें पहले ही बता दी थीं, वह बोला—"देखो वाम नेत्र से कानी हथिनी खड़ी है और दासी के वचन सुनकर हमें यह भी ज्ञात हो गया है कि उस पर गर्भवती रानी सवार थी जिसे अभी-अभी पुत्रलाभ हुआ है।" अविनीत शिष्य ने बेदिली से उत्तर दिया—"हाँ मैं समझ गया, तुम्हारा ज्ञान सही है अन्यथा नहीं।" तत्पश्चात् दोनों सरोवर में हाथ-पैर धोकर एक वट वृक्ष के नीचे विश्राम हेतु बैठ गये।

कुछ समय पश्चात् ही एक वृद्धा स्त्री अपने मस्तक पर पानी का घड़ा लिए हुए उधर से निकली। वृद्धा की नजर उन दोनों पर पड़ी। उसने सोचा—ये दोनों विद्वान् मालूम होते हैं, क्यों न इनसे पूछूँ कि मेरा विदेश गया हुआ पुत्र कब लौटकर आएगा ?" यह विचार कर वह शिष्यों के समीप गई और प्रश्न करने लगी। किन्तु उसी समय उसका घड़ा सिर से गिरा और फूट गया। सारा पानी मिट्टी में समा गया। यह देखकर अविनीत शिष्य झट बोल पड़ा—"बुढ़िया ! तेरा पुत्र घड़े के समान ही मृत्यु को प्राप्त हो गया है।"

वृद्धा सन्न रह गई किन्तु उसी समय दूसरे ज्ञानी शिष्य ने कहा—"मित्र, ऐसा मत कहो। इसका पुत्र तो घर आ चुका है।" उसके बाद उसने वृद्धा को संबोधित करते हुए कहा—"माता ! तुम शीघ्र घर जाओ, तुम्हारा पुत्र तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है।"

वृद्धा की जान में जान आई। उसने अपने घर की ओर कदम बढ़ा दिये। घर पहुँचते ही देखा कि लड़का धूलि धूसरित पैरों सहित ही उसकी प्रतीक्षा में बैठा है। हर्ष-विह्वल होकर उसने पुत्र को अपने कलेजे से लगा लिया और उसी समय नैमित्तिक शिष्य के विषय में बताकर पुत्र सहित उस वट वृक्ष के नीचे आई। शिष्य को उसने यथायोग्य दक्षिणा के साथ अनेक आशीर्वाद दिये।

इधर अविनीत शिष्य ने जब यह देखा कि मेरी बातें मिथ्या सिद्ध होती हैं और मेरे साथी की सत्य, तो वह दुःख और क्रोध से भरकर सोचने लगा—"यह सब गुरुजी के पक्षपात के कारण ही हो रहा है। उन्होंने मुझे ठीक तरह से नहीं पढ़ाया।" ऐसे ही विचारों के साथ वह गुरु का कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् वापिस लौटा। लौटने पर विनीत शिष्य आनन्दाश्रु बहाता हुआ गद्गद भाव से गुरु के चरणों पर झुक गया किन्तु अविनीत ठूँठ की तरह खड़ा रहा। यह देखकर गुरु ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से उसकी ओर देखा। तुरंत ही वह बोला—'आपने मुझे सम्यक् रूप से नहीं पढ़ाया है, इसलिए मेरा ज्ञान असत्य है और इसे मन लगाकर पढ़ाया है, अतः इसका ज्ञान सत्य। आपने पक्ष-पात किया है।'

गुरुजी यह सुनकर चकित हुए पर कुछ समझ न पाने के कारण उन्होंने अपने विनयी शिष्य से पूछा—'वत्स क्या बात है ? किन घटनाओं के आधार पर तुम्हारे गुरुभाई के मन में ऐसे विचार आए ?' विनीत शिष्य ने मार्ग में घटी हुई घटनाएँ ज्यों की त्यों कह सुनाई।

गुरु ने उससे पूछा—'तुम यह बताओ कि उक्त दोनों बातों की जानकारी तुमने किस प्रकार की ? विनयवान् शिष्य ने पुनः गुरु के चरण छूकर उत्तर दिया—"गुरुदेव, आपके चरणों के प्रताप से ही मैंने विचार किया कि पैर हाथी के होने पर भी इसके मूत्र के ढंग के कारण वह हथिनी होनी चाहिए। मार्ग के दाहिनी ओर के घास व पत्रादि ही खाए हुए थे, बायीं ओर के नहीं, अतः अनुमान किया कि वह बायें नेत्र से कानी होगी। भारी जन-समूह के साथ हाथी पर आरूढ़ होकर जाने वाला राजकीय व्यक्ति ही हो सकता है। यह जानने के बाद हाथी से उतर कर की जाने वाली लघुशंका से यह जाना कि वह रानी थी। समीप की झाड़ी में उलझे हुए रेशमी और लाल वस्त्र-तंतुओं को देखकर विचार किया कि रानी सधवा है। वह दाँया हाथ भूमि पर रखकर खड़ी हुई, इससे गर्भवती होने का तथा दाँया पैर अधिक भारी पड़ने से मैंने उसके निकट प्रसव का अनुमान किया और सारे ही निमित्तों से यह जान लिया कि उसके पुत्र उत्पन्न होगा।

दूसरी बात वृद्धा स्त्री की थी। उसके प्रश्न पूछते ही घड़े के गिरकर फूट जाने से मैंने विचार किया कि जिस मिट्टी से घड़ा बना था उसी में मिल गया है, अतः माता की कोख से जन्मा पुत्र भी उससे मिलने वाला है।"

शिष्य की बात सुनकर गुरु ने स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखते हुए उसकी प्रशंसा की। अविनीत से कहा—'देख, तू न मेरी आज्ञा का पालन करता है और न ही अध्ययन किये हुए विषय पर चिन्तन-मनन करता है। ऐसी स्थिति में सम्यक्ज्ञान का अधिकारी कैसे बन सकता है ? मैं तो तुम दोनों को सदा ही साथ बैठाकर एक सरीखा विद्याभ्यास कराता हूँ किन्तु—"विनयाद्याति पात्रताम्" यानी विनय से पात्रता, सुयोग्यता प्राप्त होती है। तुझमें विनय का अभाव है, इसीलिये तेरा ज्ञान भी सम्यक् नहीं है।' गुरु के वचन सुनकर अविनीत शिष्य लज्जित होकर मौन रह गया। यह उदाहरण शिष्य की वैनयिकी बुद्धि का है।

(२) अत्थसत्थे (३) लेख (४) गणित अर्थात् आदि का ज्ञान भी विनय के द्वारा होता है।

(५) कूप—एक भूवेत्ता अपने शिक्षक के पास अध्ययन करता था। उसने शिक्षक की प्रत्येक आज्ञा को एवं सुझाव को इतने विनयपूर्वक माना कि वह अपने विषय में पूर्ण पारंगत हो गया। अपनी चामत्कारिक, वैनयिकी बुद्धि के द्वारा प्रत्येक कार्य में सफलता प्राप्त करने लगा।

एक बार किसी ग्रामीण ने उससे पूछा—"मेरे खेत में कितनी गहराई तक खोदने पर पानी निकलेगा ?" भूवेत्ता ने परिमाण बताया। उसी के अनुसार किसान ने भूमि में कुआ खोद लिया किन्तु पानी नहीं निकला। किसान पुनः भूवेत्ता के पास जाकर बोला—"आपके निर्देशानुसार मैंने कुआ खोद डाला। किन्तु पानी नहीं निकला।" भूमि परीक्षक ने खोदे हुए कुए के पास जाकर बारीकी से निरीक्षण किया और तब किसान से कहा—"इसके पार्श्व भूभाग पर एड़ी से प्रहार करो।" किसान ने वही किया और चकित रह गया, यह देखकर कि उस छोटे से स्थान से पानी का स्रोत मानो बाँध तोड़कर बह निकला है। किसान ने भूवेत्ता की वैनयिकी बुद्धि का चमत्कार देखकर उसकी बहुत प्रशंसा की तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार द्रव्य भेंट किया।

(६) अश्व—एक बार बहुत से व्यापारी द्वारका नगरी में अपने घोड़े बेचने के लिये गये। नगर के कई राजकुमारों ने मोटे-ताजे और डील-डौल से बड़े देखकर घोड़े खरीद लिए। किन्तु वासुदेव नामक एक युवक ने, जो अश्व-परीक्षा में पारंगत था, एक दुबला-पतला घोड़ा खरीदा।

आश्चर्य की बात यह थी कि जब घुड़दौड़ होती तो वासुदेव का घोड़ा ही सबसे आगे रहता। सभी मोटे-ताजे घोड़े पीछे रह जाते। इसका कारण वासुदेव की अश्वपरीक्षा की प्रवीणता थी। यह विद्या उसने अपने कलाचार्य से बहुत विनयपूर्वक सीखी थी। विनय द्वारा ही बुद्धि तीक्ष्ण होती है तथा सीखे जाने वाले विषय का पूर्ण ज्ञान होता है।

(७) गर्दभ—किसी नगर में एक राजा राज्य करता था। वह युवा था। उसने सोचा कि युवावस्था श्रेष्ठ होती है और युवक ही अधिक परिश्रम कर सकता है। यह विचार आते ही उसने अपनी सेना के समस्त अनुभवी एवं वृद्ध योद्धाओं को हटाकर तरुण युवकों को अपनी सेना में भरती किया।

एक बार वह अपनी जवानों की सेना के साथ किसी राज्य पर आक्रमण करने जा रहा था किन्तु मार्ग भूल गया और एक बीहड़ वन में जा फंसा। बहुत खोजने पर भी रास्ता नहीं मिला। सभी प्यास के कारण छटपटाने लगे। पानी कहीं भी दिखाई नहीं दिया। तब किसी व्यक्ति ने राजा से प्रार्थना की—"महाराज! हमें तो इस विपत्ति से उबरने का कोई मार्ग नहीं सूझता, कोई अनुभवी वयोवृद्ध हो तो वही संकट टाल सकता है।" यह सुनकर राजा ने उसी समय घोषणा करवाई—'सैन्यदल में अगर कोई अनुभवी व्यक्ति हो तो वह हमारे समक्ष आकर हमें सलाह प्रदान करे।'

सौभाग्यवश सेना में एक वयोवृद्ध योद्धा छद्मवेश में आया हुआ था, जिसे उसका पितृभक्त सैनिक पुत्र लाया था। वह राजा के समीप आया और राजा ने उससे प्रश्न किया—"महानुभाव! मेरी सेना को जल-प्राप्त हो सके ऐसा उपाय बताइये।" वृद्ध पुरुष ने कुछ क्षण विचार करके कहा—"महाराज! गधों को छोड़ दीजिए। वे जहाँ पर भूमि को सूघेंगे वहीं सेना के लिए जल प्राप्त हो जायगा।" राजा ने ऐसा ही किया तथा जल प्राप्त कर सभी सैनिक तरोताजा होकर अपने गन्तव्य की ओर चल पड़े। यह स्थविर पुरुष की वैनयिकी बुद्धि के द्वारा संभव हुआ।

(८) लक्षण—एक व्यापारी ने अपने घोड़ों की रक्षा के लिये एक व्यक्ति को नियुक्त किया और वेतन के रूप में उसे दो घोड़े देने को कहा। व्यक्ति ने इसे स्वीकार कर लिया तथा घोड़ों की रक्षा व सार-संभाल करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय में व्यापारी की पुत्री से उसका स्नेह हो गया। सेवक चतुर था अतः उसने कन्या से पूछ लिया—"इन सब घोड़ों में से कौन से घोड़े श्रेष्ठ हैं?" लड़की ने उत्तर दिया—"यों तो सभी घोड़े उत्तम हैं किन्तु पत्थरों से भरे हुए कुप्पे को वृक्ष पर से गिराने पर उसकी आवाज से जो भयभीत न हों वे श्रेष्ठ और लक्षण-सम्पन्न हैं।"

लड़की के कथनानुसार उस व्यक्ति ने उक्त विधि से सब घोड़ों की परीक्षा कर ली। दो घोड़े उनमें से छांट लिये। जब वेतन लेने का समय आया तो उसने व्यापारी से उन्हीं दो घोड़ों की माँग की। अश्वों का स्वामी मन ही मन घबराया कि ये दोनों ही सर्वोत्तम घोड़े ले जायगा। अतः बोला—"भाई! इन घोड़ों से भी अधिक सुन्दर और हृष्ट-पुष्ट घोड़े ले जा।" सेवक नहीं माना तब चिन्तित गृहस्वामी अन्दर जाकर अपनी पत्नी से बोला—"भलीमानस! यह सेवक तो बड़ा चतुर निकला। न जाने कैसे इसने अपने सबसे अच्छे दोनों घोड़ों की पहचान कर ली है और उन्हीं को वेतन के रूप में माँग रहा है। अतः अच्छा यही है कि इसे गृहजामाता बना लें।"

यह सुनकर स्त्री नाराज हुई, कहने लगी—"तुम्हारा दिमाग फिर गया है क्या? नौकर को जमाई बनाओगे?" इस पर व्यापारी ने उसे समझाया—"अगर ये सर्वलक्षण युक्त दोनों घोड़े चले गये

तो हमारी सब तरह से हानि होगी। हम भी इस सेवक जैसे हो जाएँगे। किन्तु इसे जामाता बना लेने से घोड़े यहीं रहेंगे तथा और भी गुणयुक्त घोड़े बढ़ जाएँगे। सभी प्रकार से हमारी उन्नति होगी। दूसरे, यह अश्व-रक्षक सुन्दर युवक तो है ही, बहुत बुद्धिमान् भी है।" स्त्री सहमत हो गई और सेवक को स्वामी ने जमाई बनाकर दूरदर्शिता का परिचय दिया। यह सब अश्वों के व्यापारी की विनय से उत्पन्न बुद्धि के कारण हुआ।

(९) ग्रन्थि—किसी समय पाटलिपुत्र में मुरुण्ड नामक राजा राज्य करता था। एक अन्य राजा ने उसे तीन विचित्र वस्तुएँ भेजीं। वे इस प्रकार थीं—ऐसा सूत जिसका छोर नहीं था, एक ऐसी लाठी जिसकी गाँठ का पता नहीं चलता था और एक डिब्बा जिसका द्वार दिखाई नहीं देता था। उन सब पर लाख इस प्रकार लगाई गई थी कि किसी को इनका पता नहीं चलता था। राजा ने सभी दरबारियों को दिखाया किन्तु कोई भी इनके विषय में नहीं बता सका।

राजा ने तब आचार्य पादलिप्त को बुलवाया और उनसे पूछा—"भगवन्! क्या आप इन सबके विषय में बता सकते हैं?" आचार्य ने स्वीकृति देते हुए गर्म पानी मँगवाया और पहले उसमें सूत को डाल दिया। उसमें लगी हुई लाख पिघल गई और सूत का छोर नजर आने लगा। तत्पश्चात् लाठी को पानी में डाला तो गाँठवाला भारी किनारा पानी में डूब गया, जिससे यह साबित हुआ कि लाठी में अमुक किनारे पर गाँठ है। अन्त में डिब्बे को भी गरम पानी में डाला गया और लाक्षा पिघलते ही उसका द्वार दिखाई देने लगा। सभी व्यक्तियों ने एक स्वर से आचार्य की प्रशंसा की।

तत्पश्चात् राजा मुरुण्ड ने आचार्य पादलिप्त से प्रार्थना की—"देव! आप भी कोई ऐसी कौतुकपूर्ण वस्तु तैयार कीजिए जिसे मैं बदले में भेज सकूँ।" इस पर आचार्य ने एक तूम्बे को बड़ी सावधानी से काटा और उसमें रत्न भरकर यत्नपूर्वक काटे हुए हिस्से को जोड़ दिया। दूसरे राज्य से आए हुए पुरुषों से कहा—"इसे तोड़े बिना इसमें से रत्न निकाल लेना।" किन्तु उनके राज्य में कोई भी बिना तूम्बे को तोड़े रत्न नहीं निकाल सका। इस पर पुनः राजा समेत समस्त सभासदों ने आचार्य की वैनयिकी बुद्धि की भूरि-भूरि सराहना की।

(१०) अगद—एक नगर के राजा के पास सेना बहुत थोड़ी थी। पड़ौसी शत्रु राजा ने उसके राज्य को चारों ओर से घेर लिया। इस पर राजा ने आदेश दिया कि जिसके पास भी विष हो वह ले आए। बहुत से व्यक्ति राजाज्ञानुसार विष लाए और नगर के बाहर स्थित उस कूप के पानी को विषमय बना दिया, जहाँ से शत्रु के सैन्य-दल को पानी मिलता था। इसी बीच एक वैद्य भी बहुत अल्प मात्रा में विष लेकर आया। राजा एक वैद्य को अत्यल्प विष लाया देखकर बहुत क्रुद्ध हुआ। किन्तु वैद्यराज ने कहा—"महाराज! आप क्रोध न करें। यह सहस्रवेधी विष है। अभी तक जितना विष लाया गया होगा और उससे जितने लोग मर सकेंगे उससे अधिक नर-संहार तो इतने से विष से ही हो जाएगा।" राजा ने आश्चर्य से कहा—"यह कैसे हो सकता है? क्या आप इसका प्रमाण दे सकेंगे?"

वैद्य ने उसी समय एक वृद्ध हाथी मँगवाया और उसकी पूँछ का एक बाल उखाड़ लिया। फिर ठीक उसी स्थान पर सुई की नोक से विष का संचार किया। विष जैसे-जैसे शरीर में आगे बढ़ा वैसे-वैसे ही हाथी के शरीर का भाग जड़ होता चला गया। तब वैद्य ने कहा—'महाराज! देखिए! यह हाथी विषमय हो गया है, इसे जो भी खाएगा, वह विषमय हो जाएगा। इसीलिए इस विष को सहस्रवेधी कहा जाता है।'

राजा को वैद्य की बात पर विश्वास हो गया किन्तु हाथी के प्राण जाते देख उसने कहा—"वैद्य जी ! क्या यह पुनः स्वस्थ नहीं हो सकता ?" वैद्य बोला—"क्यों नहीं हो सकता ।" वैद्य ने पूँछ के बाल के उसी रन्ध्र में अन्य किसी औषधि का संचार किया और देखते ही देखते हाथी सचेतन हो गया । वैद्य की विनयजा बुद्धि के चमत्कार की राजा ने खूब सराहना की । उसे पुरस्कृत किया ।

(११-१२) रथिक एवं गणिका—रथिक अर्थात् रथ के सारथी और गणिका के उदाहरण स्थूल-भद्र की कथा में वर्णित हैं । वे भी वैनयिकी बुद्धि के उदाहरण हैं ।

(१३) शाटिका, तृण, तथा क्रौञ्च—किसी नगर में अत्यन्त लोभी राजा था । उसके राजकुमार एक बड़े विद्वान् आचार्य से शिक्षा प्राप्त करते थे । सभी राजकुमार अपने पिता से विपरीत उदार एवं विनयवान् थे । अतः आचार्य ने अपने उन सभी शिष्यों को गहरी लगन के साथ विद्याध्ययन कराया । शिक्षा समाप्त होने पर राजकुमारों ने अपने कलाचार्य को प्रचुर धन भेंट किया । राजा को जब इस बात का पता लगा तो उसने कलाचार्य को मारकर उसका धन ले लेने का विचार किया । राजकुमारों को किसी प्रकार इस बात का पता चल गया । अपने आचार्य के प्रति उनका असीम प्रेम तथा श्रद्धा थी अतः उन्होंने अपने गुरु की जान बचाने का निश्चय किया ।

राजकुमार आचार्य के पास गये । उस समय वे भोजन से पहले स्नान करने की तैयारी में थे । राजकुमारों से उन्होंने पहनने के लिए सूखी धोती माँगी पर कुमारों ने कह दिया—"शाटिका गीली है ।" इतना ही नहीं, वे हाथ में तृण लेकर बोले—"तृण लम्बा है ।" एक और राजकुमार बोला—"पहले क्रौञ्च सदा प्रदक्षिणा किया करता था, अब वह बाईं ओर घूम रहा है ।" आचार्य ने जब राजकुमारों की ऐसी अटपटी बातें सुनीं तो उनका माथा ठनका और उनकी समझ में आ गया कि—'मेरे धन के कारण कोई मेरा शत्रु बन गया है और मेरे प्रिय शिष्य मुझे चेतावनी दे रहे हैं ।' यह ज्ञान हो जाने पर उन्होंने अपने निश्चित किए हुए समय से पहले ही राजकुमारों से विदा लेकर चुपचाप अपने घर की ओर प्रस्थान कर दिया । यह राजकुमारों की एवं कलाचार्य की वैनयिकी बुद्धि का उत्तम उदाहरण है ।

(१४) नीव्रोदक—एक व्यापारी बहुत समय से विदेश में था । उसकी पत्नी ने वासनापूर्ति के लिए अपनी सेविका द्वारा किसी व्यक्ति को बुलवा लिया । साथ ही एक नाई को भी बुलवा भेजा, जिसने आगत व्यक्ति के नाखून एवं केशादि को संवारा तथा स्नानादि करवाकर शुभ्र वस्त्र पहनाए ।

रात्रि के समय जब मूसलधार पानी बरस रहा था, उस व्यक्ति ने प्यास लगने पर छज्जे से गिरते हुए वर्षा के पानी को ओक से पी लिया । संयोगवश उसी छज्जे के ऊपरी भाग पर एक मृत सर्प का कलेवर था और पानी उस पर से बहता हुआ आ रहा था । जल विष-मिश्रित हो गया था और उसे पीते ही दुराचारी पुरुष की मृत्यु हो गयी ।

यह देखकर वणिक्पत्नी घबराई और सेवकों के द्वारा उसी समय मृत व्यक्ति को एक जन-शून्य देवकुलिका में डलवा दिया । प्रातःकाल लोगों को मृतक का पता चला तथा राजपुरुषों ने आकर उसकी मृत्यु का कारण खोजना प्रारंभ कर दिया । उन्होंने देखा कि मृत व्यक्ति के नख व केश तत्काल ही काटे हुए हैं । इस पर शहर के नाइयों को बुलवाकर प्रत्येक से अलग-अलग पूछा गया कि इस व्यक्ति के नाखून और केश किसने काटे हैं ? उनमें से एक नाई ने मृतक को पहचानकर

वता दिया कि—"मैंने अमुक वणिक्-पत्नी की दासी के बुलाए जैसे [illegible] नखों व केश काटे थे।" दासी को पकड़ लिया गया। उसने भयभीत होकर सम्पूर्ण घटना का वर्णन कर दिया। यह उदाहरण राजकर्मचारियों की वैनयिकी बुद्धि का उदाहरण है।

(१५) वैलों का चुराया जाना, अश्व की मृत्यु तथा वृक्ष से गिरना

एक व्यक्ति अत्यन्त ही पुण्यहीन था। वह जो कुछ भी करता उससे संकट में पड़ जाता था। एक वार उसने अपने एक मित्र से हल चलाने के लिए वैल माँगे और कार्य समाप्त हो जाने पर उन्हें लौटाने के लिए ले गया। उसका मित्र उस समय खाना खा रहा था। अतः अभागा आदमी वोला तो कुछ नहीं पर उसके सामने ही वैलों को वाड़े में छोड़ आया, यह सोचकर कि वह देख तो रहा ही है।

दुर्भाग्यवश वैल किसी प्रकार वाड़े से वाहर निकल गये और उन्हें कोई चुराकर भगा ले गया। वैलों का मालिक वाड़े में अपने वैलों को न देखकर पुण्यहीन के पास जाकर वैलों को माँगने लगा। किन्तु वह वेचारा देता कहाँ से? इस पर क्रोधित होकर उसका मित्र उसे पकड़कर राजा के पास ले चला।

मार्ग में एक घुड़सवार सामने से आ रहा था। उसका घोड़ा विदक गया और सवार को नीचे पटक कर भागने लगा। इस पर सवार चिल्लाकर वोला—"अरे भाई! इसे डण्डे मारकर रोको।" पुण्यहीन व्यक्ति के हाथ में एक डंडा था, अतः उसने घुड़सवार की सहायता करने के उद्देश्य से सामने आते हुए घोड़े को डंडा मारा, किन्तु उसकी भाग्यहीनता के कारण डंडा घोड़े के मर्मस्थल पर लगा और घोड़े के प्राण-पखेरू उड़ गये। घोड़े का स्वामी यह देखकर वहुत क्रोधित हुआ और उसे राजा के द्वारा दंड दिलवाने के उद्देश्य से साथ हो लिया। इस प्रकार एक अपराधी और सजा दिलानेवाले दो, तीनों नगर की ओर चले।

चलते-चलते रात हो गई और नगर के द्वार वंद मिले। अतः वे वाहर ही एक सघन वृक्ष के नीचे सो गये, यह सोचकर कि प्रातःकाल द्वार खुलने पर प्रवेश करेंगे। किन्तु अभागे अपराधी को निद्रा नहीं आई और वह सोचने लगा—"भाग्य मेरा साथ नहीं देता। भला करने पर भी बुरा ही होता है। ऐसे जीवन से क्या लाभ? मर जाऊँ तो सभी विपत्तियों से पिंड छूट जाएगा। अन्यथा न जाने और क्या-क्या कष्ट भोगने पड़ेंगे।"

यह विचारकर उसने मरने का निश्चय कर लिया और अपने दुपट्टे को उसी वृक्ष की डाल से वाँधकर फँदा वनाया और अपने गले में डालकर लटक गया। पर मृत्यु ने भी उसका साथ नहीं दिया। दुपट्टा जीर्ण होने के कारण उसके भार को नहीं झेल पाया तथा टूट गया। परिणाम यह हुआ कि वह धम्म से गिरा भी तो नटों के मुखिया पर जो ठीक उसके नीचे सो रहा था। नटों के सरदार पर ज्यों ही वह गिरा, सरदार की मृत्यु हो गई। नटों में चीख-पुकार मच गई और सरदार की मौत का कारण उस पुण्यहीन को जानकर गुस्से के मारे वे लोग भी उसे पकड़कर सुबह होते ही राजा के पास ले चले।

राज-दरवार में जव यह काफिला पहुँचा, सभी चकित होकर देखने लगे। राजा ने इनके आने का कारण पूछा। सभी ने अपना-अपना अभियोग कह सुनाया। राजा ने पुण्यहीन व्यक्ति से
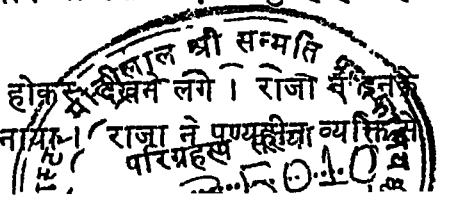
भी जानकारी की और उसने निराशापूर्वक सभी घटनाएँ बताते हुए कहा—"महाराज ! मैंने जानबूझकर कोई अपराध नहीं किया है। मेरा दुर्भाग्य ही इतना प्रवल है कि, प्रत्येक अच्छा कार्य उलटा हो जाता है। ये लोग जो कह रहे हैं, सत्य है। मैं दंड भोगने के लिए तैयार हूँ।"

राजा वहुत विचारशील था। सब वातें सुनकर उसने समझ लिया कि इस विचारे ने कोई अपराध मन से नहीं किया है, अतः यह दंड का पात्र नहीं है। उसे दया आई और उसने चतुराई से फैसला करने का निर्णय किया। सर्वप्रथम वैल वाले को बुलाया गया और राजा ने उससे कहा—"भाई ! तुम्हें अपने वैल लेने हैं तो पहले अपनी आँखें निकालकर इसे दे दो, क्योंकि तुमने अपनी आँखों से इसे वाड़े में वैल छोड़ते हुए देखा था।"

इससे वाद घोड़ेवाले को वुलाकर राजा ने कहा—"अगर तुम्हें घोड़ा चाहिए तो पहले अपनी जिह्वा इसे काट लेने दो, क्योंकि दोषी तुम्हारी जिह्वा है, जिसने इसे घोड़े को डंडा मारने के लिए कहा था। इसे दंड मिले और तुम्हारी जिह्वा वच जाए यह न्यायसंगत नहीं। ऐसा करना अन्याय है। अतः पहले तुम जिह्वा दे दो फिर घोड़ा इससे दिलवा दिया जाएगा।"

इसके वाद नटों को भी बुलाया गया। राजा ने कहा—"इस दीन व्यक्ति के पास क्या है जो तुम्हें दिलवाया जाय ! अगर तुम्हें बदला लेना है तो इसे उसी वृक्ष के नीचे सुला देते हैं और अव जो तुम्हारा मुखिया वना हो, उससे कहो कि वह इसी व्यक्ति के समान गले में फंदा डालकर उसी डाल से लटक जाए और इस व्यक्ति के ऊपर गिर पड़े।"

राजा के इन फैसलों को सुनकर तीनों अभियोगी चुप रह गये और वहाँ से चलते बने।

राजा की वैनयिकी बुद्धि ने उस अभागे व्यक्ति के प्राण वचा लिए।

(३) कर्मजा बुद्धि के उदाहरण

५१—उवओगदिट्ठसारा कम्मपसंगपरिलोघणविसाला।
साहुक्कारफलवई कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी॥
हेरण्णिए करिसय, कोलिय डोवे य मुत्ति घय पवए।
तुन्नाग वड्ढई य, पूयइ घड चित्तकारे य॥

५१—उपयोग से जिसका सार-परमार्थ देखा जाता है, अभ्यास और विचार से जो विस्तृत वनती है और जिससे प्रशंसा प्राप्त होती है, वह कर्मजा बुद्धि कही जाती है।

(१) सुवर्णकार (२) किसान (३) जुलाहा (४) दर्वीकार (५) मोती (६) घी (७) नट (८) दर्जी (९) वढ़ई (१०) हलवाई (११) घट (१२) तथा चित्रकार। इन सभी के उदाहरण कर्म से उत्पन्न बुद्धि के परिचायक हैं। विवरण इस प्रकार है—

(१) हैरण्यक—सुनार ऐसा कुशल कलाकार होता है कि अपने कला-ज्ञान के द्वारा घोर अन्धकार में भी हाथ के स्पर्शमात्र से ही सोने और चाँदी की परीक्षा कर लेता है।

(२) कर्षक (किसान)—एक चोर किसी वणिक् के घर चोरी करने गया। वहाँ उसने दीवार में इस प्रकार सेंध लगाई कि कमल की आकृति वन गई। प्रातःकाल जव लोगों ने उस कलाकृति सेंध

को देखा तो चोरी होने की वात को भूलकर चोर की कला की प्रशंसा करने लगे। उसी जन-समूह में चोर भी खड़ा था और अपनी चतुराई की तारीफ सुनकर प्रसन्न हो रहा था। एक किसान भी वहाँ था पर उसने प्रशंसा करने के वदले कहा—'भाइयो! इसमें इतनी प्रशंसा या अचंभे की क्या वात है? अपने कार्य में तो हर व्यक्ति कुशल होता है!

किसान की वात सुनकर चोर को वड़ा क्रोध आया और एक दिन वह छुरा लेकर किसान को मारने के लिए उसके खेत में जा पहुँचा। जव वह छूरा उठाकर किसान की ओर लपका तो एकदम पीछे हटते हुए किसान ने पूछा—'तुम कौन हो और मुझे क्यों मारना चाहते हो?' चोर बोला—'तूने उस दिन मेरी लगाई हुई सेंध की प्रशंसा क्यों नहीं की थी?'

किसान समझ गया कि यह वही चोर है। तव वह वोला—"भाई, मैंने तुम्हारी बुराई तो नहीं की थी, यही कहा था कि जो व्यक्ति जिस कार्य को करता है उसमें वह अपने अभ्यास के कारण कुशल हो ही जाता है। अगर तुम्हें विश्वास न हो तो मैं अपनी कला तुम्हें दिखाकर विश्वस्त कर दूँ। देखो, मेरे हाथ में मूँग के ये दाने हैं। तुम कहो तो मैं इन सवको एक साथ ऊर्ध्वमुख, अधोमुख अथवा पार्श्व से गिरा दूँ।

चोर चकित हुआ। उसे विश्वास नहीं आ रहा था। तथापि किसान के कथन की सचाई जानने के लिए वह वोला—"इन सवको अधोमुख डालकर वताओ।"

किसान ने उसी वक्त पृथ्वी पर एक चादर फैलाई और मूँग के दाने इस कुशलता से बिखेरे कि सभी अधोमुख ही गिरे। चोर ने ध्यान से दानों को देखा और कहा—"भाई! तुम तो मुझसे भी अधिक कुशल हो अपने कार्य में।" इतना कहकर वह पुनः लौट गया। उक्त उदाहरण तस्कर एवं कृषक, दोनों की कर्मजा वुद्धि का है।

(३) कौलिक—जुलाहा अपने हाथ में सूत के धागों को लेकर ही सही-सही वता देता है कि इतनी संख्या के कण्डों से इतना वस्त्र तैयार हो जायगा।

(४) डोव—तरखान अनुमान से ही सही-सही वता सकता है कि इस कुड़छी में इतनी मात्रा में वस्तु आ सकेगी।

(५) मोती—सिद्धहस्त मणिकार के लिये कहा जाता है कि वह मोतियों को इस प्रकार उछाल सकता है कि वे नीचे खड़े हुए सूअर के वालों में आकर पिरोये जा सकते हैं।

(६) घृत—कोई-कोई घी का व्यापारी भी इतना कुशल होता है कि वह चाहने पर गाड़ी या रथ में वैठा-वैठा ही नीचे स्थित कुंडियों में विना एक बूँद भी इधर-उधर गिराये घी डाल देता है।

(७) प्लवक (नट)—नटों की चतुराई जगत् प्रसिद्ध है। वे रस्सी पर ही अनेकों प्रकार के खेल करते हैं किन्तु नीचे नहीं गिरते और लोग दाँतों तले अंगुली दवा लिया करते हैं।

(८) तुण्णाग—कुशल दरजी कपड़े की इस प्रकार सफाई से सिलाई करता है कि सीवन किस जगह है, इसका पता नहीं पड़ता।

(९) वड्ढइ (वढ़ई)—वढ़ई लकड़ी पर इतनी सुन्दर कलाकृति का निर्माण करता है तथा

विभिन्न प्रकार के सुन्दर चित्र बनाता है कि वे सजीव दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त लकड़ी को तराश कर इस प्रकार जोड़ता है कि जोड़ कहीं नजर नहीं आता।

(१०) आपूपिक—चतुर हलवाई नाना प्रकार व्यञ्जन बनाता है तथा तोल-नाप के बिना ही किसमें कितना द्रव्य लगेगा, इसका अनुमान कर लेता है। कई व्यक्ति तो अपनी कला में इतने माहिर होते हैं कि दूर-दूर के देशों तक उनकी प्रसिद्धि फैल जाती है तथा वह नगर उस विशिष्ट व्यञ्जन के द्वारा भी प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है।

(११) घट—कुम्भकार घड़ों का निर्माण करने में इतना चतुर होता है कि चलते हुए चाक पर जल्दी-जल्दी रखने के लिये भी मिट्टी का उतना ही पिंड उठाता है, जितने से घट बनता है।

(१२) चित्रकार—कुशल चित्रकार अपनी तूलिका के द्वारा फूल, पत्ती, पेड़, पौधे, नदी अथवा झरने आदि के ऐसे चित्र बनाता है कि उनमें असली-नकली का भेद करना कठिन हो जाता है। वह पशु-पक्षी अथवा मानव के चित्रों में भी प्राण फूँक देता है। क्रोध, भय, हास्य तथा घृणा आदि के भाव चेहरों पर इस प्रकार अंकित करता है कि देखने वाला दंग रह जाय।

उल्लिखित सभी उदाहरण कार्य करते-करते अभ्यास से समुत्पन्न कर्मजा बुद्धि के परिचायक हैं। ऐसी बुद्धि ही मानव को अपने व्यवसाय में दक्ष बनाती है।

(४) पारिणामिकी बुद्धि के लक्षण

(५२)—अणुमान-हेउ-दिट्ठंतसाहिआ, वय-विवाग-परिणामा।
हिय-निस्सेयस फलवई, बुद्धी परिणामिया नाम॥

(५२)—अनुमान, हेतु और दृष्टान्त से कार्य को सिद्ध करने वाली, आयु के परिपक्व होने से पुष्ट, लोकहितकारी तथा मोक्षरूपी फल प्रदान करनेवाली बुद्धि पारिणामिकी कही गई है।

पारिणामिकी बुद्धि के उदाहरण

(५३)—अभए सिट्ठी कुमारे, देवी उदियोदए हवइ राया।
साहू य नंदिसेणे, धणदत्ते सावग अमच्चे॥
खमए अमच्चपुत्ते, चाणक्के चेव थूलभद्दे य।
नासिक्क सुंदरीनंदे, वइरे परिणाम बुद्धीए॥
चलणाहण आमंडे, मणी य सप्पे य खग्गिथूभिंदे।
परिणामिय-बुद्धीए, एवमाई उदाहरणा॥

से त्तं अस्सुयनिस्सियं।

(५३)—(१) अभयकुमार (२) सेठ (३) कुमार (४) देवी (५) उदितोदय (६) साधु और नन्दिघोष (७) धनदत्त (८) श्रावक (९) अमात्य (१०) क्षपक (११) अमात्यपुत्र (१२) चाणक्य (१३) स्थूलिभद्र (१४) नासिक का सुन्दरीनन्द (१५) वज्रस्वामी (१६) चरणाहत (१७) आंवला

मणि (१९) सर्प (२०) गेंडा (२१) स्तूप-भेदन। ये सभी उदाहरण पारिणामिकी बुद्धि के उदाहरण हैं।

अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान का निरूपण पूर्ण हुआ।

(१) **अभयकुमार**—बहुत समय पहले उज्जयिनी नगरी में राजा चण्डप्रद्योतन राज्य करता था। एक बार उसने अपने साढूभाई और राजगृह के राजा श्रेणिक को दूत द्वारा कहलवा भेजा—'अगर अपना और राज्य का भला चाहते हो तो अनुपम वंकचूड़ हार, सेचनक हाथी, अभयकुमार पुत्र तथा रानी चेलना को अविलम्ब मेरे पास भेज दो।'

दूत के द्वारा चंडप्रद्योतन का यह संदेश सुनकर श्रेणिक आगबबूला हो गया और दूत से कहा—"अवध्य होने के कारण तुम्हें छोड़ देता हूँ पर अपने राजा से जाकर कह देना कि यदि तुम अपनी कुशल चाहते हो तो अग्निरथ, अनिलगिरि हस्ती, वज्रजंघ दूत तथा शिवादेवी रानी, इन चारों को मेरे यहाँ शीघ्रातिशीघ्र भेज दो।"

दूत के द्वारा यह उत्तर सुनते ही चंडप्रद्योतन भारी सेना लेकर राजगृह पर चढ़ाई करने के लिए रवाना हो गया और राजगृह के चारों ओर घेरा डाल दिया। श्रेणिक ने भी युद्ध करने की तैयारी करली। सेना सुसज्जित हो गई। किन्तु पारिणामिकी बुद्धि के धारक अभयकुमार ने अपने पिता श्रेणिक से नम्रतापूर्वक कहा—"महाराज! अभी आप युद्ध करने का आदेश मत दीजिये, मैं कुछ ऐसा उपाय करूंगा कि 'साँप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे।' अर्थात् मौसा चंडप्रद्योतन स्वयं भाग जाएँ और हमारी सेना भी नष्ट न होने पाए।" श्रेणिक को अपने पुत्र पर विश्वास था अतः उसने अभयकुमार की बात मान ली।

इधर रात्रि को ही अभयकुमार काफी धन लेकर नगर से बाहर आया और उसे चंडप्रद्योतन के डेरे के पीछे भूमि में गड़वा दिया। तत्पश्चात् वह चंडप्रद्योतन के समक्ष आया। प्रणाम करके बोला—"मौसा जी! आप किस फेर में हैं? इधर आप राजगृह को जीतने का स्वप्न देख रहे हैं और उधर आपके सभी वरिष्ठ सेनाधिकारियों को पिताजी ने घूस देकर अपनी ओर मिला लिया है। वे सूर्योदय होते ही आपको बन्दी बनाकर मेरे पिताजी के समक्ष उपस्थित कर देंगे। आप मेरे मौसा हैं, अतः आपको मैं धोखा खाकर अपमानित होते नहीं देख सकता।" चंडप्रद्योतन ने कुछ अविश्वास पूर्वक पूछा—"तुम्हारे पास इस बात का क्या प्रमाण है?" तब अभयकुमार ने उन्हें चुपचाप अपने साथ ले जाकर गड़ा हुआ धन निकाल कर दिखाया। धन देखकर चंडप्रद्योतन को अपनी सेना के मुख्याधिकारियों की गद्दारी का विश्वास हो गया और वह उसी समय घोड़े पर सवार होकर उज्जयिनी की ओर चल दिया।

प्रातःकाल जब सेनापति आदि चंडप्रद्योतन के डेरे में राजगृह पर धावा करने की आज्ञा लेने के लिए आए तो डेरा खाली मिला। न राजा था और न ही उसका घोड़ा। सबने समझ लिया कि राजा वापिस नगर को लौट गए हैं। बिना दूल्हे की बरात के समान सेना फिर क्या करती! सभी वापिस उज्जयिनी लौट गये।

वहाँ आने पर सभी उनके रातों रात लौट आने का कारण जानने के लिए महल में गए। राजा ने सभी को धोखेबाज समझकर मिलने से इंकार कर दिया। बहुत प्रार्थना करने पर और

दयनीयता प्रदर्शित करने पर राजा उनसे मिला तथा गद्दारी के लिए फटकारने लगा। वेचारे पदाधिकारी घोर आश्चर्य में पड़ गए पर अन्त में विनम्र भाव से एक ने कहा—"देव ! वर्षों से आपका नमक खा रहे हैं। भला हम इस प्रकार आपके साथ छल कर सकते हैं ? यह चालवाजी अभयकुमार की ही है। उसने आपको भुलावे में डालकर अपने पिता का व राज्य का वचाव कर लिया है।

चंडप्रद्योतन के गले यह वात उतर गई। उसे अभयकुमार पर वड़ा क्रोध आया और नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया कि—'जो कोई अभयकुमार को पकड़कर मेरे पास लाएगा उसे राज्य की ओर से वहुमूल्य पुरस्कार दिया जाएगा।'

नगर में घोषणा तो हो गई किन्तु विल्ली के गले में घंटी वाँधने जाए कौन ? राजा के मंत्री, सेनापति आदि से लेकर साधारण व्यक्ति तक सभी को मानो साँप सूँघ गया। किसी की हिम्मत नहीं हुई कि अभयकुमार को पकड़ने जाय। आखिर एक वेश्या ने यह कार्य करना स्वीकार किया और राजगृह जाकर वहाँ श्राविका के समान रहने लगी। कुछ काल वीतने पर उस पाखंडी श्राविका ने एक दिन अभयकुमार को अपने यहाँ भोजन करने के लिये निमंत्रण भेजा। श्राविका समझकर अभयकुमार ने न्यौता स्वीकार कर लिया। वेश्या ने खाने की वस्तुओं में कोई नशीली चीज मिला दी। उसे खाते ही अभयकुमार मूर्छित हो गया। गणिका इसी पल की प्रतीक्षा कर रही थी। उसने अविलम्ब अभयकुमार को अपने रथ में डलवाया और उज्जयिनी ले जाकर चंडप्रद्योतन राजा को सौंप दिया। राजा हर्षित हुआ तथा होश में आने पर अभयकुमार से व्यंगमिश्रित परिहासपूर्वक बोला—"क्यों वेटा ! धोखेवाजी का फल मिल गया ? किस चतुराई से मैंने तुझे यहां पकड़वा मंगाया है।"

अभयकुमार ने तनिक भी घवराए विना निर्भयतापूर्वक तत्काल उत्तर दिया—"मौसाजी ! आपने तो मुझे वेहोश होने पर रथ में डालकर यहाँ मंगवाया है किन्तु मैं तो आपको पूरे होशोहवास में रथ पर वैठाकर जूते मारता हुआ राजगृह ले जाऊँगा।"

राजा ने अभय की वात को उपहास समझकर टाल दिया और उसे अपने यहाँ रख लिया, किन्तु अभयकमार ने वदला लेने की ठान ली थी। वह मौके की ताक में रहने लगा।

कुछ दिन वीत जाने पर अभयकुमार ने एक योजना वनाई। उसके अनुसार एक ऐसे व्यक्ति को खोज निकाला जिसकी आवाज ठीक चंडप्रद्योतन राजा जैसी थी। उस गरीव व्यक्ति को भारी इनाम का लालच देकर अपने पास रख लिया और अपनी योजना समझा दी। तत्पश्चात् एक दिन अभयकुमार उसे रथ पर वैठाकर नगरी के वीच से उसके सिर पर जूते मारता हुआ निकला। जूते खाने वाला चिल्लाकर कहता जा रहा था—"अरे, अभयकुमार मुझे जूतों से पीट रहा है, कोई छुड़ाओ ! मुझे वचाओ !" अपने राजा की जैसी आवाज सुनकर लोग दौड़े और उसे छुड़ाने लगे, किन्तु लोगों के आते ही जूते मारने वाला और जूते खाने वाला, दोनों ही खिलखिला कर हँस पड़े। अभयकुमार का खेल समझ लोग चुपचाप चल दिये। अभयकुमार निरंतर पाँच दिन तक इसी प्रकार करता रहा। वाजार के व्यक्ति यह देखते पर कुमार की क्रीडा समझकर हँसते रहते। कोई उस व्यक्ति को छुड़ाने नहीं आता।

छठे दिन मौका पाकर अभयकुमार ने राजा चंडप्रद्योतन को ही वाँध लिया और वलपूर्वक रथ पर वैठाकर सिर पर जूते मारता हुआ वीच वाजार से निकला। राजा चिल्ला रहा था—"अरे

दौड़ो ! दौड़ो !! पकड़ो ! अभयकुमार मुझे जूते मारता हुआ ले जा रहा है।" लोगों ने देखा, किन्तु प्रतिदिन की तरह अभयकुमार का मनोरंजक खेल समझकर हँसते रहे, कोई भी राजा को छुड़ाने नहीं आया। नगरी से बाहर आते ही अभयकुमार ने पवन-वेग से रथ को दौड़ाया तथा राजगृह आकर ही दम लिया। यथासमय दरबार में अपने पिता राजा श्रेणिक के समक्ष चंडप्रद्योतन को उपस्थित किया। चंडप्रद्योतन अभयकुमार के चातुर्य से मात खाकर अत्यन्त लज्जित हुआ। उसने श्रेणिक से क्षमायाचना की। राजा श्रेणिक ने चंडप्रद्योतन को उसी क्षण हृदय से लगाया तथा राजसी सम्मान प्रदान करते हुए उज्जयिनी पहुँचा दिया। राजगृह के निवासियों ने पारिणामिकी बुद्धि के अधिकारी अपने कुमार की मुक्त कंठ से सराहना की।

(२) सेठ—एक सेठ की पत्नी चरित्रहीन थी। पत्नी के अनाचार से क्षुब्ध होकर उसने पुत्र पर घर की जिम्मेदारी डाल दी और स्वयं संयम ग्रहण कर साधु बन गया। इसके बाद ही संयोगवश जनता ने श्रेष्ठिपुत्र को वहाँ का राजा बना दिया। वह राज्य करने लगा। कुछ काल पश्चात् मुनि विचरण करते हुए उसी राज्य में आए। राजा ने अपने मुनि हो गये पिता से उसी नगर में चातुर्मास करने की प्रार्थना की। राजा की आकांक्षा एवं आग्रह के कारण मुनि ने वहाँ वर्षावास किया। मुनि के उपदेशों से जनता बहुत प्रभावित हुई, किन्तु जैन शासन के विरोधियों को यह सह्य नहीं हुआ और उन्होंने मुनि को बदनाम करने के लिये षड्यंत्र रचा। जब चातुर्मास काल सम्पन्न हुआ और मुनि विहार करने के लिये तैयार हुए तो विरोधियों के द्वारा सिखाई-पढ़ाई एक गर्भवती दासी आकर कहने लगी—"मुनिराज ! मैं तो निकट भविष्य में ही तुम्हारे बच्चे की माँ बनने वाली हूँ और तुम मुझे छोड़कर अन्यत्र जा रहे हो ! पीछे मेरा क्या होगा ?"

मुनि निष्कलंक थे पर उन्होंने विचार किया—"अगर इस समय मैं चला जाऊँगा तो शासन का अपयश होगा तथा धर्म की हानि होगी।" वे एक शक्तिसम्पन्न साधक थे, दासी की झूठी बात सुनकर कह दिया—"अगर यह गर्भ मेरा होगा तो प्रसव स्वाभाविक होगा, अन्यथा वह तेरा उदर फाड़कर निकलेगा।"

दासी आसन्न-प्रसवा थी किन्तु मुनि पर झूठा कलंक लगाने के कारण प्रसव नहीं हो रहा था। असह्य कष्ट होने पर उसे पुनः मुनि के समक्ष ले जाया गया और उसने सच उगलते हुए कहा—"महाराज ! आपके द्वेषियों के कथनानुसार मैंने आप पर झूठा लांछन लगाया था। कृपया मुझे क्षमा करते हुए इस संकट से मुक्त करें।"

मुनि के हृदय में कषाय का लेश भी नहीं था। उसी क्षण उन्होंने दासी को क्षमा कर दिया और प्रसव सकुशल हो गया। धर्म-विरोधियों की थू-थू होने लगी तथा मुनि व जैन धर्म का यश और बढ़ गया। यह सब मुनिराज की पारिणामिकी बुद्धि से ही हुआ।

(४) देवी—प्राचीन काल में पुष्पभद्र नामक नगर में पुष्पकेतु राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पुष्पवती, पुत्र का पुष्पचूल तथा पुत्री का पुष्पचूला था। भाई-बहन जब बड़े हुए, दुर्भाग्य से माता पुष्पवती का देहान्त हो गया और वह देवलोक में पुष्पवती नाम की देवी के रूप में उत्पन्न हुई।

देवी रूप में उसने अवधिज्ञान से अपने परिवार को देखा तो उसके मन में आया कि अगर पुष्पचूला आत्म-कल्याण के पथ को अपना ले तो कितना अच्छा हो ! यह विचारकर उसने पुष्पचूला

को स्वप्न में स्वर्ग तथा नरक के दृश्य स्पष्ट दिखाए। स्वप्न देखने से पुष्पचूला को प्रतिबोध हो गया और उसने सांसारिक सुखों का त्याग करके संयम ग्रहण कर लिया। अपने दीक्षाकाल में शुद्ध संयम का पालन करते हुए उसने घाती कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्तकर सदा के लिए जन्म-मरण से छुटकारा पा लिया। देवी पुष्पवती की पारिणामिकी बुद्धि का यह उदाहरण है।

(५) **उदितोदय**—पुरिमतालपुर का राजा उदितोदय था। उसकी रानी का नाम श्रीकान्ता था। दोनों बड़े धार्मिक विचारों के थे तथा श्रावकवृत्ति धारणकर धर्मानुसार सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे।

एक बार एक परिव्राजिका उनके अन्तःपुर में आई। उसने रानी को शौचमूलक धर्म का उपदेश दिया। किन्तु महारानी ने उसका विशेष आदर नहीं किया, अतः परिव्राजिका स्वयं को अपमानित समझ कर क्रुद्ध हो गई। बदला लेने के लिये उसने वाराणसी के राजा धर्मरुचि को चुना तथा उसके पास रानी श्रीकान्ता के अतुलनीय रूप-यौवन की प्रशंसा की। धर्मरुचि ने श्रीकान्ता को प्राप्त करने के लिये पुरिमतालपुर पर चढ़ाई की। चारों ओर घेरा डाल दिया। रात्रि को उदितोदय ने विचारा—"अगर युद्ध करूंगा तो भीषण नर-संहार होगा और असंख्य निरपराध प्राणी व्यर्थ प्राणों से हाथ धो बैठेंगे। अतः कोई अन्य उपाय करना चाहिए।"

जन-संहार को बचाने के लिये राजा ने वैश्रमण देव की आराधना करने का निश्चय किया तथा अष्टमभक्त ग्रहण किया। अष्टमभक्त की समाप्ति होने पर देव प्रकट हुआ और राजा ने उसके समक्ष अपना विचार रखा। राजा की उत्तम भावना देखकर वैश्रमण देवता ने अपनी वैक्रिय शक्ति के द्वारा पुरिमतालपुर नगर को ही अन्य स्थान पर ले जाकर स्थित कर दिया। इधर अगले दिन जब धर्मरुचि राजा ने देखा कि पुरिमतालपुर नगर का नामोनिशान ही नहीं है। मात्र खाली मैदान दिखाई दे रहा है तो निराश और चकित हो सेना सहित लौट चला। उदितोदय की पारिणामिकी बुद्धि ने सम्पूर्ण नगर की रक्षा की।

(६) **साधु और नन्दिषेण**—नन्दिषेण राजगृह के राजा श्रेणिक का पुत्र था। विवाह के योग्य हो जाने पर श्रेणिक ने अनेक लावण्यवती एवं गुण-सम्पन्न राजकुमारियों के साथ उसका विवाह किया तथा उनके साथ नन्दिषेण सुखपूर्वक समय व्यतीत करने लगा।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह नगर में पधारे। राजा सपरिवार भगवान् के दर्शनार्थ गया। नन्दिषेण एवं उसकी पत्नियाँ भी साथ थीं। धर्मदेशना सुनी। सुनकर नन्दिषेण संसार के नश्वर सुखों से विरक्त हो गया। माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर उसने संयम अंगीकार कर लिया। अत्यन्त तीव्र बुद्धि होने कारण मुनि नन्दिषेण ने अल्पकाल में ही शास्त्रों का गहन अध्ययन किया तथा अपने धर्मोपदेशों से अनेक भव्यात्माओं को प्रतिबोधित करके मुनिधर्म अंगीकार कराया।

भगवान् महावीर की आज्ञा लेकर अपनी शिष्यमंडली सहित मुनि नन्दिषेण ने राजगृह से अन्यत्र विहार कर दिया।

बहुत काल तक ग्रामानुग्राम विचरण करने पर एक बार मुनि नन्दिषेण को ज्ञात हुआ कि उनका एक शिष्य संयम के प्रति अरुचि रखने लगा है तथा पुनः सांसारिक सुख भोगने की इच्छा रखता है। कुछ विचार कर नन्दिषेण ने शिष्य-समुदाय सहित पुनः राजगृह की ओर प्रस्थान किया।

अपने पुत्र मुनि नन्दिषेण के आगमन का समाचार सुनकर राजा श्रेणिक को अपार हर्ष हुआ। वह अपने अन्त:पुर के सम्पूर्ण सदस्यों के साथ नगर के बाहर, जहाँ मुनिजन ठहरे थे, दर्शनार्थ आया। सभी संतों ने राजा श्रेणिक को, उनकी रानियों को तथा अपने गुरु नन्दिषेण की अनुपम रूपवती पत्नियों को देखा। उन्हें देख कर मुनि-वृत्ति त्यागने के इच्छुक, विचलित मन वाले उस साधु ने सोचा—"अरे! मेरे गुरु ने तो अप्सराओं को भी मात करने वाली इन रूपवती स्त्रियों को त्याग कर मुनि-धर्म ग्रहण किया है तथा मन, वचन, कर्म से सम्यक्तया इसका पालन कर रहे हैं, और मैं वमन किये हुए विषय-भोगों का पुन: सेवन करना चाहता हूँ! धिक्कार है मुझे! मुझे इस प्रकार विचलित होने का प्रायश्चित्त करना चाहिये।" ऐसे विचार आने पर वह मुनि: पुन: संयम में दृढ़ हो गया तथा आत्म-कल्याण में और अधिक तन्मयता से प्रवृत्त हुआ।

यह सब मुनि नंदिषेण की पारिणामिकी बुद्धि के कारण हो सका।

(७) धनदत्त—धनदत्त का उदाहरण श्रीज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र के अठारहवें अध्ययन में विस्तारपूर्वक दिया गया है, अत: उसमें से जानना चाहिये।

(८) श्रावक—एक व्यक्ति ने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। 'स्वदारसंतोष' भी उनमें से एक था। बहुत समय तक वह अपने व्रतों का पालन करता रहा किन्तु कर्म-संयोग से एक बार उसने अपनी पत्नी की सखी को देख लिया और आसक्त होकर उसे पाने की इच्छा करने लगा। अपनी इस इच्छा को लज्जा के कारण वह व्यक्त नहीं करता था, किन्तु मन ही मन दुखी रहने के कारण दुर्बल होता चला जा रहा था। यह देखकर उसकी पत्नी ने एक दिन आग्रह करके उससे कारण पूछा।

श्रावक की पत्नी बड़ी गुण-सम्पन्न श्राविका थी। उसने पति का तिरस्कार नहीं किया अपितु विचार करने लगी—'अगर मेरे पति का इन्हीं कुविचारों के साथ निधन होगा तो उन्हें दुर्गति प्राप्त होगी। अत: ऐसा करना चाहिये कि इनके कलुषित विचार नष्ट हो जाएँ और व्रत-भंग न हों।' बहुत सोच विचार कर उसने एक उपाय खोज निकला। वह एक दिन पति से बोली—"स्वामिन्! मैंने अपनी सखी से बात कर ली है। वह आज रात्रि को आपके पास आएगी, किन्तु आएगी अँधेरे में। वह कुलीन घर की है अत: उजाले में आने में लज्जा अनुभव करती है।" पति से यह कहकर वह अपनी सखी के पास गई और उससे वही वस्त्राभूषण माँग लाई, जिन्हें पहने हुए उसके पति ने उसे देखा था। रात्रि को उसने उन्हें ही धारण किया और चुपचाप अपने पति के पास चली गई। किन्तु प्रात:काल होने पर श्रावक को घोर पश्चात्ताप हुआ। वह अपनी पत्नी से कहने लगा—"मैंने बड़ा अनर्थ किया है कि अपना अंगीकृत व्रत भंग कर दिया।"

पति को सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करते देखकर पत्नी ने यथार्थ बात कह दी। श्रावक ने स्वयं को पतित होने से बचाने वाली अपनी पत्नी की सराहना की। अपने गुरु के समक्ष जाकर आलोचना करके प्रायश्चित्त किया।

श्राविका पत्नी ने पारिणामिकी बुद्धि के द्वारा ही पति को नाराज किये बिना उसके व्रत की रक्षा की।

(९) अमात्य—बहुत काल पहले कांपिल्यपुर में ब्रह्म नामक राजा था। उसकी रानी का नाम चुलनी था। चुलनी रानी ने एक बार चक्रवर्ती के जंन्म-सूचक चौदह स्वप्न देखे तथा यथा-समय

एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। ब्रह्मदत्त के बचपन में ही राजा ब्रह्म का देहान्त हो गया अतः राज्य का भार ब्रह्मदत्त के वयस्क होने तक के लिए राजा के मित्र दीर्घपृष्ठ को सौंपा गया। दीर्घपृष्ठ चारित्रहीन था और रानी चुलनी भी। दोनों का अनुचित सम्बन्ध स्थापित हो गया।

राजा ब्रह्म का धनु नामक मन्त्री राजा व राज्य का बहुत वफादार था। उसने बड़ी सावधानी पूर्वक राजकुमार ब्रह्मदत्त की देख-रेख की और उसके बड़े होने पर दीर्घपृष्ठ तथा रानी के अनुचित सम्बन्ध के विषय में बता दिया। युवा राजकुमार ब्रह्मदत्त को माता के अनाचार पर बड़ा क्रोध आया। उसने उन्हें चेतावनी देने का निश्चय किया। अपने निश्चय के अनुसार वह पहली बार एक कोयल और एक कौए को पकड़ लाया तथा अन्तःपुर में माता के समक्ष आकर बोला—"इन पक्षियों के समान जो वर्णसंकरत्व करेंगे, उन्हें मैं निश्चय ही दंड दूंगा।"

रानी पुत्र की बात सुनकर घबराई पर दीर्घपृष्ठ ने उसे समझा दिया—"यह तो बालक है, इसकी बात पर ध्यान देने की क्या जरूरत है?"

दूसरी बार एक श्रेष्ठ हथिनी और एक निकृष्ट हाथी को साथ देखकर भी राजकुमार ने रानी एवं दीर्घपृष्ठ को लक्ष्य करते हुए व्यंगात्मक भाषा में अपनी धमकी दोहराई।

तीसरी बार वह एक हंसिनी और बगुले को लाया तथा गम्भीर स्वर से कहा "इस राज्य में जो भी इनके सदृश आचरण करेगा उन्हें मैं मृत्यु-दंड दूंगा।"

तीन बार इसी तरह की धमकी राजकुमार से सुनकर दीर्घपृष्ठ के कान खड़े हो गये। उसने सोचा—"अगर मैं राजकुमार को नहीं मरवाऊँगा तो यह हमें मार डालेगा।" यह सोचकर वह रानी से बोला—"अगर हमें अपना मार्ग निष्कंटक बनाकर सदा सुखपूर्वक जीवन बिताना है तो राजकुमार का विवाह करके उसे पत्नी सहित एक लाक्षागृह में भेजकर उसमें आग लगा देना चाहिए।" कामांध व्यक्ति क्या नहीं कर सकता! रानी माता होने पर भी पुत्र की हत्या के लिए तैयार हो गई।

राजकुमार ब्रह्मदत्त का विवाह राजा पुष्पचूल की कन्या से कर दिया गया तथा लाक्षागृह भी बड़ा सुन्दर बन गया। उधर जब मन्त्री धनु को सारे षड्यन्त्र का पता चला तो वह दीर्घपृष्ठ के समीप गया और बोला—"देव! मैं वृद्ध हो गया हूँ। अब काम करने की शक्ति भी नहीं रह गई है। अतः शेष जीवन में भगवद्-भजन में व्यतीत करना चाहता हूँ। मेरा पुत्र वरधनु योग्य हो गया है, अब राज्य की सेवा वही करेगा।

इस प्रकार दीर्घपृष्ठ से आज्ञा लेकर मंत्री धनु वहां से रवाना हो गया और गंगा के किनारे एक दानशाला खोलकर दान देने लगा। पर इस कार्य की आड़ में उसने अतिशीघ्रता से एक सुरंग खुदवाई जो लाक्षागृह में निकली थी। राजकुमार का विवाह तथा लाक्षागृह का निर्माण सम्पन्न होने तक सुरंग भी तैयार हो चुकी थी।

विवाह के पश्चात् नवविवाहित ब्रह्मदत्त कुमार और दुल्हन को वरधनु के साथ लाक्षागृह में पहुँचाया गया, किन्तु अर्धरात्रि के समय अचानक आग लग गई और लाक्षागृह पिघलने लगा। यह देखकर कुमार ने घबराकर वरधनु से पूछा—"मित्र! यह क्या हो रहा है? आग कैसे लग गई?" तब वरधनु ने संक्षेप में दीर्घपृष्ठ और रानी के षड्यंत्र के विषय में बताया। साथ ही कहा—"आप

घबराएं नहीं, मेरे पिताजी ने इस लाक्षागृह से गंगा के किनारे तक सुरंग बनवा रखी है और वहाँ घोड़े तैयार खड़े हैं। वे आपको इच्छित स्थान तक पहुंचा देंगे। शीघ्र चलिए! आप दोनों को सुरंग द्वारा यहाँ से निकालकर मैं गंगा के किनारे तक पहुंचा देता हूँ।"

इस प्रकार अमात्य धनु की पारिणामिकी बुद्धि द्वारा बनवाई हुई सुरंग से राजकुमार ब्रह्मदत्त सकुशल मौत के मुंह से निकल गये तथा कालान्तर में अपनी वीरता एवं बुद्धिबल से षट्खंड जीतकर चक्रवर्ती सम्राट् बने।

(१०) क्षपक—एक बार तपस्वो मुनि भिक्षा के लिए अपने शिष्य के साथ गये। लौटते समय तपस्वी के पैर के नीचे एक मेंढ़क दब गया। शिष्य ने यह देखा तो गुरु से शुद्धि के लिये कहा, किन्तु शिष्य की बात पर तपस्वी ने ध्यान नहीं दिया। सायंकाल प्रतिक्रमण करने के समय पुनः शिष्य ने मेंढ़क के मरने की बात स्मरण कराते हुए गुरु से विनयपूर्वक प्रायश्चित्त लेने के लिए कहा। किन्तु तपस्वी आगबबूला हो उठा और शिष्य को मारने के लिए झपटा। झोंक में वह तेजी से आगे बढ़ा किन्तु अंधकार होने के कारण शिष्य के पास तो नहीं पहुँच पाया, एक खंभे से मस्तक के बल टकरा गया। सिर फूट गया और उसी क्षण वह मृत्यु का ग्रास बन गया। मरकर वह ज्योतिष्क देव हुआ। फिर वहाँ से च्यवकर दृष्टि-विष सर्प की योनि में जन्मा। उस योनि में जातिस्मरण ज्ञान से उसे अपने पूर्व जन्मों का पता चला तो वह घोर पश्चात्ताप से भर गया और फिर बिल में ही रहने लगा, यह विचारकर कि मेरी दृष्टि के विष से किसी प्राणी का घात न हो जाय।

उन्हीं दिनों समीप के राज्य में एक राजकुमार सर्प के काटने पर मर गया। राजा ने दुःख और क्रोध भरकर कई संपेरों को बुलाया तथा राज्यभर के सर्पों को पकड़कर मारने की आज्ञा दे दी। एक संपेरा उस दृष्टि-विष सर्प के बिल पर भी जा पहुँचा। उसने सर्प को बाहर निकालने के लिए कोई दवा बिल पर छिड़क दी। दवा के प्रभाव से उसे निकलना ही था किन्तु यह सोचकर कि दृष्टि के कारण कोई व्यक्ति मर न जाए, उस सर्प ने पूंछ के बल से निकलना प्रारंभ किया। ज्यों-ज्यों वह निकलता गया सपेरे ने उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। मरते समय भी सर्प ने किंचित् मात्र भी रोष न करते हुए पूर्ण समभाव रखा और उसके परिणामस्वरूप वह उसी राज्य के राजा के यहाँ पुत्र बन कर उत्पन्न हुआ। उसका नाम नागदत्त रखा गया।

नागदत्त पूर्वजन्म के उत्तम संस्कार लेकर जन्मा था, अतः वह बाल्यावस्था में ही संसार से विरक्त हो गया और मुनि बन गया। अपने विनय, सरलता, सेवा एवं क्षमा आदि असाधारण गुणों से वह देवों के लिये भी वंदनीय बन गया। अन्य मुनि इसी कारण उससे ईर्ष्या करने लगे। पिछले जन्म में तिर्यंच होने के कारण उसे भूख अधिक लगती थी। इस कारण वह अनशन तपस्या नहीं कर सकता था। एक उपवास करना भी उसके लिये कठिन था। एक दिन, जबकि अन्य मुनियों के उपवास थे, नागदत्त भूख सहन न कर पाने के कारण अपने लिए आहार लेकर आया। विनयपूर्वक आहार उसने अन्य मुनियों को दिखाया पर उन्होंने उसे भुखमरा कहकर तिरस्कृत करते हुए उस आहार में थूक दिया। नागदत्त में इतना सम-भाव एवं क्षमा का जबर्दस्त गुण था कि उसने तनिक भी रोष तो नहीं ही किया, उलटे भूखा न रह पाने के कारण अपनी निन्दा तथा अन्य सभी की प्रशंसा करता रहा। ऐसी उपशान्त वृत्ति तथा परिणामों की विशुद्धता के कारण उसी समय उसे केवल-ज्ञान हो गया और देवता कैवल्य-महोत्सव मनाने के लिये उपस्थित हुए। यह देखकर अन्य तपस्वियों

को अपने व्यवहार पर घोर पश्चात्ताप होने लगा। पश्चात्ताप के परिणामस्वरूप उनकी आत्माओं के निर्मल हो जाने से उन्हें भी केवलज्ञान उपलब्ध हो गया।

विपरीत परिस्थितियों में भी पूर्ण समता एवं क्षमा-भाव रखकर कैवल्य को प्राप्त कर लेना नागदत्त की पारिणामिकी बुद्धि के कारण ही संभव हो सका।

(११) **अमात्य-पुत्र**—काम्पिल्यपुर के राजा का नाम ब्रह्म, मंत्री का धनु, राजकुमार का ब्रह्मदत्त तथा मंत्री के पुत्र का नाम वरधनु था। ब्रह्म की मृत्यु हो जाने पर उसके मित्र दीर्घपृष्ठ ने राज्यकार्य संभाला किन्तु रानी चुलनी से उसका अनैतिक सम्बन्ध हो गया। राजकुमार ब्रह्मदत्त को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने अपनी माता तथा दीर्घपृष्ठ को मार डालने की धमकी दी। इस पर दोनों ने कुमार को अपने मार्ग का कंटक समझकर उसका विवाह करने तथा विवाहोपरान्त पुत्र और और पुत्रवधू को लाक्षागृह में जला देने का निश्चय किया। किन्तु ब्रह्मदत्त कुमार का वफ़ादार मंत्री धनु एवं उसके पुत्र वरधनु की सहायता से लाक्षागृह में से निकल गया। वह वृत्तान्त पाठक पढ़ चुके हैं। तत्पश्चात् जब वे जंगल में जा रहे थे, ब्रह्मदत्त को प्यास लगी। वरधनु राजकुमार को एक वृक्ष के नीचे बिठाकर स्वयं पानी लेने चला गया।

इधर जब दीर्घपृष्ठ को राजकुमार के लाक्षागृह से भाग निकलने का पता चला तो उसने कुमार और उसके मित्र वरधनु को खोजकर पकड़ लाने के लिये अनुचरों को दौड़ा दिया। सेवक दोनों को खोजते हुए जंगल के सरोवर के उसी तीर पर पहुचे जहाँ वरधनु राजकुमार के लिए पानी भर रहा था। कर्मचारियों ने वरधनु को पकड़ लिया पर उसी समय वरधनु ने जोर से इस प्रकार शब्द किया कि कुमार ब्रह्मदत्त ने संकेत समझ लिया और वह उसी क्षण घोड़े पर सवार होकर भाग निकला।

सेवकों ने वरधनु से राजकुमार का पता पूछा, किन्तु उसने नहीं बताया। तब उन्होंने उसे मारना-पीटना आरम्भ कर दिया। इस पर चतुर वरधनु इस प्रकार निश्चेष्ट होकर पड़ गया कि अनुचर उसे मृत समझकर छोड़ गये। उनके जाते ही वह उठ बैठा तथा राजकुमार को ढूंढने लगा। राजकुमार तो नहीं मिला पर रास्ते में उसे संजीवन और निर्जीवन, दो प्रकार की औषधियाँ प्राप्त हो गईं जिन्हें लेकर वह नगर की ओर लौट आया।

जब वह नगर के बाहर ही था, उसे एक चांडाल मिला, उसने बताया कि तुम्हारे परिवार के सभी व्यक्तियों को राजा ने बंदी बना लिया है। यह सुनकर वरधनु ने चांडाल को इनाम का लालच देकर उसे 'निर्जीवन' ओषधि दी तथा कुछ समझाया। चांडाल ने सहर्ष उसकी बात को स्वीकार कर लिया और किसी तरह वरधनु के परिवार के पास जा पहुँचा परिवार के मुखिया को उसने ओषधि दे दी और वरधनु की बात कही। वरधनु के कथनानुसार निर्जीवन ओषधि को पूरे परिवार ने अपनी आँखों में लगा लिया। उसके प्रभाव से सभी मृतक के समान निश्चेष्ट होकर गिर पड़े। यह जानकर दीर्घपृष्ठ ने उन्हें चांडाल को सौंपकर कहा—"इन्हें श्मशान में ले जाओ!" 'अन्धा क्या चाहे, दो आँखें।' चांडाल यही तो चाहता था। वह सभी को श्मशान में वरधनु के द्वारा बताये गये स्थान पर रख आया। वरधनु ने आकर उन सभी को आँखों में 'संजीवन' ओषधि आंज दी। क्षण-मात्र में ही सब स्वस्थ होकर उठ बैठे और वरधनु को अपने समीप पाकर हर्षित हुए। तत्पश्चात् वरधनु ने अपने परिवार को किसी सम्बंधी के यहाँ सकुशल रखा और स्वयं राजकुमार ब्रह्मदत्त को

खोजने निकल पड़ा। दूर जंगल में उसे राजकुमार मिल गया और दोनों मित्र साथ-साथ वहाँ से चले। मार्ग में अनेक राजाओं से युद्ध करके उन्हें जीता, अनेक कन्याओं से ब्रह्मदत्त का विवाह भी हुआ। धीरे-धीरे छह खण्ड को जीतकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती काम्पिल्यपुर आए और दीर्घपृष्ठ को मारकर चक्रवर्ती की ऋद्धि का उपभोग करते हुए सुख एवं ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगे।

इस प्रकार मन्त्रीपुत्र वरधनु ने अपनी कुटुम्ब की एवं ब्रह्मदत्त की रक्षा करते हुए ब्रह्मदत्त को चक्रवर्ती बनने में सहायता देकर पारिणामिकी बुद्धि का प्रमाण दिया।

(१२) **चाणक्य**—नन्द पाटलिपुत्र का राजा था। एक बार किसी कारण उसने चाणक्य नामक ब्राह्मण को अपने नगर से बाहर निकाल दिया। संन्यासी का वेश धारण करके चाणक्य घूमता-फिरता मौर्य देश में जा पहुँचा। वहाँ पर एक दिन उसने देखा कि एक क्षत्रिय पुरुष अपने घर के बाहर उदास बैठा है। चाणक्य ने इसका कारण पूछ लिया। क्षत्रिय ने बताया—"मेरी पत्नी गर्भवती है और उसे चन्द्रपान करने की इच्छा है। मैं इस इच्छा को पूरी नहीं कर सकता। अतः वह अत्यधिक कृश होती जा रही है। डर है कि इस दौहद को लिए हुए वह मर न जाय।" यह सुनकर चाणक्य ने उसकी पत्नी की इच्छा पूर्ण कर देने का आश्वासन दिया।

सोच विचारकर चाणक्य ने नगर के बाहर एक तंबू लगवाया। उसमें ऊपर की तरफ एक चन्द्राकार छिद्र कर दिया। पूर्णिमा के दिन क्षत्राणी को किसी बहाने उसके पति के साथ वहाँ बुलवाया और तम्बू में ऊपरी छिद्र के नीचे एक थाली में कोई पेय-पदार्थ डाल दिया। जब चन्द्र उस छेद के ठीक ऊपर आया तो उसका प्रतिबिम्ब थाली में भरे हुए पदार्थ पर पड़ने लगा। उसी समय चाणक्य ने उस स्त्री से कहा—"बहन! लो इस थाली में चन्द्र है, इसे पी लो।" क्षत्राणी प्रसन्न होकर उसे पीने लगी और ज्योंही उसने पेय-वस्तु समाप्त की चाणक्य ने रस्सी खींचकर उस छिद्र को बन्द कर दिया। स्त्री ने यही समझा कि मैंने 'चन्द्र' पी लिया है। चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण हो जाने से वह शीघ्र स्वस्थ हो गई तथा समय आने पर उसने चन्द्र के समान ही एक अत्यन्त तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। नाम उसका चन्द्रगुप्त रखा गया। चन्द्रगुप्त जब बड़ा हुआ तो उसने अपनी माता को 'चन्द्र-पान' कराने वाले चाणक्य को अपना मन्त्री बना लिया तथा उसकी पारिणामिकी बुद्धि की सहायता से नन्द को मारकर पाटलिपुत्र पर अपना अधिकार कर लिया।

(१३) **स्थूलिभद्र**—जिस समय पाटलिपुत्र में राजा नन्द राज्य करता था, उसका मन्त्री शकटार नामक एक चतुर पुरुष था। उसके स्थूलिभद्र एवं श्रियक नाम के दो पुत्र थे तथा यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेणा, वेणा और रेणा नाम की सात पुत्रियाँ थीं। सबकी स्मरणशक्ति बड़ी तीव्र थी। अन्तर यही था कि सबसे बड़ी पुत्री यक्षा एक बार जिस बात को सुन लेती उसे ज्यों की त्यों याद कर लेती। दूसरी यक्षदत्ता दो बार सुनकर और इसी प्रकार बाकी कन्याएँ क्रमशः तीन, चार, पाँच, छः और सात बार सुनकर किसी भी बात को याद करके सुना सकती थीं।

पाटलिपुत्र में ही एक वररुचि नामक ब्राह्मण भी रहता था। वह बड़ा विद्वान् था। प्रतिदिन एक सौ आठ श्लोकों की रचना करके राज-दरबार में राजा नन्द की स्तुति करता था। नन्द स्तुति सुनता और मन्त्री शकटार की ओर इस अभिप्राय से देखता था कि वह प्रशंसा करे तो उसके अनुसार पुरस्कार-स्वरूप कुछ दिया जा सके। किन्तु शकटार मौन रहता अतः राजा उसे कुछ नहीं देता था। वररुचि प्रतिदिन खाली हाथ लौटता था। घर पर उसकी पत्नी उससे झगड़ा किया करती थी

कि वह कुछ कमाकर नहीं लाता तो घर का खर्च कैसे चले ? प्रतिदिन पत्नी के उपालम्भ सुन-सुनकर वररुचि बहुत खिन्न हुआ और एक दिन शकटार के घर गया। शकटार की पत्नी ने उसके आने का कारण पूछा तो वररुचि ने सारा हाल कह सुनाया और कहा—"मैं रोज नवीन एक सौ आठ श्लोक बनाकर राजा की स्तुति करता हूँ किन्तु मन्त्री के मौन रहने से राजा मुझे कुछ नहीं देते और घर में पत्नी कलह किया करती है। कहती है—कुछ लाते तो हो नहीं फिर दिन भर कलम क्यों घिसते हो ?"

शकटार की पत्नी बुद्धिमती और दयालु थी। उसने सायंकाल शकटार से कहा—"स्वामी ! वररुचि प्रतिदिन एक सौ आठ नए श्लोकों के द्वारा राजा की स्तुति करता है। क्या वे श्लोक आपको अच्छे नहीं लगते ? अच्छे लगते हों तो आप पंडित की सराहना क्यों नहीं करते ?" उत्तर में मन्त्री ने कहा—"वह मिथ्यात्वी है इसलिये।" पत्नी ने पुनः विनयपूर्वक आग्रह करते हुए कहा—'अगर आपके उसकी प्रशंसा में कहे गये दो बोल उस गरीब का भला करते हैं तो कहने में हानि ही क्या है ?' शकटार चुप रह गया।

अगले दिन जब वह दरबार में गया तो वररुचि ने अपने नये श्लोकों से राजा की स्तुति की। पत्नी की बात याद आने पर उसने मात्र इतना ही कहा—"उत्तम है।" उसके कहने की देर थी कि राजा ने उसी समय एक सौ आठ सुवर्ण- मुद्राएँ वररुचि को प्रदान कर दीं। वररुचि हर्षित होता हुआ अपने घर आ गया। उसके चले जाने पर राजा से बोला—"महाराज ! आपने उसे स्वर्णमुद्राएँ वृथा दीं। वह तो पुराने व प्रचलित श्लोकों से आपकी स्तुति कर जाता है।"

राजा ने आश्चर्य से कहा—"क्या प्रमाण है इसका कि वे श्लोक किसी के द्वारा पूर्वरचित हैं ?"

मंत्री ने कहा—"मैं सत्य कह रहा हूँ। वह जो श्लोक सुनाता है वे सब तो मेरी लड़कियों को भी कंठस्थ हैं। आपको विश्वास न हो तो कल ही दरबार में प्रमाणित कर दूंगा।"

चालाक मंत्री अगले दिन अपनी कन्याओं को ले आया और उन्हें परदे के पीछे बैठा दिया। समय पर वररुचि आया और उसने फिर अपने नवीन श्लोकों से राजा की स्तुति की। किन्तु शकटार का इशारा पाते ही उसकी सबसे बड़ी कन्या आई और राजा के समक्ष उसने वररुचि के द्वारा सुनाये गये समस्त श्लोक ज्यों के त्यों सुना दिये। वह एक बार जो सुनती वही उसे याद हो जाता था। राजा ने यह देखकर क्रोधित होकर वररुचि को राजदरबार से निकाल दिया।

वररुचि राजा के व्यवहार से बहुत परेशान हुआ। शकटार से बदला लेने का विचार करते हुए लकड़ी का एक तख्ता गंगा के किनारे ले गया। आधे तख्ते को उसने जल में डालकर मोहरों की थैली उस पर रख दी और जल से बाहर वाले भाग पर स्वयं बैठकर गंगा की स्तुति करने लगा। स्तुति पूर्ण होने पर ज्योंही उसने तख्ते को दबाया, अगला मोहरों वाला हिस्सा ऊपर उठ आया। इस पर वररुचि ने लोगों को वह थैली दिखाते हुए कहा—"राजा मुझे इनाम नहीं देता तो क्या हुआ, गंगा तो प्रसन्न होकर देती है !"

गंगा माता की वररुचि पर कृपा करने की बात सारे नगर में फैल गई और राजा के कानों तक भी जा पहुँची। राजा ने शकटार से इस विषय में पूछा तो उसने कह दिया—"महाराज ! सुनी

सुनाई बातों पर विश्वास न करके प्रातःकाल हमें स्वयं वहाँ चलकर आँखों से देखना चाहिये।" राजा मान गया। घर आकर शकटार ने अपने एक सेवक को आदेश दिया कि तुम रात को गंगा के किनारे छिपकर बैठ जाना और जब वररुचि मोहरों की थैली पानी में रखकर चला जाए तो उसे निकाल लाना। सेवक ने ऐसा ही किया और थैली लाकर मंत्री को सौंप दी।

अगले दिन सुबह वररुचि आया और सदा की तरह तख्ते पर बैठकर गंगा की स्तुति करने लगा। इतने में ही राजा और मंत्री भी वहाँ आ गए। स्तुति समाप्त हुई पर तख्ते को दबाने पर भी जब थैली ऊपर नहीं आई, कोरा तख्ता ही दिखाई दिया तब शकटार ने व्यंगपूर्वक कहा—"पंडित-प्रवर ! रात को गंगा में छुपाई हुई आपकी थैली तो इधर मेरे पास है।" यह कहकर शकटार ने सब उपस्थित लोगों को थैली दिखाते हुए वररुचि की पोल खोल दी। वररुचि कटकर रह गया। वह मंत्री से बदला लेने का अवसर देखने लगा।

कुछ समय पश्चात् शकटार ने अपने पुत्र श्रियक का विवाह रचाया और राजा को उस खुशी के मौके पर भेंट देने के लिये उत्तम शस्त्रास्त्र बनवाने लगा। वररुचि को मौका मिला और उसने अपने कुछ शिष्यों को निम्न श्लोक याद करके नगर में उसका प्रचार करवा दिया—

"तं न विजाणेइ लोओ, जं सकडालो करिस्सइ।
नन्दराउं मारेवि करि, सिरियउं रज्जे ठवेस्सइ॥"

अर्थात्—लोग नहीं जानते कि शकटार मंत्री क्या करेगा ? वह राजा नन्द को मारकर श्रियक को राज-सिंहासन पर आसीन करेगा।

राजा ने भी यह बात सुनी। उसने शकटार के षड्यन्त्र को सच मान लिया। मंत्री जब दरबार में आया और राजा प्रणाम करने लगा तो राजा ने कुपित होकर मुंह फेर लिया। राजा के इस व्यवहार से शकटार भयभीत हो गया। और घर आकर सब बताते हुए श्रियक से बोला—

"बेटा ! राजा का भयंकर कोप सम्पूर्ण वंश का भी नाश कर सकता है। अतएव कल जब मैं राजसभा में जाऊं और राजा फिर मुंह फेर ले तो तुम मेरे गले पर उसी समय तलवार चला देना। मैं उस समय तालपुट विष अपने मुँह में रख लूँगा। मेरी मृत्यु उस विष से हो जाएगी, तुम्हें पितृहत्या का पाप नहीं लगेगा।" श्रियक ने विवश होकर पिता की बात मान ली।

अगले दिन शकटार श्रियक सहित दरबार में गया। जब वह राजा को प्रणाम करने लगा तो राजा ने पुनः मुँह फेर लिया। इस पर श्रियक ने उसी झुकी हुई गर्दन को धड़ से अलग कर दिया। यह देखकर राजा ने चकित होकर कहा—"श्रियक, यह क्या कर दिया ?" श्रियक ने शांति से उत्तर दिया—"देव ! जो व्यक्ति आपको अच्छा न लगे वह हमें कैसे इष्ट हो सकता है ?" शकटार की मृत्यु से राजा खिन्न हुआ, किन्तु श्रियक की वफादारी भरे उत्तर से संतुष्ट भी। उसने कहा—"श्रियक ! अपने पिता के मंत्री पद को अब तुम्हीं संभालो।" इस पर श्रियक ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—"प्रभो ! मैं मंत्री का पद नहीं ले सकता। मेरे बड़े भाई स्थूलिभद्र, जो बारह वर्ष से कोशा गणिका के यहाँ रह रहे हैं, पिताजी के बाद इस पद के अधिकारी हैं।" श्रियक की यह बात सुनकर राजा ने उसी समय कर्मचारी को आदेश दिया कि स्थूलिभद्र को कोशा के यहाँ से ससम्मान ले आओ। उसे मन्त्रिपद दिया जायगा।

राज-सेवक कोशा के यहाँ गये और स्थूलिभद्र को सारा वृत्तान्त सुनाते हुए बोले—"आप राजसभा में पधारें, महाराज ने बुलाया है।" स्थूलिभद्र उनके साथ दरबार में आया। राजा ने आसन की ओर इंगित करते हुए कहा—"तुम्हारे पिता का निधन हो गया है। अब तुम मन्त्रिपद को सम्हालो।"

स्थूलिभद्र को राजा के प्रस्ताव से तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई। वह पिता के वियोग से दुखी था ही, साथ ही पिता की मृत्यु में राजा को ही कारण जानकर अत्यधिक खिन्न भी था। वह भली भांति समझ गया था कि राजा का कोई भरोसा नहीं। आज वह जिस मंत्रिपद को सहर्ष प्रदान कर रहा है, उसे कल कुपित होकर छीन भी सकता है। अतः अतः ऐसे पद व धन के प्राप्त करने से क्या लाभ !

इस प्रकार विचार करते-करते स्थूलिभद्र को विरक्ति हो गई। वह राज-दरबार से उलटे पैरों लौट आया और आचार्य सम्भूतिविजय के समक्ष जाकर उनका शिष्य बन गया। स्थूलिभद्र के मुनि बन जाने पर राजा ने श्रियक को अपना मंत्री बनाया।

स्थूलिभद्र मुनि अपने गुरु के साथ ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए संयम का पालन करते रहे तथा ज्ञान-ध्यान में रत बने रहे। एक बार भ्रमण करते हुए वे पाटलिपुत्र के समीप पहुँचे तथा चातुर्मासकाल निकट होने से गुरुदेव ने वहीं वर्षावास करने का निश्चय किया। उनके स्थूलिभद्र सहित चार शिष्य थे। चारों ने ही उस बार भिन्न-भिन्न स्थानों पर वर्षाकाल बिताने की गुरु से आज्ञा ले ली। एक ने सिंह की गुफा में, दूसरे ने भयानक सर्प के बिल पर, तीसरे ने एक कुए के किनारे पर तथा चौथे स्थूलिभद्र ने कोशा वेश्या के घर पर। चारों ही अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

कोशा वेश्या स्थूलिभद्र मुनि को देखकर अत्यंत प्रसन्न हुई और विचार करने लगी कि पूर्व के समान ही भोग-विलास में समय व्यतीत हो सकेगा। स्थूलिभद्र की इच्छानुसार कोशा ने अपनी चित्रशाला में उन्हें ठहरा दिया। वह नित्य भांति-भांति के शृंगार तथा हाव-भावादि के द्वारा उन्हें भोगों की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगी, किन्तु स्थूलिभद्र अब पहले वाले स्थूलिभद्र नहीं थे। वह तो प्रारंभ में मधुर, आकर्षक और प्रिय लगने वाले किन्तु बाद में असहनीय पीड़ा प्रदान करने वाले किंपाक फल के सदृश काम-भोगों को त्याग चुके थे। अतः किस प्रकार उनमें पुनः लिप्त होकर आत्मा को पतन की ओर अग्रसर करते ? कहा भी है:—

"विषयासक्तचित्तो हि यतिर्मोक्षं न विंदति।"

जिसका चित्त साधु-वेश धारण करने के पश्चात् भी विषयासक्त रहता है, ऐसी आत्मा मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकती।

कोशा के लाख प्रयत्न करने पर भी उनका मन विचलित नहीं हुआ। पूर्ण निर्विकार भाव से वह अपनी साधना में रत रहे। स्थूलिभद्र का शांत एवं विकार-रहित मुख देखकर कोशा की भोग-लालसा ठीक उसी प्रकार शांत हो गई जैसे अग्नि पर शीतल जल गिरने से वह शांत हो जाती है। जब स्थूलिभद्र ने यह देखा तो कोशा को प्रतिबोधित किया। उसने श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये।

चातुर्मास की समाप्ति पर चारों शिष्य गुरु की सेवा में पहुँचे। गुरुजी ने सिंह की गुफा

में, सर्प के बिल पर तथा कुए के किनारे पर वर्षावास बिताने वाले तीनों शिष्यों की प्रशंसा करते हुए कहा—'तुमने दुष्कर कार्य किया।' किन्तु जब मुनि स्थूलिभद्र ने अपना मस्तक गुरु के चरणों में झुकाया तो उन्होंने कहा—'तुमने अतिदुष्कर कार्य किया है।' स्थूलिभद्र के लिए गुरु के द्वारा ऐसा कहे जाने से अन्य शिष्यों के हृदय में ईर्ष्याभाव उत्पन्न हो गया। वे स्वयं को स्थूलिभद्र के समान साबित करने का अवसर देखने लगे।

अगला चातुर्मास आते ही अवसर मिल गया। सिंह की गुफा में चातुर्मास करने वाले शिष्य ने इस बार कोशा वेश्या की चित्रशाला में वर्षाकाल बिताने की आज्ञा माँगी। गुरु ने उसे आज्ञा नहीं दी पर वह बिना आज्ञा के ही कोशा के निवास की ओर चल दिया। कोशा ने उसे अपनी रंग-शाला में चातुर्मास व्यतीत करने की अनुमति दे दी। किन्तु मुनि तो उसका रूप-लावण्य देखकर ही अपनी तपस्या व साधना को भूल गया और उससे प्रेम-निवेदन करने लगा। यह देखकर कोशा को बहुत दुख हुआ किन्तु उसने मुनि को सन्मार्ग पर लाने के लिए उपाय खोज निकाला। मुनि से कहा—"मुनिराज! पहले मुझे एक लाख मोहरें दो।" भिक्षु यह माँग सुनकर चकराया और बोला—भिक्षु हूँ, मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं है।" कोशा ने तब कहा—"नेपाल-नरेश प्रत्येक साधु को एक-एक रत्न-कंबल प्रदान करता है जिसका मूल्य एक लाख मोहरें होता है। तुम वहाँ जाकर राजा से कंबल माँग लाओ और मुझे दो।"

काम के वशीभूत हुआ व्यक्ति क्या नहीं करता? मुनि भी अपनी संयम-साधना को एक ओर रखकर रत्न-कंबल लाने चल दिया। मार्ग में अनेक कष्ट सहता हुआ वह जैसे-तैसे नेपाल पहुँचा और वहाँ के राजा से एक कंबल माँगकर लौटा। किन्तु मार्ग में चोरों ने उसका कंबल छीन लिया और वह रोता-झींकता वापिस नेपाल गया। राजा से अपनी रामकहानी कहकर बड़ी कठिनाई से उसने दूसरा कंबल लिया और उसे एक बाँस में छिपाकर पुनः लौटा। मार्ग में लुटेरे फिर मिले किन्तु बाँस की लकड़ी में छिपे रत्न-कंबल को वे नहीं पा सके और चले गये। इसके बाद भी भूख-प्यास तथा अनेक शारीरिक कष्टों को सहता हुआ मुनि किसी तरह पाटलिपुत्र लौटा और कोशा को उसने रत्न-कंबल दिया। किन्तु कोशा ने वह अतिमूल्यवान् रत्नकंबल दुर्गन्धमय अशुचि स्थान पर फेंक दिया। मुनि ने हड़बड़ाकर कहा—"यह क्या किया? मैं तो अनेकानेक कष्ट सहकर इतनी दूर से इसे लाया और तुमने यों ही फेंक दिया?"

कोशा ने उत्तर दिया—"मुनिराज! यह सब मैंने तुम्हें पुनः सन्मार्ग पर लाने के लिये किया है। रत्न-कंबल मूल्यवान् है पर सीमित मूल्य का, किन्तु तुम्हारा संयम तो अनमोल है। सारे संसार का वैभव भी इसकी तुलना में नगण्य है। ऐसे संयम-धन को तुम काम-भोग रूपी कीचड़ में डालकर मलिन करने जा रहे हो? जरा विचार करो, जिन विषय-भोगों को तुमने विष मानकर त्याग दिया था, क्या अब वमन किये हुए भोगों को पुनः ग्रहण करोगे?"

कोशा की बात सुनकर मुनि की आँखें खुल गई। घोर पश्चात्ताप करता हुआ वह कहने लगा—

"स्थूलिभद्रः स्थूलिभद्रः स एकोऽखिलसाधुषु।
युक्तं दुष्कर-दुष्करकारको गुरुणा जगे॥"

वस्तुतः सम्पूर्ण साधुओं में स्थूलिभद्र मुनि ही दुष्कर-दुष्कर क्रिया करनेवाले अद्वितीय हैं। गुरुदेव ने उनके लिए जो 'दुष्करातिदुष्कर-कारक' शब्द कहे थे वे यथार्थ हैं।

यही सोचता हुआ मुनि गुरु के समीप आया और अपने पतन के लिये पश्चात्ताप करते हुए प्रायश्चित्त लिया। अपनी आलोचना करते हुए उसने पुनः पुनः स्थूलिभद्र की प्रशंसा की और कहा—

"वेश्या रागवती सदा तदनुगा षड्भी रसैर्भोजनं।
शुभ्रं धाम मनोहरं वपुरहो ! नव्यो वयःसंगमः ॥
कालोऽयं जलदाविलस्तदपि यः, कामंजिगायादरात्
तं वंदे युवतिप्रबोधकुशलं, श्रीस्थूलभद्रं मुनिम् ॥

अर्थात्—प्रेम करने वाली तथा उसमें अनुरक्त वेश्या, षट्रस भोजन, मनोहारी महल, सुन्दर शरीर, तरुणावस्था और वर्षाकाल, इन सब अनुकूलताओं के होते हुए भी जिसने कामदेव को जीत लिया, ऐसे वेश्या को प्रतिबोध देकर धर्म मार्ग पर लाने वाले मुनि स्थूलिभद्र को मैं प्रणाम करता हूँ।

वास्तव में अपनी पारिणामिकी बुद्धि के कारण मंत्रिपद और उसके द्वारा प्राप्त भोग के साधन धन-वैभव को ठुकराकर आत्म-कल्याण कर लेने वाले स्थूलिभद्र प्रशंसा के पात्र हैं।

(१४) **नासिकपुर का सुन्दरीनन्द**—नासिकपुर के नन्द नामक सेठ की सुन्दरी नाम की अत्यन्त रूपवती स्त्री थी। सेठ उसमें इतना अनुरक्त था कि पल भर के लिये भी उसे अपने नेत्रों से ओझल नहीं करता था। सुन्दरी पत्नी में इतनी अनुरक्ति देखकर लोग उसे सुन्दरीनन्द ही कहा करते थे।

सुन्दरीनन्द सेठ का एक छोटा भाई मुनि बन गया था। उसे जब ज्ञात हुआ कि स्त्री में अनुरक्त मेरा बड़ा भाई अपना भान भूल बैठा है तो वह उसे प्रतिबोध देने के विचार से नासिकपुर आया। जनता को मुनि के आगमन का पता चला तो वह धर्मोपदेश श्रवण करने के लिये गई किन्तु सुन्दरीनन्द वहाँ नहीं गया। प्रवचन के पश्चात् मुनि ने आहार की गवेषणा करते हुए सुन्दरीनन्द के घर में भी प्रवेश किया। अपने भाई की स्थिति देखकर मुनि के मन में विचार आया—जब तक इसे अधिक प्रलोभन नहीं मिलेगा, इसकी पत्नी-आसक्ति कम नहीं होगी। उन्होंने एक सुन्दर वानरी अपनी वैक्रियलब्धि के द्वारा बनाई और सेठ से पूछा—"क्या यह सुन्दरी जैसी है ?" सेठ ने कहा—"यह सुन्दरी से आधी सुन्दर है।" मुनि ने फिर एक विद्याधरी बनाई और सेठ से पूछा—"तुम्हें कैसी लगी ?" सेठ ने उत्तर दिया—"यह सुन्दरी जैसी है।" तीसरी बार मुनि ने देवी की विकुर्वणा की और भाई से पुनः वही प्रश्न किया। इस बार सेठ ने उत्तर दिया—"यह तो सुन्दरी से भी अधिक सुन्दर है।" इस पर मुनि ने कहा—"अगर तुम थोड़ा भी धर्माचार करो तो ऐसी अनेक सुन्दरियाँ तुम्हें सहज ही प्राप्त हो सकती हैं।" मुनि के इन प्रतिबोधपूर्ण वचनों को सुनने से सेठ की समझ में आ गया कि मुनि का उद्देश्य क्या है ? उसी क्षण से उसकी आसक्ति पत्नी में कम हो गई और कुछ समय पश्चात् उसने भी संयम की आराधना करके आत्म-कल्याण किया। यह सब मुनि ने अपनी पारिणामिकी बुद्धि के द्वारा संभव बनाया।

१५—**वज्रस्वामी**—अवन्ती देश में तुम्ववन सन्निवेश था। वहाँ धनगिरि नामक एक श्रेष्ठि-

पुत्र रहता था। धनगिरि का विवाह धनपाल सेठ की पुत्री सुनन्दा से हुआ था। विवाह के पश्चात् ही धनगिरि की इच्छा संयम ग्रहण करने की हो गई किन्तु सुनन्दा ने किसी प्रकार रोक लिया। कुछ समय पश्चात् ही देवलोक से च्यवकर एक पुण्यवान् जीव सुनन्दा के गर्भ में आया। पत्नी को गर्भवती जानकर धनगिरि ने कहा—"तुम्हारे जो पुत्र होगा उसके सहारे ही जीवनयापन करना, मैं अब दीक्षा ग्रहण करूँगा।" पति की उत्कट इच्छा के कारण सुनन्दा को स्वीकृति देनी पड़ी। धनगिरि ने आचार्य सिंहगिरि के पास जाकर मुनिवृत्ति धारण करली। सुनन्दा के भाई आर्यसमित भी पहले से ही सिंहगिरि के पास दीक्षित थे। संत-मंडली ग्रामानुग्राम विचरण करने लगी।

इधर नौ मास पूरे होने पर सुनन्दा ने एक पुण्यवान् पुत्र को जन्म दिया। जिस समय उसका जन्मोत्सव मनाया जा रहा था, किसी स्त्री ने करुणा से भरकर कहा—"इस बच्चे का पिता अगर मुनि न होकर आज यहाँ होता तो कितना अच्छा लगता?" बच्चे के कानों में यह बात गई तो उसे जातिस्मरण हो गया और वह विचार करने लगा—"मेरे पिताजी ने तो मुक्ति का मार्ग अपना ही लिया है, अब मुझे भी कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे मैं संसार से मुक्त हो सकूँ तथा मेरी माँ भी सांसारिक बंधनों से छुटकारा पा सके।" यह विचार कर उस बालक ने दिन-रात रोना प्रारंभ कर दिया। उसका रोना बंद करने के लिए उसकी माता तथा सभी स्वजनों ने अनेक प्रयत्न किये पर सफलता नहीं मिली। सुनन्दा बहुत ही परेशान हुई।

संयोगवश उन्हीं दिनों आचार्य सिंहगिरि अपने शिष्यों सहित पुनः तुम्बवन पधारे। आहार का समय होने पर मुनि आर्यसमित तथा धनगिरि नगर की ओर जाने लगे। उसी समय शुभ शकुनों के आधार पर आचार्य ने उनसे कह दिया—"आज तुम्हें महान् लाभ प्राप्त होगा, अतः जो कुछ भी भिक्षा में मिले, ले आना।" गुरु की आज्ञा स्वीकार कर दोनों मुनि शहर की ओर चल दिये।

जिस समय मुनि सुनन्दा के घर पहुँचे, वह अपने रोते हुए शिशु को चुप करने के लिये प्रयत्न कर रही थी। मुनि धनगिरि ने झोली खोलकर आहार लेने के लिए पात्र बाहर रखा। सुनन्दा के मन में एकाएक न जाने क्या विचार आया कि उसने बालक को पात्र में डाल दिया और कहा—"महाराज! अपने बच्चे को आप ही सम्हालें।" अनेक स्त्री-पुरुषों के सामने मुनि धनगिरि ने बालक को ग्रहण किया तथा बिना कुछ कहे झोली उठाकर मंथर गति से चल दिये। आश्चर्य सभी को इस बात का हुआ कि बालक ने भी रोना बिल्कुल बंद कर दिया था।

आचार्य सिंहगिरि के समक्ष जब वे पहुँचे तो उन्होंने झोली को भारी देखकर पूछा—"यह वज्र जैसी भारी वस्तु क्या लाये हो?" धनगिरि ने बालक सहित पात्र गुरु के आगे रख दिया। गुरु पात्र में तेजस्वी शिशु को देखकर चकित भी हुए और हर्षित भी। उन्होंने यह कहते हुए कि यह बालक आगे चलकर शासन का आधारभूत बनेगा, उसका नाम 'वज्र' ही रख दिया। बच्चा छोटा था अतः उन्होंने उसके पालन-पोषण का भार संघ को सौंप दिया। शिशु वज्र चन्द्रमा की कलाओं के समान तेजोमय बनता हुआ दिन-प्रतिदिन बड़ा होने लगा। कुछ समय बाद सुनन्दा ने संघ से अपना पुत्र वापिस माँगा किन्तु संघ ने उसे 'अन्य की अमानत' कहकर देने से इन्कार कर दिया। मन मारकर सुनन्दा वापिस लौट आई और अवसर की प्रतीक्षा करने लगी। वह अवसर उसे तब प्राप्त हुआ, तब आचार्य सिंहगिरि विचरण करते हुए अपने शिष्य-समुदाय सहित पुनः तुम्बवन पधारे। सुनन्दा ने आचार्य के आगमन का समाचार सुनते ही उनके पास जाकर अपना पुत्र माँगा किन्तु आचार्य के न देने पर

वह दुखी होकर वहाँ के राजा के पास पहुँची। राजा ने सारी बात सुनी और सोच-विचारकर कहा—'एक ओर बच्चे की माता को बैठाया जाय तथा दूसरी ओर उसके मुनि बन चुके पिता को। बच्चा दोनों में से जिसके पास चला जाय, उसी के पास रहेगा।'

अगले दिन ही राजसभा में यह प्रबंध किया गया। वज्र की माता सुनन्दा बच्चों को लुभाने वाले आकर्षक खिलौने तथा खाने-पीने की अनेक वस्तुएँ लेकर एक ओर बैठी तथा राजसभा के मध्य में बैठे हुए अपने पुत्र को अपनी ओर आने का संकेत करने लगी। किन्तु बालक ने सोचा—"अगर मैं माता के पास नहीं जाऊंगा तो यह मोहरहित होकर आत्म-कल्याण में जुट जाएगी। इससे हम दोनों का कल्याण होगा।' यह विचारकर बालक ने न तो माता के समक्ष रखे हुए उत्तमोत्तम पदार्थों की ओर देखा और न ही वहाँ से इंच मात्र भी हिला।

अब बारी आई उसके पिता मुनि धनगिरि की। मुनि ने बच्चे को संबोधित करते हुए कहा—

"जइसि कयज्झवसाओ, धम्मज्झयमूसिअं इमं वइर !
गिण्ह लहु रयहरणं, कम्म-रयपमज्जणं धीर !!"

अर्थात् हे वज्र ! अगर तुमने निश्चय कर लिया है तो धर्माचरण के चिह्नभूत और कर्मरज को प्रमार्जित करने वाले इस रजोहरण को ग्रहण करो।

ये शब्द सुनने की ही देर थी कि बालक ने तुरन्त अपने पिता की ओर जाकर रजोहरण उठा लिया।

यह देखकर राजा ने बालक आचार्य सिंहगिरि को सौंप दिया और उन्होंने उसी समय राजा एवं संघ की आज्ञा प्राप्त कर उसे दीक्षा प्रदान कर दी।

सुनन्दा ने विचारा—"जब मेरे पति, पुत्र एवं भाई सभी सांसारिक बंधनों को तोड़कर दीक्षित हो गए हैं तो मैं ही अकेली घर में रहकर क्या करूंगी ?" बस, वह भी संयम लेने के लिये तैयार हो गई और आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हुई।

आचार्य सिंहगिरि ने अन्यत्र विहार कर दिया। वज्रमुनि बड़ा मेधावी था। जिस समय आचार्य अन्य मुनियों को वाचना देते, वह एकाग्र एवं दत्तचित्त होकर सुनता रहता। मात्र सुन-सुनकर ही उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और क्रमशः पूर्वों का भी ज्ञान प्राप्त किया।

एक बार आचार्य उपाश्रय से बाहर गए हुए थे। अन्य मुनि आहार के लिये निकल गये थे। तब वज्रमुनि ने, जो उस समय भी बालक ही थे, खेल-खेल में ही संतों के वस्त्र एवं पात्रादि को पंक्तिबद्ध रखा और स्वयं उन के मध्य में बैठ गये। तत्पश्चात् उन वस्त्र-पात्रों को ही अपने शिष्य मानकर वाचना देना प्रारंभ कर दिया। जब आचार्य बाहर से लौटे तो दूर से ही उन्हें वाचना देने की ध्वनि सुनाई दी। वे वहीं रुककर सुनने लगे। उन्होंने वज्रमुनि की आवाज पहचानी और उनकी वाचना देने की शैली और ज्ञान को समझा। सभी कुछ देखकर वे घोर आश्चर्य में पड़ गये कि इतने छोटे से बालक मुनि को इतना ज्ञान कैसे हो गया ? और वाचना देने का इतना सुन्दर ढंग भी किस प्रकार आया ? उसकी प्रतिभा के कायल होते हुए उन्होंने उपाश्रय में प्रवेश किया। आचार्य को देखते ही वज्रमुनि ने उठकर उनके चरणों में विनयपूर्वक नमस्कार किया तथा समस्त उपकरणों

को यथास्थान रख दिया। इसी बीच अन्य मुनि भी आ गए तथा आहारादि ग्रहण करके अपने-अपने कार्यों में व्यस्त हो गये।

इसके अनन्तर आचार्य सिंहगिरि कुछ समय के लिए अन्यत्र विहार कर गये और वज्रमुनि को वाचना देने का कार्य सौंप गये। बालक वज्रमुनि आगमों के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्य को इस सहजता से समझाने लगे कि मन्दबुद्धि मुनि भी उसे हृदयंगम करने लगे। यहाँ तक कि उन्हें पूर्व प्राप्त ज्ञान में जो शंकाएँ थीं, वज्रमुनि ने शास्त्रों की विस्तृत व्याख्या के द्वारा उनका भी समाधान कर दिया। सभी साधुओं के हृदय में वज्रमुनि के प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न हो गई और वे विनयपूर्वक उनसे वाचना लेते रहे।

आचार्य पुनः लौटे तथा मुनियों से वज्रमुनि की वाचना के विषय में पूछा। मुनियों ने पूर्ण संतोष व्यक्त करते हुए उत्तर दिया—"गुरुदेव! वज्रमुनि सम्यक् प्रकार से हमें वाचना दे रहे हैं, कृपया सदा के लिए यह कार्य इन्हें सौंप दीजिए।" आचार्य यह सुनकर अत्यन्त संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए और बोले—"वज्रमुनि के प्रति आप सबका स्नेह व सद्भाव जानकर मुझे सन्तोष हुआ। मैंने इनकी योग्यता तथा कुशलता का परिचय देने के लिये ही इन्हें यह कार्य सौंपकर विहार किया था।" तत्पश्चात् यह सोचकर कि गुरुमुख से ग्रहण किये बिना कोई वाचनागुरु नहीं बन सकता, आचार्य ने श्रुतधर वज्रमुनि को अपना ज्ञान स्वयं प्रदान किया।

ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए एक समय आचार्य अपने संत-समुदाय सहित दशपुर नगर में पधारे। उन्हीं दिनों अवन्ती नगरी में आचार्य भद्रगुप्त वृद्धावस्था के कारण स्थिरवास कर रहे थे। सिंहगिरि ने अपने दो अन्य शिष्यों के साथ वज्रमुनि को उनकी सेवा में भेज दिया। वज्रमुनि ने आचार्य भद्रगुप्त की सेवा में रहकर उनसे दस पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। उसके बाद ही आचार्य सिंहगिरि देवलोकवासी हुए किन्तु उससे पहले उन्होंने वज्रमुनि को आचार्य-पद प्रदान कर दिया।

अब आचार्य वज्रमुनि विचरण करते हुए स्व-परकल्याण में रत हो गये। उनके तेजस्वी स्वरूप, अथाह शास्त्रीय ज्ञान, अनेक लब्धियों और इसी प्रकार की अन्य विशेषताओं ने सर्व दिशाओं में उनके प्रभाव को फैला दिया और असंख्य भटकी हुई आत्माओं ने उनसे प्रतिबोध प्राप्तकर आत्म-कल्याण किया।

वज्रमुनि ने अपनी पारिणामिकी बुद्धि के द्वारा ही माता के मोह को दूर करके उसे मुक्ति के मार्ग पर लगाया तथा स्वयं भी संयम ग्रहण करके अपना तथा अनेकानेक भव्य प्राणियों का उद्धार किया।

१६—चरणाहत—किसी नगर में एक युवा राजा राज्य करता था। उसकी अपरिपक्व अवस्था का लाभ उठाने के लिये कुछ युवकों ने आकर उसे सलाह दी—"महाराज! आप तरुण हैं तो आपका कार्य-संचालन करने के लिए भी तरुण व्यक्ति ही होने चाहिए। ऐसे व्यक्ति अपनी शक्ति व योग्यता से कुशलतापूर्वक राज्य-कार्य करेंगे। वृद्धजन अशक्त होने के कारण किसी भी कार्य को ठीक प्रकार से नहीं कर सकते।"

राजा यद्यपि नवयुवक था, किन्तु अत्यन्त बुद्धिमान् था। उसने उन युवकों की परीक्षा लेने का विचार करते हुए पूछा—"अगर मेरे मस्तक पर कोई अपने पैर से प्रहार करे तो उसे क्या दंड देना चाहिये?"

युवकों ने तुरन्त उत्तर दिया—"ऐसे व्यक्ति के टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहिए।" राजा ने यही प्रश्न दरबार के अनुभवी वृद्धों से भी किया। उन्होंने सोच विचारकर उत्तर दिया—"देव! जो व्यक्ति आपके मस्तक पर चरणों से प्रहार करे उसे प्यार करना चाहिए तथा वस्त्राभूषणों से लाद देना चाहिये।"

वृद्धों का उत्तर सुनकर नवयुवक आपे से बाहर हो गये। राजा ने उन्हें शांत करते हुए उन वृद्धों से अपनी बात को स्पष्ट करने के लिये कहा। एक बुजुर्ग दरबारी ने उत्तर दिया—"महाराज! आपके मस्तक पर चरणों का प्रहार आपके पुत्र के अलावा और कौन करने का साहस कर सकता है? और शिशु राजकुमार को भला कौन-सा दंड दिया जाना चाहिए?"

वृद्ध का उत्तर सुनकर सभी नवयुवक अपनी अज्ञानता पर लज्जित होकर पानी-पानी हो गये। राजा ने प्रसन्न होकर अपने वयोवृद्ध दरबारियों को उपहार प्रदान किये तथा उन्हें ही अपने पदों पर रखा। युवकों से राजा ने कहा—"राज्यकार्य में शक्ति की अपेक्षा बुद्धि की आवश्यकता अधिक होती है।" इस प्रकार वृद्धों ने तथा राजा ने भी अपनी पारिणामिकी बुद्धि का परिचय दिया।

१७—आँवला—एक कुम्हार ने किसी व्यक्ति को मूर्ख बनाने के लिये पीली मिट्टी का एक आँवला बनाकर दिया जो ठीक आँवले के सदृश ही था। आँवला हाथ में लेकर वह व्यक्ति विचार करने लगा—"यह आकृति में तो आँवले जैसा है, किन्तु कठोर है और यह ऋतु भी आँवलों की नहीं है।" अपनी पारिणामिकी बुद्धि से उसने आँवले की कृत्रिमता को जान लिया और उसे फेंक दिया।

१८—मणि—किसी जंगल में एक मणिधर सर्प रहता था। रात्रि में वह वृक्ष पर चढ़कर पक्षियों के बच्चों को खा जाता था। एक बार वह अपने शरीर को संभाल नहीं सका और वृक्ष से नीचे गिर पड़ा। गिरते समय उसकी मणि भी वृक्ष की डालियों में अटक गई। उस वृक्ष के नीचे एक कुआ था। मणि के प्रकाश से उसका पानी लाल दिखाई देने लगा। प्रातःकाल एक बालक खेलता हुआ उधर आ निकला और कुए के चमकते हुए पानी को देखकर घर जाकर अपने वृद्ध पिता को बुला लाया। वृद्ध पिता पारिणामिकी बुद्धि से सम्पन्न था। उसने पानी को देखा और जहाँ से पानी का प्रतिबिंब पड़ता था, वृक्ष के उस स्थान पर चढ़कर मणि खोज लाया। अत्यन्त प्रसन्न होकर पिता पुत्र घर की ओर चल दिये।

१९—सर्प—भगवान् महावीर ने दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् प्रथम चातुर्मास अस्थिक ग्राम में किया तथा चातुर्मास के पश्चात् श्वेताम्बिका नगरी की ओर विहार कर दिया। कुछ आगे बढ़ने पर ग्वालों ने उनसे कहा—"भगवन्! आप इधर से न पधारें क्योंकि मार्ग में एक बड़ा भयंकर दृष्टिविष सर्प रहता है, जिसके कारण दूर-दूर तक कोई भी प्राणी जाने का साहस नहीं करता। आप श्वेताम्बिका नगरी के लिए दूसरा मार्ग ग्रहण करें।" भगवान् ने ग्वालों की बात सुनी पर उस सर्प को प्रतिबोध देने की भावना से वे उसी मार्ग पर आगे बढ़ गये।

चलते-चलते वे विषधर सर्प की बाँबी पर पहुँचे और वहीं कायोत्सर्ग में स्थिर हो गए। कुछ क्षणों के पश्चात् ही नाग बाहर आया और अपने बिल के समीप ही एक व्यक्ति को खड़े देखकर क्रोधित हो गया। उसने अपनी विषैली दृष्टि भगवान् पर डाली किन्तु उन पर कोई असर नहीं हुआ। यह देखकर सप ने आगबबूला होकर सूर्य की ओर देखा तथा फुफकारते हुए पुनः विषाक्त

दृष्टि उन पर फेंकी। उसका भी जब असर नहीं हुआ तो उसने तेजी से सरसराते हुए आकर भगवान् के चरण के अँगूठे को जोर से डस लिया। पर डसने के बाद स्वयं ही यह देखकर घोर आश्चर्य में पड़ गया कि उसके विष का तो कोई प्रभाव हुआ नहीं उलटे अंगूठे से निकले हुए रक्त का स्वाद ही बड़ा मधुर और विलक्षण है! यह अनुभव करने के बाद उसे विचार आया—यह साधारण नहीं अपितु कोई विलक्षण और अलौकिक पुरुष है। बस, सर्प का क्रोध शान्त तो हुआ ही, उलटा वह बहुत भयभीत होकर दीन-दृष्टि से ध्यानस्थ भगवान् की ओर देखने लगा।

तब महावीर प्रभु ने ध्यान खोला और अत्यन्त स्नेहपूर्ण दृष्टि से उसे संबोधित करते हुए कहा—"हे चण्डकौशिक! बोध को प्राप्त करो तथा अपने पूर्व भव को स्मरण करो! पूर्व जन्म में तुम साधु थे और एक शिष्य के गुरु भी। एक दिन तुम दोनों आहार लेकर लौट रहे थे, तब तुम्हारे पैर के नीचे एक मेंढक दबकर मर गया था। तुम्हारे शिष्य ने उसी समय तुमसे आलोचना करने के लिए कहा था किन्तु तुमने ध्यान नहीं दिया। शिष्य ने सोचा—'गुरुदेव स्वयं तपस्वी हैं, सायंकाल स्वयं आलोचना करेंगे।' किन्तु तुमने सायंकाल प्रतिक्रमण के समय भी आलोचना नहीं की तो सहज भाव से शिष्य ने आलोचना करने का स्मरण कराया। पर उसकी बात सुनते ही तुम क्रोध में पागल होकर शिष्य को मारने के लिए दौड़े परन्तु मध्य में स्थित एक खंभे से टकरा गये। तुम्हारा मस्तक स्तंभ से टकराकर फट गया और तुम मृत्यु को प्राप्त हुए। भयंकर क्रोध करते समय मरने से तो तुम्हें यह सर्प-योनि मिली है और अब पुनः क्रोध के वशीभूत होकर अपना जन्म बिगाड़ रहे हो! चण्डकौशिक, अब स्वयं को सम्हालो, प्रतिबोध को प्राप्त करो।"

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से तथा भगवान् के उपदेश से चण्डकौशिक को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपने पूर्वभव को जाना। अपने क्रोध व अपराध के लिए पश्चात्ताप करने लगा। उसी समय उसने भगवान् को विनयपूर्वक वन्दना की तथा आजीवन अनशन कर लिया। साथ ही दृष्टिविष होने के कारण उसने अपना मुंह बिल में डाल लिया, शरीर बाहर रहा।

कुछ काल पश्चात् ग्वाले भगवान् की तलाश में उधर आए। उन्हें सकुशल वहाँ से रवाना होते देख वे महान् आश्चर्य में पड़ गए। इधर जब उन्होंने चण्डकौशिक को बिल में मुंह डालकर पड़े देखा तो उस पर पत्थर तथा लकड़ी आदि से प्रहार करने लगे। चण्डकौशिक सभी चोटों को समभाव से सहन करता रहा। उसने बिल से बाहर अपना मुंह नहीं किया। जब आसपास के लोगों को इस बात का पता चला तो झुंड के झुंड बनाकर सब सर्प को देखने के लिए आने लगे। सर्प के शरीर पर पड़े घावों पर चींटियाँ और अन्य जीव इकट्ठे हो गये थे और उसके शरीर को उन सबने काट-काटकर चालनी के समान बना दिया था। पन्द्रह दिन तक चण्डकौशिक संर्प सब यातनाओं को शांति से सहता रहा। यहाँ तक कि उसने अपने शरीर को भी नहीं हिलाया, यह सोचकर कि मेरे हिलने से चींटियाँ अथवा अन्य छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े दबकर मर जाएँगे।

पन्द्रह दिन पश्चात् अपने अनशन को पूरा कर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ तथा सहस्रार नामक आठवें देवलोक में उत्पन्न हुआ। यह उसकी पारिणामिकी बुद्धि थी।

२०—**गेंडा**—एक व्यक्ति ने युवावस्था में श्रावक के व्रतों को धारण किया किन्तु उन्हें सम्यक् प्रकार से पाल नहीं सका। कुछ काल पश्चात् वह रोगग्रस्त हो गया और अपने भंग किये हुए व्रतों की आलोचना नहीं कर पाया। वैसी स्थिति में जब उसकी मृत्यु हो गई तो धर्म से पतित होने

के कारण एक जंगल में गेंडे के रूप में उत्पन्न हुआ। अपने क्रूर परिणामों के कारण वह जंगल के अन्य जीवों को तो मारता ही था, आने-जाने वाले मनुष्यों को भी मार डालता था।

एक बार कुछ मुनि उस जंगल में से विहार करते हुए जा रहे थे। गेंडे ने ज्यों ही उन्हें देखा, क्रोधपूर्वक उन्हें मारने के लिए दौड़ा। किन्तु मुनियों के तप, तेज व अहिंसा आदि धर्म के प्रभाव से वह उन तक पहुँच नहीं पाया और अपने उद्देश्य में असफल रहा। गेंडा यह देखकर विचार में पड़ गया और अपने निस्तेज होने के कारण को खोजने लगा। धीरे-धीरे उसका क्रोध शांत हुआ और उसे ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्वभव को जानकर उसे बड़ी ग्लानि हुई और उसी समय उसने अनशन कर लिया। आयुष्य पूरा हो जाने पर वह देवलोक में देव हुआ। अपनी पारिणामिकी बुद्धि के कारण ही गेंडे ने देवत्व प्राप्त किया।

२१—**स्तूप-भेदन**—कुणिक और विहल्लकुमार, दोनों ही राजा श्रेणिक के पुत्र थे। श्रेणिक ने अपने जीवनकाल में ही सेचनक हाथी तथा वङ्कचूड़ हार दोनों विहल्लकुमार को दे दिये थे तथा कुणिक राजा बन गया था। विहल्लकुमार प्रतिदिन अपनी रानियों के साथ हाथी पर बैठकर जल-क्रीडा के लिये गंगातट पर जाता था। हाथी रानियों को अपनी सूंड से उठाकर नाना प्रकार से उनका मनोरंजन करता था। विहल्लकुमार तथा उसकी रानियों की मनोरंजक क्रीडाएँ देखकर जनता भांति-भांति से उनकी सराहना करती थी तथा कहती थी कि राज्य-लक्ष्मी का सच्चा उपभोग तो विहल्लकुमार ही करता है।

राजा कुणिक की रानी पद्मावती के मन में यह सब सुनकर ईर्ष्या होती थी। वह सोचती थी—महारानी मैं हूँ पर अधिक सुख-भोग विहल्लकुमार की रानियाँ करती हैं। उसने अपने पति राजा कुणिक से कहा—"यदि सेचनक हाथी और प्रसिद्ध हार मेरे पास नहीं है तो मैं रानी किस प्रकार कहला सकती हूँ? मुझे दोनों चीजें चाहिए।" कुणिक ने पहले तो पद्मावती की बात पर ध्यान नहीं दिया किन्तु उसके बार-बार आग्रह करने पर विहल्लकुमार से हाथी और हार देने के लिये कहा। विहल्लकुमार ने उत्तर में कहा—"अगर आप हार और हाथी लेना चाहते हैं तो मेरे हिस्से का राज्य मुझे दे दीजिए।" कुणिक इस बात के लिए तैयार नहीं हुआ और उसने दोनों चीजें विहल्ल से जबर्दस्ती ले लेने का निश्चय किया। विहल्ल को इस बात का पता चला तो वह हार और हाथी लेकर रानियों के साथ अपने नाना राजा चेड़ा के पास विशाला नगरी में चला गया।

राजा कुणिक को बड़ा क्रोध आया और उसने राजा चेड़ा के पास दूत द्वारा संदेश भेजा—"राज्य की श्रेष्ठ वस्तुएँ राजा की होती हैं, अतः हार और हाथी सहित विहल्लकुमार व उसके अन्तःपुर को आप वापिस भेज दें अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाएँ।"

कुणिक के संदेश के उत्तर में चेड़ा ने कहलवा दिया—"जिस प्रकार राजा श्रेणिक व चेलना रानी का पुत्र कुणिक मेरा दौहित्र है, उसी प्रकार विहल्लकुमार भी है। विहल्ल को श्रेणिक ने अपने जीवनकाल में ही ये दोनों चीजें प्रदान कर दी थीं, अतः उसी का अधिकार उस पर है। फिर भी अगर कुणिक इन दोनों को लेना चाहता है तो विहल्लकुमार को आधा राज्य दे दे। ऐसा न करने पर अगर वह युद्ध करना चाहे तो मैं भी तैयार हूँ।"

राजा चेड़ा का उत्तर दूत ने कुणिक को ज्यों का त्यों कह सुनाया। सुनकर कुणिक क्रोध के मारे आपे में न रहा और अपने अन्य भाइयों के साथ विशाल सेना लेकर विशाला नगरी पर चढ़ाई

करने के लिये चल दिया। राजा चेड़ा न भी कई अन्य गण-राजाओं को साथ लेकर कुणिक का सामना करने के लिये युद्ध के मैदान की ओर प्रयाण किया।

दोनों पक्षों में भीषण युद्ध हुआ और लाखों व्यक्ति काल-कवलित हो गये। इस युद्ध में राजा चेड़ा पराजित हुआ और वह पीछे हटकर विशाला नगरी में आ गया। नगरी के चारों ओर विशाल परकोटा था, जिसमें रहे हुए सब द्वार बंद करवा दिए गए। कुणिक ने परकोटे को जगह-जगह से तोड़ने की कोशिश की पर सफलता नहीं मिली। इस बीच आकाशवाणी हुई—"अगर कूलवालक साधु मागधिका वेश्या के साथ रमण करे तो कुणिक नगरी का कोट गिराकर उस पर अपना अधिकार कर सकता है।"

कुणिक आकाशवाणी सुनकर चकित हुआ पर उस पर विश्वास करते हुए उसने उसी समय मागधिका गणिका को लाने के लिए राज-सेवकों को दौड़ा दिया। मागधिका आ गई और राजा की आज्ञा शिरोधार्य करके वह कूलबालक मुनि को लाने चल दी।

कूलवालक एक महाक्रोधी और दुष्ट-बुद्धि साधु था। जब वह अपने गुरु के साथ रहता था तो उनकी हितकारी शिक्षा का भी गलत अर्थ निकालकर उनपर क्रुद्ध होता रहता था। एक बार वह अपने गुरु के साथ किसी पहाड़ी मार्ग पर चल रहा था कि किसी बात पर क्रोध आते ही उसने गुरुजी को मार डालने के लिए एक बड़ा भारी पत्थर पीछे से उनकी ओर लुढ़का दिया। अपनी ओर पत्थर आता देखकर आचार्य तो एक ओर होकर उससे बच गए किन्तु शिष्य के ऐसे घृणित और असहनीय कुकृत्य पर कुपित होकर उन्होंने कहा—"दुष्ट! किसी को मार डालने जैसा नीच कर्म भी तू कर सकता है? जा! तेरा पतन भी किसी स्त्री के द्वारा होगा।"

कूलबालक सदैव गुरु की आज्ञा से विपरीत ही कार्य करता था। उनकी इस बात को भी झूठा साबित करने के लिए वह एक निर्जन प्रदेश में चला गया। वहाँ स्त्री तो क्या पुरुष भी नहीं रहते थे। वहीं एक नदी के किनारे ध्यानस्थ होकर वह तपस्या करता था। आहार के लिए भी कभी वह गाँव में नहीं जाता था अपितु संयोगवश कभी कोई यात्री उधर से गुजरता तो उससे कुछ प्राप्त करके शरीर को टिकाये रहता था। एक बार नदी में बड़े जोरों से बाढ़ आई, उसके बहाव में वह पलमात्र में वह सकता था,. किन्तु उसकी घोर तपस्या के कारण ही नदी का वहाव दूसरी ओर हो गया। यह आश्चर्यजनक घटना देखकर लोगों ने उसका नाम 'कूलवालक मुनि' रख दिया।

इधर जब राजा कुणिक ने मागधिका वेश्या को भेजा तो उसने पहले तो कूलवालक के स्थान का पता लगाया और फिर स्वयं ढोंगी श्राविका बनकर नदी के समीप ही रहने लगी। अपनी सेवाभक्ति के द्वारा उसने कूलवालक को आकर्षित किया तथा आहार लेने के लिए आग्रह किया। जब वह भिक्षा लेने के लिए मागधिका के यहाँ गया तो उसने खाने की वस्तुएँ विरेचक औषधि-मिश्रित दे दी, जिनके कारण कूलबालक को अतिसार की बीमारी हो गई। बीमारी के कारण वेश्या साधु की सेवा-शुश्रूषा करने लगी। इसी दौरान वेश्या के स्पर्श से साधु का मन विचलित हो गया और वह अपने चारित्र से भ्रष्ट हुआ। साधु की यह स्थिति अपनें अनुकूल जानकर वेश्या उसे कुणिक के पास ले आई।

कुणिक ने कूलबालक साधु से पूछा—"विशाला नगरी का यह दृढ़ और महाकाय कोट कैसे तोड़ा जा सकता है?" कूलबालक अपने साधुत्व से भ्रष्ट तो हो ही चुका था, उसने नैमित्तिक का

वेष धारण किया और राजा से बोला—"महाराज ! मैं नगरी में जाता हूँ पर जब श्वेत वस्त्र हिलाकर आपको संकेत दूँ तब आप सेना को लेकर कुछ पीछे हट जाइयेगा।"

नैमित्तिक का रूप होने से उसे नगर में प्रवेश करने दिया गया और नगरवासियों ने पूछा—"महाराज ! राजा कुणिक ने हमारी नगरी के चारों ओर घेरा डाल रखा है, इस संकट से हमें कैसे छुटकारा मिल सकता है ?" कूलवालक ने अपने ज्ञानाभ्यास द्वारा जान लिया था कि नगरी में जो स्तूप बना हुआ है, इसका प्रभाव जबतक रहेगा, कुणिक विजय प्राप्त नहीं कर सकता। अतः उन नगरवासियों के द्वारा ही छल से उसे गिरवाने का उपाय सोच लिया। वह बोला—"भाइयो ! तुम्हारी नगरी में अमुक स्थान पर जो स्तूप खड़ा है, जबतक वह नष्ट नहीं हो जायगा, तबतक कुणिक घेरा डाले रहेगा और तुम्हें संकट से मुक्ति नहीं मिलेगी। अतः इसे गिरा दो तो कुणिक हट जाएगा।"

भोले नागरिकों ने नैमित्तिक की बात पर विश्वास करके स्तूप को तोड़ना प्रारम्भ कर दिया। इसी बीच कपटी नैमित्तिक ने सफेद वस्त्र हिलाकर अपनी योजनानुसार कुणिक को पीछे हटने का संकेत किया और कुणिक सेना को कुछ पीछे हटा ले गया। नागरिकों ने जब यह देखा कि स्तूप के थोड़ा सा तोड़ते ही कुणिक की सेना पीछे हट रही है तो उसे पूरी तरह भगा देने के लिये स्तूप को बड़े उत्साह से तोड़ना प्रारम्भ कर दिया। कुछ समय में ही स्तूप धराशायी हो गया। पर हुआ यह कि ज्योंही स्तूप टूटा, उसका नगर-कोट की दृढ़ता पर रहा हुआ प्रभाव समाप्त हो गया और कुणिक ने तुरन्त आगे बढ़कर कोट तोड़ते हुए विशाला पर अपना अधिकार कर लिया।

कूलबालक साधु को अपने वश में कर लेने की पारिणामिकी बुद्धि वेश्या की थी और स्तूप-भेदन कराकर कुणिक को विजय प्राप्त कराने में कूलवालक की पारिणामिकी बुद्धि ने कार्य किया। अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान का वर्णन पूर्ण हुआ।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान

५३—से किं तं सुयनिस्सियं ?

सुयनिस्सिअं चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) उग्गहे (२) ईहा (३) अवाओ (४) धारणा। ॥ सूत्र २७ ॥

५३—शिष्य ने पूछा—श्रुतनिश्रित मतिज्ञान कितने प्रकार का है ?

गुरु ने उत्तर दिया—वह चार प्रकार का है यथा—
(१) अवग्रह (२) ईहा (३) अवाय (४) धारणा।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि कभी तो मतिज्ञान स्वतंत्र रूप से कार्य करता है और कभी श्रुतज्ञान के सहयोग से। जो मतिज्ञान श्रुतज्ञान के पूर्वकालिक संस्कारों के निमित्त से उत्पन्न होता है, उसके चार भेद हो जाते हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्न प्रकार से है—

(१) अवग्रह—जो ज्ञान नाम, जाति, विशेष्य, विशेषण आदि विशेषताओं से रहित, मात्र सामान्य को ही जानता है वह अवग्रह कहलाता है। वादिदेवसूरि लिखते हैं—"विषय—विषयिसन्नि-

पातानन्तरसमुद्भूत-सत्तामात्रगोचर-दर्शनाज्जातमाद्यम्, अवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः ।"

—प्रमाणनयतत्त्वालोक, परि २ सू०

अर्थात्—विषय-पदार्थ और विषयी-इन्द्रिय, नो-इन्द्रिय आदि का यथोचित देश में सम्बन्ध होने पर सत्तामात्र (महासत्ता) को जाननेवाला दर्शन उत्पन्न होता है । इसके अनन्तर सबसे पहले मनुष्यत्व, जीवत्व, द्रव्यत्व आदि अवान्तर (अपर) सामान्य से युक्त वस्तु को जाननेवाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है ।

जैनागमों में उपयोग के दो प्रकार बताए हैं—(१) साकार उपयोग तथा (२) अनाकार उपयोग । इन्हीं को ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग भी कहा गया है । ज्ञान का पूर्वभावी होने से दर्शनोपयोग का भी वर्णन ज्ञानोपयोग का वर्णन करने के लिए किया गया है । ज्ञान की यह धारा उत्तरोत्तर विशेष की ओर झुकती जाती है ।

(२) ईहा—भाष्यकार ने ईहा की परिभाषा करते हुए बताया है—अवग्रह में सत् और असत् दोनों से अतीत सामान्यमात्र का ग्रहण होता है किन्तु उसकी छानबीन करके असत् को छोड़ते हुए सत् रूप का ग्रहण करना ईहा का कार्य है । प्रमाणनय-तत्त्वालोक में भी ईहा का स्पष्टीकरण करते हुए बताया है—"अवगृहीतार्थविशेषाकांक्षणमीहा ।"

अर्थात्—अवग्रह से जाने हुए पदार्थ में विशेष जानने की जिज्ञासा को ईहा कहते हैं । दूसरे शब्दों में अवग्रह से कुछ आगे और अवाय से पूर्व सत्-रूप अर्थ को पर्यालोचनरूप चेष्टा ही ईहा कहलाती है ।

(३) अवाय—निश्चयात्मक या निर्णयात्मक ज्ञान को अवाय कहते हैं । प्रमाणनयतत्त्वालोक में अवाय की व्याख्या की गई है—"ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ।"

अर्थात्—ईहा द्वारा जाने गए पदार्थ में विशेष का निर्णय हो जाना अवाय है । निश्चय और निर्णय आदि अवाय के ही पर्यायान्तर हैं । इसे 'अपाय' भी कहते हैं ।

(४) धारणा—"स एव दृढतमावस्थापन्नो धारणा ।"

—प्रमाणनयतत्त्वालोक

—जब अवाय ज्ञान अत्यन्त दृढ हो जाता है, तब उसे धारणा कहते हैं । निश्चय तो कुछ काल तक स्थिर रहता है फिर विषयान्तर में उपयोग के चले जाने पर वह लुप्त हो जाता है । किन्तु उससे ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं, जिनसे भविष्य में किसी निमित्त के मिल जाने पर निश्चित किए हुए विषय का स्मरण हो जाता है । उसे भी धारणा कहा जाता है । धारणा के तीन प्रकार होते हैं—

(१) अविच्युति—अवाय में लगे हुए उपयोग से च्युत न होना । अविच्युति धारणा का अधिक से अधिक काल अन्तर्मुहूर्त्त का होता है । छद्मस्थ का कोई भी उपयोग अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक काल तक स्थिर नहीं रहता ।

(२) वासना—अविच्युति से उत्पन्न संस्कार वासना कहलाती है । ये संस्कार संख्यात वर्ष की आयु वालों के संख्यात काल तक और असंख्यात काल की आयु वालों के असंख्यात काल तक भी रह सकते हैं ।

(३) स्मृति—कालान्तर में किसी पदार्थ को देखने से अथवा किसी अन्य निमित्त के द्वारा संस्कार प्रबुद्ध होने से जो ज्ञान होता है, उसे स्मृति कहा जाता है।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के ये चारों प्रकार क्रम से ही होते हैं। अवग्रह के विना ईहा नहीं होती, ईहा के बिना अवाय (निश्चय) नहीं होता और अवाय के अभाव में धारणा नहीं हो सकती।

(१) अवग्रह

५४—से किं तं उग्गहे ?

उग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—अत्थुग्गहे य वंजणुग्गहे य। सूत्र० २८ ॥

प्रश्न—अवग्रह कितने प्रकार का है ?

उत्तर—वह दो प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। (१) अर्थावग्रह (२) व्यंजनावग्रह।

विवेचन—सूत्र में अवग्रह के दो भेद बताए गए हैं। एक अर्थावग्रह और दूसरा व्यंजनावग्रह। 'अर्थ' वस्तु को कहते हैं। वस्तु और द्रव्य, ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जिसमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के धर्म रहते हैं, वह द्रव्य कहलाता है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा, ये चारों सम्पूर्ण द्रव्यग्राही नहीं हैं। ये प्रायः पर्यायों को ही ग्रहण करते हैं। पर्याय से अनन्त धर्मात्मक वस्तु का ग्रहण स्वतः हो जाता है। द्रव्य के अवस्थाविशेष को पर्याय कहते हैं। कर्मों से आवृत देहगत आत्मा को इन्द्रियों और मन के माध्यम से ही वाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर के अंगोपाङ्गनामकर्म के उदय से द्रव्येन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं तथा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से भावेन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। द्रव्येन्द्रियाँ तथा भावेन्द्रियाँ, दोनों ही एक दूसरी के बिना अकिंचित्कर हैं। इसलिए जिन-जिन जीवों को जितनी-जितनी इन्द्रियाँ मिली हैं वे उसके द्वारा उतना-उतना ही ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे एकेन्द्रिय जीव को केवल स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह होता है। अर्थावग्रह पटुक्रमी तथा व्यंजनावग्रह मन्दक्रमी होता है। अर्थावग्रह अभ्यास से तथा विशेष क्षयोपशम से होता है और व्यंजनावग्रह अभ्यास के विना तथा क्षयोपशम की मंदता में होता है।

यद्यपि सूत्र में प्रथम अर्थावग्रह का और फिर व्यंजनावग्रह का निर्देश किया गया है किन्तु उनकी उत्पत्ति का क्रम इससे विपरीत है, अर्थात् पहले व्यंजनावग्रह और तत्पश्चात् अर्थावग्रह उत्पन्न होता है।

'व्यज्यते अनेनेति व्यञ्जन' अथवा 'व्यज्यते इति व्यञ्जनम्' अर्थात् जिसके द्वारा व्यक्त किया जाए या जो व्यक्त हो, वह व्यंजन कहलाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यंजन के तीन अर्थ फलित होते हैं—(१) उपकरणेन्द्रिय (२) उपकरणेन्द्रिय तथा उसका अपने ग्राह्य विषय के साथ संयोग और (३) व्यक्त होने वाले शब्दादि विषय।

सर्वप्रथम होने वाले दर्शनोपयोग के पश्चात् व्यंजनावग्रह होता है। इसका काल असंख्यात समय है। व्यंजनावग्रह के अन्त में अर्थावग्रह होता है और इसका काल एक समय मात्र है। अर्थावग्रह के द्वारा सामान्य का वोध होता है। यद्यपि व्यंजनावग्रह के द्वारा ज्ञान नहीं होता तथापि उसके अन्त में होने वाले अर्थावग्रह के ज्ञानरूप होने से, अर्थात् ज्ञान का कारण होने से व्यंजनावग्रह भी उपचार

से ज्ञान माना गया है। एवं व्यंजनावग्रह में भी अत्यल्प-अव्यक्त ज्ञान की कुछ मात्रा होती अवश्य है, क्योंकि यदि उसके असंख्यात समयों में लेश मात्र भी ज्ञान न होता तो उसके अन्त में अर्थावग्रह में यकायक ज्ञान कैसे हो जाता! अतएव अनुमान किया जा सकता है कि व्यंजनावग्रह में भी अव्यक्त ज्ञानांश होता है किन्तु अति स्वल्प रूप में होने के कारण वह हमारी प्रतीति में नहीं आता।

दर्शनोपयोग महासामान्य—सत्ता मात्र का ग्राहक है, जबकि अवग्रह में अपरसामान्य—मनुष्यत्व आदि—का बोध होता है।

५५—से किं तं वंजणुग्गहे ?

वंजणुग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—(१) सोइंदिअवंजणुग्गहे (२) घाणिंदियवंजणुग्गहे (३) जिब्भिदियवंजणुग्गहे (४) फासिंदियवंजणुग्गहे, से त्तं वंजणुग्गहे।

५५—प्रश्न—वह व्यंजनावग्रह कितने प्रकार का है ?

उत्तर—व्यंजनावग्रह चार प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) श्रोत्रेन्द्रियव्यंजनावग्रह (२) घ्राणेन्द्रियव्यंजनावग्रह (३) जिह्वेन्द्रियव्यंजनावग्रह (४) स्पर्शेन्द्रियव्यंजनावग्रह। यह व्यंजनावग्रह हुआ।

विवेचन—चक्षु और मन के अतिरिक्त शेष चारों इन्द्रियाँ प्राप्यकारी होती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय विषय को केवल स्पृष्ट होने मात्र से ही ग्रहण करती है। स्पर्शन, रसन और घ्राणेन्द्रिय, ये तीनों विषय को बद्ध स्पृष्ट होने पर ग्रहण करती हैं। जैसे रसनेन्द्रिय का जब तक रस से सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक उसका अवग्रह नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्पर्श और घ्राण के विषय में भी जानना चाहिये। किन्तु चक्षु और मन को विषय ग्रहण करने के लिये स्पृष्टता तथा बद्धस्पृष्टता आवश्यक नहीं है। ये दोनों दूर से ही विषय को ग्रहण करते हैं। नेत्र अपने में आंजे गए अंजन को न देख पाकर भी दूर की वस्तुओं को देख लेते हैं। इसी प्रकार मन भी स्वस्थान पर रहकर ही दूर रही हुई वस्तुओं का चिन्तन कर लेता है। यह विशेषता चक्षु और मन में ही है, अन्य इन्द्रियों में नहीं। इसीलिये चक्षु और मन को अप्राप्यकारी माना गया है। इनपर विषयकृत अनुग्रह या उपघात नहीं होता जब कि अन्य चारों पर होता है।

५६—से किं तं अत्थुग्गहे ?

अत्थुग्गहे छव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—(१) सोइंदियअत्थुग्गहे (२) चक्खिदियअत्थुग्गहे (३) घाणिंदियअत्थुग्गहे (४) जिब्भिदियअत्थुग्गहे (५) फासिंदियअत्थुग्गहे, (६) नोइंदियअत्थुग्गहे।

५६—अर्थावग्रह कितने प्रकार का है ?

वह छह प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) श्रोत्रेन्द्रियअर्थावग्रह (२) चक्षुरिन्द्रिय-अर्थावग्रह (३) घ्राणेन्द्रियअर्थावग्रह (४) जिह्वेन्द्रियअर्थावग्रह (५) स्पर्शेन्द्रियअर्थावग्रह (६) नोइन्द्रियअर्थावग्रह।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अर्थावग्रह के छह प्रकार बताए गए हैं। अर्थावग्रह उसे कहते हैं जो रूपादि अर्थों को सामान्य रूप में ही ग्रहण करता है किन्तु वही सामान्य ज्ञान उत्तरकालभावी

ईहा, अवाय और धारणा से स्पष्ट, एवं परिपक्व वनता है। जिस प्रकार एक छोटी सी लौ अथवा चिनगारी से विराट् प्रकाशपुञ्ज वन जाता है, उसी प्रकार अर्थ का सामान्य वोध होने पर विचार-विमर्श, चिन्तन-मनन एवं अनुप्रेक्षा आदि के द्वारा उसे विशाल वनाया जा सकता है। इस प्रकार अर्थ की धूमिल-सी झलक का अनुभव होना अर्थावग्रह कहलाता है। उसके विना ईहा आदि अगले ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। दूसरे शव्दों में ईहा का मूल अर्थावग्रह होता है।

आगे सूत्रकार ने 'नोइंदिय अत्थुग्गह' पद दिया है। नोइन्द्रिय अर्थात् मन। मन भी दो प्रकार का होता है—द्रव्यरूप और भावरूप। जीव में मन:पर्याप्ति नामकर्मोदय से ऐसी शक्ति पैदा होती है, जिससे मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके द्रव्य मन की रचना की जाती है। जिस प्रकार उत्तम आहार से शरीर पुष्ट होकर कार्य करने की क्षमता प्राप्त करता है, उसी प्रकार मनोवर्गणा के नए-नए पुद्गलों को ग्रहण करके मन कार्य करने में सक्षम वनता है। उसे द्रव्य-मन कहा जाता है। चूर्णिका में कहा गया है—"मणपज्जत्तिनामकम्मोदयओ तज्जोग्गे मणोदव्वे घेत्तुं मणत्तणेण परिणामिया दव्वा दव्वमणो भण्णइ।"

द्रव्यमन के होते हुए जीव का मननरूप जो परिणाम है, उस को भाव-मन कहते हैं। द्रव्य-मन के विना भावमन कार्यकारी नहीं हो सकता। भावमन के अभाव में भी द्रव्यमन होता है, जैसे भवस्थ केवली के द्रव्यमन रहता है, किन्तु वह कार्यकारी नहीं होता है। जव इन्द्रियों की अपेक्षा के विना केवल मन से ही अवग्रह होता है तव वह नोइन्द्रिय-अर्थावग्रह कहा जाता है, अन्यथा वह इन्द्रियों का सहयोगी वना रहता है।

५७—तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा—ओगेण्हणया, उवधारणया, सवणया, अवलंवणया, मेहा, से त्तं उग्गहे।

५७—अर्थावग्रह के एक अर्थवाले, उदात्त आदि नाना घोष वाले तथा 'क' आदि नाना व्यञ्जन वाले पाँच नाम हैं। यथा—(१) अवग्रहणता (२) उपधारणता (३) श्रवणता (४) अवलम्वनता (५) मेधा। यही अवग्रह है।

विवेचन—इस सूत्र में अर्थावग्रह के पर्यायान्तर नाम दिये गये हैं। प्रथम समय में आए हुए शव्द आदि पुद्गलों का ग्रहण करना अवग्रह कहलाता है जो तीन प्रकार का होता है। जैसे—व्यंजनावग्रह, सामान्यार्थावग्रह और विशेषसामान्यार्थावग्रह। विशेषसामान्य-अर्थावग्रह औपचारिक है।

(१) अवग्रहणता—व्यंजनावग्रह अन्तर्मुहूर्त का होता है। उसके प्रथम समय में पुद्गलों के ग्रहण करना रूप परिणाम को अवग्रहणता कहते हैं।

(२) उपधारणता—व्यंजनावग्रह के प्रथम समय के पश्चात् शेष समयों में नये-नये पुद्गलों को प्रतिसमय ग्रहण करना, और पूर्व समयों में ग्रहण किये हुए को धारण करना उपधारणता है।

(३) श्रवणता—एक समय के सामान्यार्थावग्रह वोधरूप परिणाम को श्रवणता कहते हैं।

(४) अवलम्बनता—जो सामान्य ज्ञान से विशेष की ओर अग्रसर हो तथा उत्तरवर्ती ईहा, अवाय और धारणा तक पहुँचने वाला हो उसे अवलम्बनता कहते हैं।

(५) मेधा—मेधा सामान्य-विशेष को ही ग्रहण करती है।

एगट्ठिया—इस पद के भावानुसार, यद्यपि अवग्रह के पाँच नाम बताए गए हैं तदपि ये पाँचों नाम शब्दनय की दृष्टि से एक ही अर्थयुक्त समझने चाहिये। समभिरूढ तथा एवंभूत नय की दृष्टि से पाँचों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं।

नाणाघोसा—अवग्रह के जो पाँच पर्यायान्तर बताए गये हैं, उनका उच्चारण भिन्न-भिन्न है।

नाणावंजना—अवग्रह के उक्त पाँचों नामों में स्वर और व्यंजन भिन्न भिन्न हैं।

(२) ईहा

५८—से किं तं ईहा? ईहा छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—(१) सोइंदिय-ईहा (२) चक्खिदिय-ईहा (३) घाणिदिय-ईहा (४) जिब्भिदिय-ईहा (५) फासिदिय-ईहा (६) नोइंदिय-ईहा। तीसे णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा—(१) आभोगणया (२) मग्गणया (३) गवेसणया (४) चिंता (५) वीमंसा, से त्तं ईहा।

५८—भगवन्! वह ईहा कितने प्रकार की है?

ईहा छह प्रकार की कही गई है। जैसे—(१) श्रोत्रेन्द्रिय-ईहा (२) चक्षु-इन्द्रिय-ईहा (३) घ्राण-इन्द्रिय-ईहा (४) जिह्वा-इन्द्रिय-ईहा (५) स्पर्श-इन्द्रिय-ईहा और (६) नोइन्द्रिय-ईहा।

ईहा के एकार्थक, नानाघोष, और नाना व्यंजन वाले पाँच नाम इस प्रकार हैं—
(१) आभोगनता (२) मार्गणता (३) गवेषणता (४) चिन्ता तथा (५) विमर्श।

विवेचन—एकार्थक, नानाघोष तथा नाना व्यंजनों से युक्त ईहा के पाँच नामों का विवरण इस प्रकार है—

(१) आभोगनता—अर्थावग्रह के अनन्तर सद्भूत अर्थविशेष के अभिमुख पर्यालोचन को आभोगनता कहा जाता है। टीकाकार कहते हैं—"आभोगनं—अर्थावग्रह-समनन्तरमेव सद्भूतार्थ-विशेषाभिमुखमालोचनं, तस्य भाव आभोगनता।"

(२) मार्गणता—अन्वय एवं व्यतिरेक धर्मों के द्वारा पदार्थों के अन्वेषण करने को मार्गणा कहते हैं।

(३) गवेषणता—व्यतिरेक धर्म का त्यागकर, अन्वय धर्म के साथ पदार्थों के पर्यालोचन करने को गवेषणता कहा गया है।

(४) चिन्ता—पुनः पुनः विशिष्ट क्षयोपशम से स्वधर्मानुगत सद्भूतार्थ के विशेष चिन्तन को चिन्ता कहते हैं। कहा भी है—"ततो मुहुर्मुहुः क्षयोपशमविशेषतः स्वधर्मानुगतसद्भूतार्थ-विशेषचिन्तनं चिन्ता।"

(५) विमर्श—"तत ऊर्ध्वं क्षयोपशमविशेषात् स्पष्टतरं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखव्यतिरेक-धर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्मापरित्यागतोऽन्वयधर्मविमर्शनं विमर्शः।"

अर्थात्—क्षयोपशमविशेष से स्पष्टतर—सद्भूतार्थ के अभिमुख, व्यतिरेक धर्म को त्याग कर और अन्वय धर्म को ग्रहण करके स्पष्टतया विचार करना विमर्श कहलाता है।

(३) अवाय

(५९)—से किं तं अवाए? अवाए छव्विहे पण्णत्ते। तंजहा—(१) सोइंदियअवाए (२) चक्खिंदियअवाए (३) घाणिंदियअवाए (४) जिब्भिंदियअवाए (५) फासिंदियअवाए (६) नोइंदियअवाए। तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा—(१) आउट्टणया (२) पच्चाउट्टणया (३) अवाए (४) बुद्धी (५) विण्णाणे। से त्तं अवाए।

५९—अवाय मतिज्ञान कितने प्रकार का है?

अवाय छह प्रकार का है, जैसे—(१) श्रोत्रेन्द्रिय-अवाय (२) चक्षुरिन्द्रिय-अवाय (३) घ्राणेन्द्रिय-अवाय (४) रसनेन्द्रिय-अवाय (५) स्पर्शेन्द्रिय-अवाय (६) नोइन्द्रिय-अवाय।

अवाय के एकार्थक, नानाघोष और नानाव्यंजन वाले पाँच नाम इस प्रकार हैं—(१) आवर्त्तनता (२) प्रत्यावर्त्तनता (३) अवाय (४) बुद्धि (५) विज्ञान। यह अवाय का वर्णन हुआ।

विवेचन—इस सूत्र में अवाय और उसके भेद तथा पर्यायान्तर बताए गए हैं। ईहा के पश्चात् विशिष्ट बोध कराने वाला ज्ञान अवाय है। इसके पाँच नाम निम्न प्रकार हैं—

(१) आवर्त्तनता—ईहा के पश्चात् निश्चय के सन्मुख बोधरूप परिणाम से पदार्थों के विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के सन्मुख ज्ञान को आवर्त्तनता कहते हैं।

(२) प्रत्यावर्त्तनता—आवर्त्तनता के पश्चात्-अपाय-निश्चय के सन्निकट पहुँचा हुआ उपयोग प्रत्यावर्त्तनता कहलाता है।

(३) अवाय—पदार्थों के पूर्ण निश्चय को अवाय कहते हैं।

(४) बुद्धि—निश्चित ज्ञान को क्षयोपशम-विशेष से स्पष्टतर जानना।

(५) विज्ञान—विशिष्टतर निश्चय किये हुए ज्ञान को, जो तीव्र धारणा का कारण हो उसे विज्ञान कहते हैं। बुद्धि और विज्ञान से ही पदार्थों का सम्यक्तया निश्चय होता है।

(४) धारणा

६०—से किं तं धारणा?

धारणा छव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—(१) सोइंदिय-धारणा (२) चक्खिंदिय-धारणा (३) घाणिंदिय-धारणा (४) जिब्भिंदिय-धारणा (५) फासिंदिय-धारणा (६) नोइंदिय-धारणा।

तीसे णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा, नाणावंजणा, पंच नामधिज्जा भवंति, तं जहा—(१) धारणा (२) साधारणा (३) ठवणा (४) पइट्ठा (५) कोट्ठे। से त्तं धारणा।

६०—धारणा कितने प्रकार की है?

धारणा छह प्रकार की है। यथा—(१) श्रोत्रेन्द्रिय-धारणा (२) चक्षुरिन्द्रिय-धारणा (३) घ्राणेन्द्रिय-धारणा (४) रसनेन्द्रिय-धारणा (५) स्पर्शेन्द्रिय-धारणा (६) नोइन्द्रिय-धारणा।

धारणा के एक अर्थवाले, नाना घोष और नाना व्यंजन वाले पाँच नाम इस प्रकार हैं—(१) धारणा (२) साधारणा (३) स्थापना (४) प्रतिष्ठा और (५) कोष्ठ। यह धारणा-मतिज्ञान हुआ।

विवेचन—धारणा के भी पूर्ववत् छह भेद हैं तथा एकार्थक, नाना घोष और नाना व्यंजनवाले पाँच नाम इस प्रकार बताए गये हैं—

(१) धारणा—अन्तर्मुहूर्त्त तक पूर्वोक्त अपाय के उपयोग का सातत्य, उसका संस्कार और संख्यात या असंख्यात काल व्यतीत हो जाने पर योग्य निमित्त मिलने पर स्मृति का जाग जाना धारणा है।

(२) साधारणा—जाने हुए अर्थ को स्मरणपूर्वक अन्तर्मुहूर्त्त तक धारण किये रहना साधारणा है।

(३) स्थापना—निश्चय किये हुए अर्थ को हृदय में स्थापन किये रहना। उसे वासना (संस्कार) भी कहा जाता है।

(४) प्रतिष्ठा—अवाय के द्वारा निर्णीत अर्थो को भेद प्रभेदों सहित हृदय में स्थापित करना प्रतिष्ठा कहलाता है।

(५) कोष्ठ—कोष्ठ में रखे हुए सुरक्षित धान्य के समान ही हृदय में किसी विषय को पूरी तरह सुरक्षित रखना कोष्ठ कहलाता है।

यद्यपि सामान्य रूप में इनका अर्थ एक ही प्रतीत होता है फिर भी इन ज्ञानों की उत्तरोत्तर होने वाली विशिष्ट अवस्थाओं को प्रदर्शित करने के लिए पर्याय नामों का कथन किया गया है।

ज्ञान का जिस क्रम से उत्तरोत्तर विकास होता है, सूत्रकार ने उसी क्रम से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का निर्देश किया है। अवग्रह के अभाव में ईहा नहीं, ईहा के अभाव में अवाय नहीं और अवाय के अभाव में धारणा नहीं हो सकती।

यहाँ ज्ञातव्य है कि मतिज्ञान के करणभेद की अपेक्षा से २८ मूल भेद किये गए हैं, किन्तु ये २८ भेद विषय की दृष्टि से बारह-बारह प्रकार के हो जाते हैं, अर्थात् बहु, बहुविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, उक्त, अनुक्त आदि बारह प्रकार के विषयों के कारण मतिज्ञान तीन सौ छत्तीस प्रकार का है। इनमें से व्यंजनावग्रह के मन और नेत्रों को छोड़ कर चार ही इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण ४८ भेद हैं, जबकि अर्थावग्रह ७२ प्रकार का है।

प्रश्न यह है कि जब अवग्रह सामान्य मात्र को ग्रहण करता है तो बहु (बहुत) बहुविध (बहुत प्रकार के) आदि को किस प्रकार ग्रहण कर सकता है? विशेष को जाने बिना ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित है—

अर्थावग्रह दो प्रकार का है—नैश्चयिक और व्यावहारिक। व्यंजनावग्रह के पश्चात् जो एकसामयिक अर्थावग्रह होता है, वह नैश्चयिक (पारमार्थिक) अर्थावग्रह है। तत्पश्चात् ईहा और अवायज्ञान होते हैं। किन्तु बहुत बार अवाय द्वारा पदार्थ का निश्चय हो जाने के अनन्तर भी उसके किसी नवीन धर्म को जानने की अभिलाषा होती है। वह ईहा है। उसके पश्चात् पुनः उस नवीन धर्म

का निश्चय-अवाय होता है। ऐसी स्थिति में जिस अवाय के पश्चात् पुनः ईहा ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अवाय, ईहाज्ञान का पूर्ववर्त्ती होने के कारण व्यावहारिक (उपचरित) अवग्रह कहा जाता है। इस प्रकार जिस-जिस अवाय के पश्चात् नवीन-नवीन धर्मों को जानने की अभिलाषा (ईहा) उत्पन्न हो, वे सभी अवाय व्यावहारिक अर्थावग्रह में ही परिगणित हैं। उदाहरणार्थ—'यह मनुष्य है' इस प्रकार के निश्चयात्मक अवायज्ञान के पश्चात् 'देवदत्त है या जिनदत्त?' यह संशय हुआ। फिर 'जिनदत्त होना चाहिए' यह ईहाज्ञान होने के अनन्तर 'जिनदत्त ही है' यह अवाय ज्ञान हुआ। इस क्रम में 'यह मनुष्य है' यह अवाय व्यावहारिक अर्थावग्रह कहा जाएगा। किन्तु जिस अवाय के पश्चात् नवीन धर्म को जानने की ईहा नहीं होती, उसे व्यावहारिक अर्थावग्रह नहीं कहा जाता, वह अवाय ही कहलाता है।[1]

अवग्रह आदि का काल

६१—(१) उग्गहे इक्कसमइए (२) अंतोमुहुत्तिआ ईहा, (३) अंतोमुहुत्तिए अवाए (४) धारणा संखेज्जं वा कालं, असंखेज्जं वा कालं। ॥ सूत्र० ३५ ॥

६१—(१) अवग्रह ज्ञान का काल एक समय मात्र का है। (२) ईहा का काल अन्तर्मुहूर्त्त है। (३) अवाय भी अन्तर्मुहूर्त्त तक होता है तथा (४) धारणा का काल संख्यात अथवा (युगलियों की अपेक्षा से) असंख्यात काल है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में चारों का कालप्रमाण बताया गया है। अर्थावग्रह एक समय तक, ईहा और अवाय का काल अलग-अलग अन्तर्मुहूर्त्त का है। धारणा अन्तर्मुहूर्त्त से लेकर संख्यात और असंख्यात काल तक रह सकती है। इसका कारण यह है कि यदि किसी संज्ञी प्राणी की आयु संख्यात-काल की हो तो धारणा संख्यातकाल तक और अगर आयु असंख्यात काल की हो तो धारणा भी असंख्यात काल पर्यन्त रह सकती है।

धारणा की प्रबलता से प्रत्यभिज्ञान तथा जाति-स्मरण ज्ञान भी हो सकता है। अवाय हो

---

१. "सामण्णमेत्तगहणं, निच्छयओ समयमोग्गहो पढमो।
तत्तोऽणंतरमीहिय-वत्थुविसेसस्स जोऽवाओ॥
सो पुणरीहावाय विक्खाओ, उग्गहत्ति उवयरिओ।
एस विसेसावेक्खा, सामन्नं गेण्हए जेण॥
तत्तोऽणंतरमीहा, तओ अवायो य तव्विसेसस्स।
इह सामन्न-विसेसावेक्खा, जावन्तिमो भेओ॥
सव्वत्थेहावाया निच्छयओ, मोत्तुं माइसामन्नं।
संववहारत्थं पुण, सव्वत्थावग्गहोऽवाओ॥
तरतमजोगाभावेऽवाओ, च्चिय धारणा तदन्तम्मि।
सव्वत्थ वासणा पुण, भणिया कालन्तर सई य॥"

—विशेषावश्यकभाष्य

जाने पर भी अगर उपयोग उस विषय में लगा रहे तो उसे अवाय नहीं वरन अविच्युति धारणा कहते हैं।

अविच्युति धारणा से वासना उत्पन्न होती है। वासना जितनी दृढ होगी, निमित्त मिलने पर वह स्मृति को अधिकाधिक उद्‌बोधित करने में कारण बनेगी। भाष्यकार ने उक्त चारों का कालमान निम्न प्रकार से बताया है—

"अत्थोग्गहो जहन्नं समओ, सेसोग्गहादओ वीसुं।
अन्तोमुहुत्तमेगन्तु, वासणा धारणं मोत्तुं॥"

—इस गाथा का भाव पूर्व में आ चुका है।

व्यंजनावग्रह: प्रतिबोधक का दृष्टान्त

६२—एवं अट्ठावीसइविहस्स आभिणिबोहियनाणस्स वंजणुग्गहस्स परूवणं करिस्सामि, पडिबोहगदिट्ठंतेण मल्लगदिट्ठंतेण य।

से किं तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं?

पडिबोहगदिट्ठंतेणं, से जहानामए केइ पुरिसे कंचि पुरिसं सुत्तं पडिबोहिज्जा—'अमुगा! अमुगत्ति!!' तत्थ चोयगे पन्नवगं एवं वयासी—किं एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति? दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति? जाव दससमय-पविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति? संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति? असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति?

एवं वदंतं चोयगं पण्णवए एवं वयासी—नो एगसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, नो दुसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, जाव नो दससमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति नो, संखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, असंखिज्जसमयपविट्ठा पुग्गला गहणमागच्छंति, से त्तं पडिबोहगदिट्ठंतेणं।

६२—चार प्रकार का व्यंजनावग्रह, छह प्रकार का अर्थावग्रह, छह प्रकार की ईहा, छह प्रकार का अवाय और छह प्रकार की धारणा, इस प्रकार अट्ठाईसविध आभिनिबोधिक-मतिज्ञान के व्यंजन अवग्रह की प्रतिबोधक और मल्लक के उदाहरण से प्ररूपणा करूँगा।

प्रतिबोधक के उदाहरण से व्यंजन-अवग्रह का निरूपण किस प्रकार है?

प्रतिबोधक का दृष्टान्त इस प्रकार है—कोई व्यक्ति किसी सुप्त पुरुष को—"हे अमुक! हे अमुक!!" इस प्रकार कह कर जगाए। शिष्य ने तब पुनः प्रश्न किया—"भगवन्! क्या ऐसा संबोधन करने पर उस पुरुष के कानों में एक समय में प्रवेश किए हुए पुद्‌गल ग्रहण करने में आते हैं या दो समय में अथवा दस समयों में, संख्यात समयों में या असंख्यात समयों में प्रविष्ट पुद्‌गल ग्रहण करने में आते हैं?"

ऐसा पूछने पर प्ररूपक—गुरु ने उत्तर दिया—

"एक समय में प्रविष्ट हुए पुद्‌गल ग्रहण करने में नहीं आते, न दो समय अथवा दस समय में

और न ही संख्यात समय में, अपितु असंख्यात समयों में प्रविष्ट हुए शब्द पुद्गल ग्रहण करने में आते हैं।" इस तरह यह प्रतिबोधक के दृष्टान्त से व्यंजन अवग्रह का स्वरूप वर्णित किया गया।

विवेचन—सूत्रकार ने व्यंजनावग्रह को समझाने के लिये प्रतिबोधक का दृष्टान्त देकर विषय को स्पष्ट किया है। जैसे—कोई व्यक्ति, प्रगाढ निद्रा-लीन किसी पुरुष को संबोधित करता है—"ओ भाई! अरे ओ भाई!!"

ऐसे प्रसंग को ध्यान में लाकर शिष्य ने पूछा—"भगवन्! क्या एक समय के प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गल श्रोत्र के द्वारा अवगत हो सकते हैं?" गुरु ने कहा—नहीं।

तब शिष्य ने पुनः प्रश्न किया—"भगवन्! तब क्या दो समय, दस समय या संख्यात यावत् असंख्यात समय में प्रविष्ट हुए शब्द पुद्गलों को वह ग्रहण करता है?"

गुरु ने समझाया—"वत्स! एक समय से लेकर संख्यात समयों में प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गलों को भी वह सुप्त पुरुष ग्रहण—जान नहीं सकता, अपितु असंख्यात समय तक के प्रविष्ट हुए शब्द-पुद्गल ही अवगत होते हैं।" वस्तुतः एक बार आँखों की पलकें झपकने जितने काल में असंख्यात समय लग जाते हैं। हाँ, इस बात को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि एक से लेकर संख्यात समय-पर्यन्त श्रोत्र में जो शब्द-पुद्गल प्रविष्ट होते हैं, वे सब अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान के जनक होते हैं। कहा भी है—"जं वंजणोग्गहणमिति भणियं विण्णाणं अव्वत्तमिति।" उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि असंख्यात समय के प्रविष्ट शब्द-पुद्गल ही ज्ञान के उत्पादक होते हैं।

व्यंजनावग्रह का कालमान जघन्य आवलिका के असंख्येय भागमात्र है और उत्कृष्ट संख्येय आवलिका प्रमाण होता है, वह भी 'पृथक्त्व' (दो से लेकर नौ तक की संख्या) 'श्वासोच्छ्वास' प्रमाण जानना चाहिये।

सूत्र में शिष्य के लिये 'चोयग' शब्द आया है उसका अर्थ है—प्रेरक। वह उत्तर के लिए प्रेरक है। प्रज्ञापक पद गुरु का वाचक है। वह सूत्र और अर्थ की प्ररूपणा करने के कारण प्रज्ञापक कहलाता है।

मल्लक के दृष्टान्त से व्यंजनावग्रह

६३—से किं तं मल्लगदिट्ठंतेणं? से जहानामए केइ पुरिसे आवागसीसाओ मल्लगं गहाय तत्थेगं उदगबिंदुं पक्खेविज्जा, से नट्ठे, अण्णेऽवि पक्खित्ते सेऽवि नट्ठे, एवं पक्खिप्पमाणेसु पक्खिप्पमाणेसु होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं रावेहिइत्ति, होही से उदगबिंदू जे णं तंसि मल्लगंसि ठाहिति, होही से उदगबिंदू जे णं तं मल्लगं भरिहिति, होही से उदगबिंदू जेणं मल्लगं पवाहेहिति।

एवामेव पक्खिप्पमाणेहिं-पक्खिप्पमाणेहिं अणन्तेहिं पुग्गलेहिं जाहे तं वंजणं पूरिअं होइ, ताहे 'हुं' ति करेइ, नो चेव णं जाणइ के वेस सद्दाइ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ अमुगे एस सद्दाइ, तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ णं धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं, असंखिज्जं वा कालं।

६३—शिष्य के द्वारा प्रश्न किया गया—'मल्लक के दृष्टान्त से व्यंजनावग्रह का स्वरूप किस प्रकार है?'

गुरु ने उत्तर दिया—जिस प्रकार कोई व्यक्ति आपाकशीर्ष अर्थात् कुम्हार के बर्तन पकाने के स्थान को, जिसे 'आवा' कहते हैं, उससे एक सिकोरा अर्थात् प्याला लेकर उसमें पानी की एक बूँद डाले, उसके नष्ट हो जाने पर दूसरी, फिर तीसरी, इसी प्रकार कई बूँदें नष्ट हो जाने पर भी निरन्तर डालता रहे तो पानी की कोई बूँद ऐसी होगी जो उस प्याले को गीला करेगी। तत्पश्चात् कोई बूँद उसमें ठहरेगी और किसी बूँद से प्याला भर जाएगा और भरने पर किसी बूँद से पानी बाहर गिरने लगेगा।

इसी प्रकार वह व्यंजन अनन्त पुद्‌गलों से क्रमशः पूरित होता है अर्थात् जब शब्द के पुद्‌गल द्रव्य श्रोत्र में जाकर परिणत हो जाते हैं, तब वह पुरुष हुंकार करता है, किन्तु यह नहीं जानता कि यह किस व्यक्ति का शब्द है? तत्पश्चात् वह ईहा में प्रवेश करता है और तब जानता है कि यह अमुक व्यक्ति का शब्द है। तत्पश्चात् अवाय में प्रवेश करता है, तब वह उपगत होता है अर्थात् शब्द का ज्ञान हो जाता है। इसके बाद धारणा में प्रवेश करता है और संख्यात अथवा असंख्यातकाल पर्यंत धारण किये रहता है।

विवेचन—सूत्रकार ने उक्त विषय को स्पष्ट करने के लिये तथा प्रतिबोधक के दृष्टान्त की पुष्टि के लिए एक और व्यावहारिक उदाहरण देकर समझाया है:—

किसी व्यक्ति ने कुम्हार के आवे से मिट्टी का पका हुआ एक कोरा प्याला लिया। उस प्याले में उसने जल की एक बूँद डाली। वह तुरन्त उस प्याले में समा गई। व्यक्ति ने तब दूसरी, तीसरी और इसी प्रकार अनेक बूँदें डालीं किन्तु वे सभी प्याले में समाती चली गईं और प्याला सूं-सूं शब्द करता रहा। किन्तु निरन्तर बूँदें डालते जाने से प्याला गीला हो गया और उसमें गिरने वाली बूँदें ठहरने लगीं। धीरे-धीरे प्याला बूँदों के पानी से भर गया और उसके बाद जल की जो बूँदें उसमें गिरीं वे बाहर निकलने लगीं। इस उदाहरण से व्यंजनावग्रह का रहस्य समझ में आ सकता है। यथा—

एक सुषुप्त व्यक्ति की श्रोत्रेन्द्रिय में क्षयोपशम की मंदता या अनभ्यस्त दशा में अथवा अनुपयुक्त अवस्था में समय-समय में जब शब्द-पुद्‌गल टकराते रहते हैं, तब असंख्यात समयों में उसे कुछ अव्यक्त ज्ञान होता है। वही व्यंजनावग्रह कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जब श्रोत्रेन्द्रिय शब्द-पुद्‌गलों से परिव्याप्त हो जाती है, तभी वह सोया हुआ व्यक्ति 'हुं' शब्द का उच्चारण करता है। उस समय सोये हुए व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं होता कि यह शब्द क्या है? किसका है? उस समय वह जाति-स्वरूप, द्रव्य-गुण इत्यादि विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र को ही ग्रहण कर पाता है। हुंकार करने सें पहले व्यंजनावग्रह होता है। हुंकार भी बिना शब्द-पुद्‌गलों के टकराए नहीं निकलता और कभी-कभी तो हुंकार करने पर भी उसे यह भान नहीं हो पाता कि मैंने हुंकार किया है। किन्तु बार-बार संबोधित करने से जब निद्रा कुछ भंग हो जाती है और अंगड़ाई लेते समय भी जब शब्द पुद्‌गल टकराते हैं, तब तक भी अवग्रह ही रहता है।

तत्पश्चात् जब व्यक्ति यह जिज्ञासा करने लगता है कि यह शब्द किसका है? मुझे किसने पुकारा है, कौन मुझे जगा रहा है? तब वह ईहा में प्रवेश कर जाता है। ग्रहण किये हुए शब्द की छानबीन करने के बाद जब वह निश्चय की कोटि में पहुँचकर निर्णय कर लेता है कि—यह शब्द अमुक का है और अमुक मुझे संबोधित करके जगा रहा है, तब अवाय होता है। इसके पश्चात्

निश्चयपूर्वक सुने हुए शब्दों को वह संख्यात अथवा असंख्यात काल तक धारण किए रहता है। तब वह धारणा कहलाती है।

प्रतिबोधक और मल्लक, इन दोनों दृष्टान्तों का सम्बन्ध यहाँ केवल श्रोत्रेन्द्रिय के साथ है। उपलक्षण से घ्राण, रसना और स्पर्शन का भी समझ लेना चाहिये। अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा श्रुतज्ञान का निकटतम सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय से है। आत्मोत्थान और आत्म-कल्याण में भी श्रुतज्ञान की प्रधानता है, अतः यहाँ श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द के योग से व्यंजनावग्रह तथा अर्थावग्रह का उल्लेख किया गया है।

अवग्रहादि के छह उदाहरण

६४—से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सद्दं सुणिज्जा, तेणं 'सद्दो' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ, 'के वेस सद्दाइ' ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस सद्दे।' तओ णं अवायं पविसइ, तओ से अवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रूवं पासिज्जा, तेणं 'रूवं' ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेसरूवं' ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस रूवेत्ति' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं भवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ, संखेज्जं वा कालं असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं गंधं अग्घाइज्जा, तेणं 'गंधे' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस गंधे' त्ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस गंधे।' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं रसं आसाइज्जा, तेणं 'रसो' त्ति उग्गहिए, नो गेव णं जाणइ 'के वेस रसे' त्ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस रसे'। तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखिज्जं वा कालं—असंखिज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं फासं पडिसंवेइज्जा, तेणं 'फासे' त्ति उग्गहिए, नो चेव ण जाणइ 'के वेस फासओ' त्ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइं 'अमुगे एस फासे।' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं हवइ, तओ धारणं पविसइ, तओ णं धारेइ संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं।

से जहानामए केइ पुरिसे अव्वत्तं सुमिणं पासिज्जा, तेणं 'सुमिणे' त्ति उग्गहिए, नो चेव णं जाणइ 'के वेस सुमिणे' त्ति ? तओ ईहं पविसइ, तओ जाणइ 'अमुगे एस सुमिणे।' तओ अवायं पविसइ, तओ से उवगयं होइ, तओ धारणं पविसइ, तओ धारेइ संखेज्जं वा कालं असंखेज्जं वा कालं। से त्तं मल्लगदिट्ठंतेणं।

६४—जैसे किसी पुरुष ने अव्यक्त शब्द को सुनकर 'यह कोई शब्द है' इस प्रकार ग्रहण किया किन्तु वह यह नहीं जानता कि 'यह शब्द क्या-किसका है ?' तब वह ईहा में प्रवेश करता है, फिर यह जानता है कि 'यह अमुक शब्द है।' फिर अवाय अर्थात् निश्चय ज्ञान में प्रवेश करता है। तत्पश्चात् उसे उपगत हो जाता है और फिर वह धारणा में प्रवेश करता है, और उसे संख्यात काल और असंख्यातकाल पर्यन्त धारण किये रहता है।

जैसे—अज्ञात नामवाला कोई व्यक्ति अव्यक्त अथवा अस्पष्ट रूप को देखे, उसने यह कोई 'रूप है' इस प्रकार ग्रहण किया, परन्तु वह यह नहीं जान पाया कि 'यह क्या-किसका रूप है?' तब वह ईहा में प्रविष्ट होता है तथा छानबीन करके यह 'अमुक रूप है' इस प्रकार जानता है। तत्पश्चात् अवाय में प्रविष्ट होकर उपगत हो जाता है, फिर धारणा में प्रवेश करके उसे संख्यात काल अथवा असंख्यात तक धारणा कर रखता है।

जैसे—अज्ञातनामा कोई पुरुष अव्यक्त गंध को सूंघता है, उसने यह 'कोई गंध है' इस प्रकार ग्रहण किया, किन्तु वह यह नहीं जानता कि 'यह क्या-किस प्रकार की गंध है?' तदनन्तर ईहा में प्रवेश करके जानता है कि 'यह अमुक गंध है।' फिर अवाय में प्रवेश करके गंध से उपगत हो जाता है। तत्पश्चात् धारणा करके उसे संख्यात व असंख्यात काल तक धारण किये रहता है।

जैसे—कोई व्यक्ति किसी रस का आस्वादन करता है। वह 'यह रस को ग्रहण करता है किन्तु यह नहीं जानता कि 'यह क्या-कौन सा रस है'? तब ईहा में प्रवेश करके वह जान लेता है कि 'यह अमुक प्रकार का रस है।' तत्पश्चात् अवाय में प्रवेश करता है। तब उसे उपगत हो जाता है। तदनन्तर धारणा करके संख्यात एवं असंख्यात काल तक धारण किये रहता है।

जैसे—कोई पुरुष अव्यक्त स्पर्श को स्पर्श करता है, उसने 'यह कोई स्पर्श है' इस प्रकार ग्रहण किया किन्तु 'यह नहीं जाना कि 'यह स्पर्श क्या-किस प्रकार का है?' तब ईहा में प्रवेश करता है और जानता है कि 'यह अमुक का स्पर्श है।'तत्पश्चात् अवाय में प्रवेश करके वह उपगत होता है। फिर धारणा में प्रवेश करने के बाद संख्यात अथवा असंख्यात काल पर्यन्त धारण किये रहता है।

जैसे—कोई पुरुष अव्यक्त स्वप्न को देखे, उसने 'यह स्वप्न है' इस प्रकार ग्रहण किया, परन्तु वह यह नहीं जानता कि 'यह क्या-कैसा स्वप्न है?' तब ईहा में प्रवेश करके जानता है कि 'यह अमुक स्वप्न है।' उसके बाद अवाय में प्रवेश करके उपगत होता है। तत्पश्चात् वह धारणा में प्रवेश करके संख्यात या असंख्यात काल तक धारण करता है।

इस प्रकार मल्लक के दृष्टांत से अवग्रह का स्वरूप हुआ।

विवेचन—उल्लिखित सूत्र में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का उदाहरणों सहित विस्तृत वर्णन किया गया है। जैसे कि जागृत अवस्था में किसी व्यक्ति ने कोई अव्यक्त शब्द सुना किंतु उसे यह ज्ञात नहीं हुआ कि यह शब्द किसका है? जीव अथवा अजीव का है? अथवा किस व्यक्ति का है? ईहा में प्रवेश करने के बाद वह जानता है कि यह शब्द अमुक व्यक्ति का होना चाहिये, क्योंकि वह अन्वय व्यतिरेक से ऊहापोह करके निर्णय के उन्मुख होता है। फिर अवाय में वह निश्चय करता है कि यह शब्द अमुक व्यक्ति का ही है। इसके पश्चात् निश्चय किये हुए शब्द को धारणा द्वारा संख्यातकाल या असंख्यात काल तक धारण किये रहता है।

ध्यान में रखना चाहिये कि चक्षुरिन्द्रिय का अर्थावग्रह होता है, व्यंजनावग्रह नहीं। शेष सब वर्णन पूर्ववत् समझना चाहिये। नोइन्द्रिय का अर्थ मन है। उसे स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार ने स्वप्न का उदाहरण दिया है। स्वप्न में द्रव्य इन्द्रियाँ कार्य नहीं करतीं, भावेन्द्रियाँ और मन ही काम करते हैं। व्यक्ति जो स्वप्न में सुनता है, देखता है, सूंघता है, चखता है, छूता है और चिन्तन-मनन करता है, इन सभी में मुख्यता मन की होती है। जागृत होने पर वह स्वप्न में देखे, हुए दृश्यों को अथवा कही-सुनी बात को अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा तक ले आता है। कोई ज्ञान अवग्रह

तक, कोई ईहा तक और कोई अवाय तक ही रह जाता है। यह नियम नहीं कि प्रत्येक अवग्रह धारणा की कोटि तक पहुँचे ही।

सूत्रकार ने इस प्रकार प्रतिबोधक और मल्लक के दृष्टान्तों से व्यंजनावग्रह का वर्णन करते हुए प्रसंगवश मतिज्ञान के अट्ठाईस भेदों का भी विस्तृत वर्णन कर दिया है। वैसे मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद भी होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र की वृत्ति में बताया गया है कि मतिज्ञान के अवग्रह आदि अट्ठाईस भेद होते हैं। प्रत्येक भेद को बारह भेदों में गुणित करने से तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। पाँच इन्द्रियाँ और मन, इन छह निमित्तों से होने वाले मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप से चौबीस भेद होते हैं। वे सब विषय की विविधता और क्षयोपशम से बारह-बारह प्रकार के होते हैं। इन्हें निम्न प्रकार से सरलता पूर्वक समझा जा सकता है :—

	(६) अवग्रह	(६) ईहा	(६) अवाय	(६) धारणा
(१) बहुग्राही	"	"	"	"
(२) अल्पग्राही	"	"	"	"
(३) बहुविधग्राही	"	"	"	"
(४) एकविधग्राही	"	"	"	"
(५) क्षिप्रग्राही	"	"	"	"
(६) अक्षिप्रग्राही	"	"	"	"
(७) अनिश्रितग्राही	"	"	"	"
(८) निश्रितग्राही	"	"	"	"
(९) असंदिग्धग्राही	"	"	"	"
(१०) संदिग्धग्राही	"	"	"	"
(११) ध्रुवग्राही	"	"	"	"
(१२) अध्रुवग्राही	"	"	"	"

(१) बहु—इसका अर्थ अनेक है, यह संख्या और परिमाण दोनों की अपेक्षा से हो सकता है। वस्तु की अनेक पर्यायों को तथा बहुत परिमाण वाले द्रव्य को जानना या किसी बहुत बड़े परिमाण वाले विषय को जानना।

(२) अल्प—किसी एक ही विषय को, या एक ही पर्याय को स्वल्पमात्रा में जानना।

(३) बहुविध—किसी एक ही द्रव्य को या एक ही वस्तु को या एक ही विषय को बहुत प्रकार से जानना। जैसे—वस्तु का आकार-प्रकार, रंग-रूप, लंबाई-चौड़ाई, मोटाई अथवा उसकी अवधि इत्यादि अनेक प्रकार से जानना।

(४) अल्पविध—किसी भी वस्तु या पर्याय को, जाति या संख्या आदि को अल्प प्रकार से जानना। अधिक भेदों सहित न जानना।

(५) क्षिप्र—किसी वक्ता या लेखक के भावों को शीघ्र ही किसी भी इन्द्रिय या मन के द्वारा जान लेना। स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा अन्धकार में भी किसी व्यक्ति या वस्तु को पहचान लेना।

(६) अक्षिप्र—क्षयोपशम की मंदता से या विक्षिप्त उपयोग से किसी भी इन्द्रिय या मन के विषय को अनभ्यस्त अवस्था में कुछ विलम्ब से जानना।

(७) अनिश्रित—बिना ही किसी हेतु के, बिना किसी निमित्त के वस्तु की पर्याय और गुण को जानना। व्यक्ति के मस्तिष्क में कोई ऐसी सूझबूझ पैदा होना जबकि वही बात किसी शास्त्र या पुस्तक में भी लिखी मिल जाय।

(८) निश्रित—किसी हेतु, युक्ति, निमित्त, लिंग आदि के द्वारा जानना। जैसे—एक व्यक्ति ने शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को उपयोग की एकाग्रता से अचानक चन्द्र-दर्शन कर लिया और दूसरे ने किसी और के कहने पर अर्थात् बाह्य निमित्त से चन्द्र-दर्शन किया। इनमें से पहला पहली कोटि में और दूसरा दूसरी कोटि में गर्भित हो जाता है।

(९) असंदिग्ध—किसी व्यक्ति ने जिस पर्याय को भी जाना, उसे संदेह रहित होकर जाना। जैसे—'यह संतरे का रस है, यह गुलाब का फूल है अथवा आने वाला व्यक्ति मेरा भाई है।'

(१०) संदिग्ध—किसी वस्तु को संदिग्ध रूप से जानना। जैसे, कुछ अंधेरे में यह ठूँठ है या पुरुष ? यह धुंआ है या बादल ? यह पीतल है या सोना ? इस प्रकार संदेह बना रहना।

(११) ध्रुव—इन्द्रिय और मन को सही निमित्त मिलने पर विषय को नियम से जानना। किसी मशीन का कोई पुर्जा खराब हो तो उस विषय का विशेषज्ञ आकर खराब पुर्जे को अवश्यमेव पहचान लेगा। अपने विषय का गुण-दोष जान लेना उसके लिये अवश्यंभावी है।

(१२) अध्रुव—निमित्त मिलने पर भी कभी ज्ञान हो जाता है और कभी नहीं, कभी वह चिरकाल तक रहनेवाला होता है, कभी नहीं।

स्मरण रखना चाहिये कि बहु-बहुविध, क्षिप्र, अनिश्रित, असंदिग्ध और ध्रुव इनमें विशेष क्षयोपशम, उपयोग की एकाग्रता एवं अभ्यस्तता कारण हैं तथा अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निश्रित, संदिग्ध और अध्रुव ज्ञानों में क्षयोपशम की मन्दता, उपयोग की विक्षिप्तता, अनभ्यस्तता आदि कारण होते हैं।

किसी के चक्षुरिन्द्रिय की प्रबलता होती है तो वह किसी भी वस्तु को, शत्रु-मित्रादि को दूर से ही स्पष्ट देख लेता है। किसी के श्रोत्रेन्द्रिय की प्रबलता हो तो वह मन्दतम शब्द को भी आसानी से सुन लेता है। घ्राणेन्द्रिय जिसकी तीव्र हो, वह परोक्ष में रही हुई वस्तु को भी गंध के सहारे पहचान लेता है, जिस प्रकार अनेक कुत्ते वायु में रही हुई मन्दतम गंध से ही चोर-डाकुओं को पकड़वा देते हैं। मिट्टी को सूंघकर ही भूगर्भवेत्ता धातुओं की खानें खोज लेते हैं। चींटी आदि अनेक कीड़े-मकोड़े अपनी तीव्र घ्राणेन्द्रिय के द्वारा दूर रहे हुए खाद्य पदार्थों को ढूँढ लेते हैं। सूँघकर ही असली-नकली पदार्थों की पहचान की जाती है। व्यक्ति जिह्वा के द्वारा चखकर खाद्य-पदार्थों का मूल्यांकन करता है तथा उसमें रहे हुए गुण-दोषों को पहचान लेता है। नेत्र-हीन व्यक्ति लिखे हुए अक्षरों को अपनी तीव्र स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा स्पर्श करते हुए पढ़कर सुना देते हैं। इसी प्रकार नोइन्द्रिय अर्थात् मन की तीव्र शक्ति होने पर व्यक्ति प्रबल चिन्तन-मनन से भविष्य में घटने वाली घटनाओं के शुभाशुभ परिणाम को ज्ञात कर लेते हैं। ये सब ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्मों के विशिष्ट क्षयोपशम के अद्भुत फल हैं।

मतिज्ञान पाँच इन्द्रियों और छठे मन के माध्यम से उत्पन्न होता है। इन छहों को अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के साथ जोड़ने पर चौबीस भेद हो जाते हैं। चक्षु और मन को छोड़कर चार इन्द्रियों द्वारा व्यंजनावग्रह होता है, अतः चौबीस में इन चार भेदों को जोड़ने से मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद हो जाते हैं। तत्पश्चात् अट्ठाईस को बारह-बारह भेदों से गुणित करने पर तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं। मतिज्ञान के ये तीन सौ छत्तीस भेद भी सिर्फ स्थूल दृष्टि से समझने चाहिये, वैसे तो मतिज्ञान के अनन्त भेद हैं।

मतिज्ञान का विषय वर्णन

६५—तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ।

(१) तत्थ दव्वओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ, न पासइ।

(२) खेत्तओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वं खेत्तं जाणइ, न पासइ।

(३) कालओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वं कालं जाणइ, न पासइ।

(४) भावओ णं आभिणिबोहिअनाणी आएसेणं सव्वे भावे जाणइ, न पासइ।

६५—वह आभिनिवोधिक-मतिज्ञान संक्षेप में चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है। जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से।

(१) द्रव्य से मतिज्ञानी सामान्य प्रकार से सर्व द्रव्यों को जानता है, किन्तु देखता नहीं।

(२) क्षेत्र से मतिज्ञानी सामान्य रूप से सर्व क्षेत्र को जानता है, किन्तु देखता नहीं।

(३) काल से मतिज्ञानी सामान्यतः तीनों कालों को जानता है, किन्तु देखता नहीं।

(४) भाव से मतिज्ञान का धारक सामान्यतः सब भावों को जानता है, पर देखता नहीं।

विवेचन—इस सूत्र में मतिज्ञान के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से संक्षेप में चार भेद वर्णन किये गए हैं। जैसे—(१) द्रव्यतः—द्रव्य से आभिनिवोधिक ज्ञानी आदेश—सामान्य रूप से सभी द्रव्यों को जानता है, किन्तु देखता नहीं। यहाँ 'आदेश' शब्द का तात्पर्य है प्रकार। वह सामान्य और विशेष रूप, इन दो भेदों में विभाजित है, किन्तु यहाँ पर केवल सामान्यरूप ही ग्रहण करना चाहिये। अतः मतिज्ञानी सामान्य आदेश के द्वारा धर्मास्तिकायादि सर्व द्रव्यों को जानता है, किन्तु कुछ विशेषरूप से भी जानता है।

आदेश का एक अर्थ श्रुत भी होता है। इसके अनुसार शंका हो सकती है कि श्रुत के आदेश से द्रव्यों का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह तो श्रुतज्ञान हुआ, किन्तु यहाँ तो प्रकरण मतिज्ञान का है। इस शंका का निराकरण यह है कि श्रुतनिश्रित मति को भी मतिज्ञान बतलाया गया है। इस विषय में भाष्यकार कहते हैं—

"आदेसो त्ति व सुत्तं, सुओवलद्धेसु तस्स मइनाणं।
पसरइ तब्भावणया, विणा वि सुत्तानुसारेणं॥

अर्थात् श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थों में, तत्काल श्रुत का अनुसरण किये बिना, केवल उसकी वासना से मतिज्ञान होता है। अतएव उसे मतिज्ञान ही जानना चाहिए, श्रुतज्ञान नहीं।

सूत्रकार ने 'आएसेणं सव्वाइं दव्वाइं जाणइ न पासइ' इसमें 'न पासइ' पद दिया है, किन्तु व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में ऐसा पाठ है—

"दव्वओ णं आभिणिबोहियनाणी आएसेणं सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ।"

—भगवती सूत्र, श० ८, उ० २, सू० २२२

वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने इस विषय में कहा है कि 'मतिज्ञानी सर्व द्रव्यों को अवाय और धारणा की अपेक्षा से जानता है और अवग्रह तथा ईहा की अपेक्षा से देखता है, क्योंकि अवाय और धारणा ज्ञान के बोधक हैं तथा अवग्रह और ईहा, ये दोनों अपेक्षाकृत सामान्यबोधक होने से दर्शन के द्योतक हैं। अतः 'पासइ' पद ठीक ही है। किन्तु नन्दीसूत्र के वृत्तिकार लिखते हैं कि—'न पासइ' से यह अभिप्राय है कि धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के सर्व पर्याय आदि को नहीं देखता। वास्तव में दोनों ही अर्थ संगत हैं।

क्षेत्रत:—मतिज्ञानी आदेश से सभी लोकालोक क्षेत्र को जानता है, किन्तु देखता नहीं।

कालत:—मतिज्ञानी आदेश से सभी काल को जानता है, किन्तु देखता नहीं।

भावत:—आभिनिबोधिकज्ञानी आदेश से सभी भावों को जानता है, किन्तु देखता नहीं।

आभिनिबोधिक ज्ञान का उपसंहार

६६—उग्गह ईहाऽवाओ य, धारणा एव हुंति चत्तारि।
आभिणिबोहियनाणस्स, भेयवत्थू समासेणं॥

६६—आभिनिबोधिक-मतिज्ञान के संक्षेप में अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा क्रम से ये चार भेदवस्तु—विकल्प होते हैं।

६७—अत्थाणं उग्गहणम्मि, उग्गहो तह वियालणे ईहा।
ववसायम्मि अवाओ, धरणं पुण धारणं बिंति॥

६७—अर्थों के अवग्रहण को अवग्रह, अर्थों के पर्यालोचन को ईहा, अर्थों के निर्णयात्मक ज्ञान को अवाय और उपयोग की अविच्युति, वासना तथा स्मृति को धारणा कहते हैं।

६८—उग्गह इक्कं समयं, ईहावाया मुहूत्तमद्धं तु।
कालमसंखं संखं च, धारणा होइ नायव्वा॥

६८—अवग्रह अर्थात् नैश्चयिक अवग्रह ज्ञान का काल एक समय, ईहा और अवायज्ञान का समय अर्द्धमुहूर्त्त (अन्तर्मुहूर्त्त) तथा धारणा का काल-परिमाण संख्यात व असंख्यात काल पर्यन्त समझना चाहिए।

६९—पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं च, बद्ध पुट्ठं वियागरे॥

६९—श्रोत्रेन्द्रिय के साथ स्पृष्ट होने पर ही शब्द सुना जाता है, किन्तु नेत्र रूप को विना स्पृष्ट हुए ही देखते हैं। यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग एवकार के अर्थ में है, इससे चक्षुरिन्द्रिय को

अप्राप्यकारी सिद्ध किया गया है। घ्राण, रसन और स्पर्शन इन्द्रियों से बद्धस्पृष्ट हुआ—प्रगाढ सम्बन्ध को प्राप्त पुद्‌गल अर्थात् गन्ध, रस और स्पर्श जाने जाते हैं।

७०—भासा-समसेढीओ, सद्दं जं सुणइ मीसियं सुणइ।
वीसेणी पुण सद्दं, सुणेइ नियमा पराघाए।।

७०—वक्ता द्वारा छोड़े गए जिन भाषारूप पुद्‌गल-समूह को समश्रेणि में स्थित श्रोता सुनता है, उन्हें नियम से अन्य शब्द द्रव्यों से मिश्रित ही सुनता है। विश्रेणि में स्थित श्रोता शब्द को नियम से पराघात होने पर ही सुनता है।

विवेचन—वक्ता काययोग से भाषावर्गणा के पुद्‌गलों को ग्रहण करके, उन्हें वचनरूप में परिणत करके वचनयोग से छोड़ता है। प्रथम समय में गृहीत पुद्‌गल दूसरे समय में और दूसरे समय में गृहीत तीसरे समय में छोड़े जाते हैं।

वक्ता द्वारा छोड़े गए शब्द उसकी सभी दिशाओं में विद्यमान श्रेणियों—आकाश की प्रदेश-पंक्तियों में अग्रसर होते हैं, क्योंकि श्रेणी के अनुसार ही उनकी गति होती है, विश्रेणि में गति नहीं होती।

जब वक्ता बोलता है तो समश्रेणि में गमन करते हुए उसके द्वारा मुक्त शब्द, उसी श्रेणि में पहले से विद्यमान भाषाद्रव्यों को अपने रूप में—शब्द रूप में—परिणत कर लेते हैं। इस प्रकार वे दोनों प्रकार के शब्द मिश्रित हो जाते हैं। उन मिश्रित शब्दों को ही समश्रेणी में स्थित श्रोता ग्रहण करता है। कोरे वक्ता द्वारा छोड़े गए शब्द-परिणत पुद्‌गलों को कोई भी श्रोता ग्रहण नहीं करता।

यह समश्रेणि में स्थित श्रोता की बात हुई। मगर विश्रेणि में अर्थात् वक्ता द्वारा मुक्त शब्द द्रव्य जिस श्रेणि में गमन कर रहे हों, उससे भिन्न श्रेणि में स्थित श्रोता किस प्रकार के शब्दों को सुनता है? क्योंकि वक्ता द्वारा निसृष्ट शब्द विश्रेणि में जा नहीं सकते।

इस शंका का समाधान गाथा के उत्तरार्ध में किया गया है। वह यह है कि विश्रेणि में स्थित श्रोता, न तो वक्ता द्वारा निसृष्ट शब्दों को सुनता है, न मिश्रित शब्दों को ही। वह वासित शब्दों को ही सुनता है। इसका तात्पर्य यह है कि वक्ता द्वारा निसृष्ट शब्द, दूसरे भाषाद्रव्यों को शब्दरूप में वासित करते हैं, और वे वासित शब्द, विभिन्न समश्रेणियों में जाकर वक्ता को सुनाई देते हैं।

७१—ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा।
सन्ना-सई-मई-पन्ना, सव्वं आभिणिबोहियं।।
से त्तं आभिणिबोहियनाणपरोक्खं, से त्तं मइनाणं।।

७१—ईहा—सदर्थपर्यालोचनरूप, अपोह-निश्चयात्मक ज्ञान, विमर्श, मार्गणा—अन्वयधर्म-विधान रूप, और गवेषणा—व्यतिरेक धर्मनिराकरणरूप तथा संज्ञा, स्मृति, मति और प्रज्ञा, ये सब आभिनिवोधिक-मतिज्ञान के पर्यायवाची नाम हैं। यह आभिनिवोधिक ज्ञान-परोक्ष का विवरण पूर्ण हुआ। इस प्रकार मतिज्ञान का विवरण सम्पूर्ण हुआ।

विवेचन—इन्द्रियों की उत्कृष्ट शक्ति—श्रोत्रेन्द्रिय की उत्कृष्ट शक्ति है बारह योजन से आए हुए शब्द को सुन लेना। नौ योजन से आए हुए गन्ध, रस और स्पर्श के पुद्गलों को ग्रहण करने की उत्कृष्ट शक्ति घ्राण, रसना एवं स्पर्शन इन्द्रियों में होती है। चक्षुरिन्द्रिय की शक्ति रूप को ग्रहण करने की लाख योजन से कुछ अधिक है। यह कथन अभास्वर द्रव्य की अपेक्षा से है किन्तु भास्वर द्रव्य तो इक्कीस लाख योजन की दूरी से भी देखा जा सकता है। जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण कर सकती हैं।

मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्द निम्नलिखित हैं—

(१) ईहा—सदर्थ का पर्यालोचन।
(२) अपोह—निश्चय करना।
(३) विमर्श—ईहा और अवाय के मध्य में होने वाली विचारधारा।
(४) मार्गणा—अन्वय धर्मों का अन्वेषण करना।
(५) गवेषणा—व्यतिरेक धर्मों से व्यावृत्ति करना।
(६) संज्ञा—अतीत में अनुभव की हुई और वर्त्तमान में अनुभव की जानेवाली वस्तु की एकता का अनुसंधान ज्ञान।
(७) स्मृति—अतीत में अनुभव की हुई वस्तु का स्मरण करना।
(८) मति—जो ज्ञान वर्तमान विषय का ग्राहक हो।
(९) प्रज्ञा—विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न यथावस्थित वस्तुगत धर्म का पर्यालोचन करना।
(१०) बुद्धि—अवाय का अंतिम परिणाम।

ये सब आभिनिबोधिक ज्ञान में समाविष्ट हो जाते हैं। जातिस्मरण ज्ञान के द्वारा भी, जो कि मतिज्ञान की ही एक पर्याय है, उत्कृष्ट नौ सौ संज्ञी के रूप में हुए अपने भव जाने जा सकते हैं। जब मतिज्ञान की पूर्णता हो जाती है, तब वह नियमेन अप्रतिपाती हो जाता है। उसके होने पर केवलज्ञान होना निश्चित है। किन्तु जघन्य-मध्यम मतिज्ञानी को केवलज्ञान हो सकता है और नहीं भी हो सकता है।

इस प्रकार मतिज्ञान का विषय सम्पूर्ण हुआ।

श्रुतज्ञान

७२—से किं तं सुयनाणपरोक्खं ?

सुयनाणपरोक्खं चोद्दसविहं पन्नत्तं, तं जहा—(१) अक्खरसुयं (२) अणक्खर-सुयं (३) सण्णि-सुयं (४) असण्णि-सुयं (५) सम्मसुयं (६) मिच्छसुयं (७) साइयं (८) अणाइयं (९) सपज्ज-वसियं (१०) अपज्जवसियं (११) गमियं (१२) अगमियं (१३) अंगपविट्ठं (१४) अणंगपविट्ठं ।

७२—प्रश्न—श्रुतज्ञान-परोक्ष कितने प्रकार का है ?

उत्तर—श्रुतज्ञान-परोक्ष चौदह प्रकार का है। जैसे (१) अक्षरश्रुत (२) अनक्षरश्रुत (३) संज्ञिश्रुत (४) असंज्ञिश्रुत (५) सम्यक्श्रुत (६) मिथ्याश्रुत (७) सादिकश्रुत (८) अनादिकश्रुत (९) सपर्यवसितश्रुत (१०) अपर्यवसितश्रुत (११) गमिकश्रुत (१२) अगमिकश्रुत (१३) अङ्गप्रविष्ट-श्रुत (१४) अनङ्गप्रविष्टश्रुत ।

विवेचन—श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान की तरह परोक्ष है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है इसीलिए सूत्रकार ने मतिज्ञान के पश्चात् श्रुतज्ञान का वर्णन किया है। उल्लिखित सूत्र में श्रुतज्ञान के चौदह भेदों का नामोल्लेख किया गया है। इन सभी की व्याख्या सूत्रकार क्रमशः आगे करेंगे।

यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि जब अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत में शेष सभी भेदों का समावेश हो जाता है तो फिर बारह भेदों का उल्लेख क्यों किया गया है ?

इस शंका का समाधन इस प्रकार है—जिज्ञासु मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—व्युत्पन्नमतिवाले और अव्युत्पन्नमतिवाले। अव्युत्पन्नमतियुक्त व्यक्तियों के विशिष्ट वोध हेतु बारह भेदों का निरूपण किया गया है, क्योंकि वे अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत, इन दो के द्वारा समग्र श्रुत का ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। सूत्रकार ने उनकी अनुकम्पा के लिये शेष भेदों का उल्लेख किया है।

अक्षरश्रुत

७३—से किं तं अक्खरसुअं ?

अक्षरसुअं तिविहं पन्नत्तं, तं जहा—(१) सन्नक्खरं (२) वंजणक्खरं (३) लद्धिअक्खरं ।

(१) से किं तं सन्नक्खरं ? अक्खरस्स संठाणागिई, से त्तं सन्नक्खरं ।

(२) से किं तं वंजणक्खरं ? वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाभिलावो, से त्तं वंजणक्खरं ।

(३) से किं तं लद्धिअक्खरं ? लद्धि-अक्खरं अक्खर-लद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ, तं जहा-सोइन्दिय-लद्धि-अक्खरं, चक्खिदिय-लद्धि-अक्खरं, घाणिंदिय-लद्धि-अक्खरं, रसणिंदिय-लद्धि-अक्खरं, नोइंदिय-लद्धि-अक्खरं ।

से त्तं लद्धि-अक्खरं, से त्तं अक्खरसुअं ।

७३—अक्षरश्रुत कितने प्रकार का है।

अक्षरश्रुत तीन प्रकार से वर्णित किया गया है, जैसे—(१) संज्ञा-अक्षर (२) व्यञ्जन-अक्षर और (३) लब्धि-अक्षर।

(१) संज्ञा-अक्षर किस तरह का है? अक्षर का संस्थान या आकृति आदि, जो विभिन्न लिपियों में लिखे जाते हैं, वे संज्ञा-अक्षर कहलाते हैं।

(२) व्यञ्जन—अक्षर क्या है? उच्चारण किए जाने वाले अक्षर व्यंजन-अक्षर कहे जाते हैं।

(३) लब्धि-अक्षर क्या है? अक्षर-लब्धि वाले जीव को लब्धि-अक्षर उत्पन्न होता है अर्थात् भावरूप श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे—श्रोत्रेन्द्रियलब्धि-अक्षर, चक्षुरिन्द्रियलब्धि-अक्षर, घ्राणेन्द्रिय-लब्धि-अक्षर, रसनेन्द्रियलब्धि-अक्षर, स्पर्शनेन्द्रियलब्धि-अक्षर, नोइन्द्रियलब्धि-अक्षर। यह लब्धि-अक्षरश्रुत है। इस प्रकार अक्षरश्रुत का वर्णन है।

अनक्षरश्रुत

७४—से किं तं अणक्खर-सुअं? अणक्खर-सुअं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च।
निस्सिघियमणुसारं, अणक्खरं छेलिआईअं॥

से त्तं अणक्खरसुअं। ॥ सूत्र ३९॥

७४—अनक्षरश्रुत कितने प्रकार का है? अनक्षरश्रुत अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे, ऊपर को श्वास लेना, नीचे श्वास लेना, थूकना, खाँसना, छींकना, निःसिंघना (नाक साफ करना) तथा अन्य अनुस्वार युक्त चेष्टा करना आदि। यह सभी अनक्षरश्रुत है।

विवेचन—अक्षरश्रुतः—सूत्र में अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत का वर्णन किया गया है। क्षर 'संचलने' धातु से अक्षर शब्द बनता है। यथा—न क्षरति—न चलति—इत्यक्षरम्—अर्थात् अक्षर का अर्थ ज्ञान है, ज्ञान जीव का स्वभाव है। द्रव्य अपने स्वभाव में स्थिर रहता है। जीव भी एक द्रव्य है, उसमें जो स्वभाव-गुण हैं वे अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाये जाते और अन्य द्रव्यों में जो गुण-स्वभाव हैं वे जीव में नहीं पाये जाते। आत्मा से ज्ञान कभी नहीं हटता, सुषुप्ति अवस्था में भी जीव का स्वभाव होने के कारण ज्ञान बना रहता है।

यहाँ भावाक्षर का कारण होने से लिखित एवं उच्चारित 'अकार' आदि को भी उपचार से 'अक्षर' कहा गया है। अक्षरश्रुत, भावश्रुत का कारण है। भावश्रुत को लब्धि-अक्षर भी कहते हैं। संज्ञाक्षर और व्यंजनाक्षर ये दोनों द्रव्यश्रुत में अन्तर्निहित हैं। इसीलिए अक्षरश्रुत के तीन भेद किये गये हैं, संज्ञाक्षर, व्यंजनाक्षर तथा लब्ध्यक्षर।

(१) संज्ञाक्षर—अक्षर की आकृति, बनावट या संस्थान को, संज्ञाक्षर कहते हैं। उदाहरण स्वरूप—अ, आ, इ, ई, अथवा A. B. C. D. आदि लिपियाँ। अन्य भाषाओं की भी जितनी लिपियाँ हैं, उनके अक्षर भी संज्ञाक्षर समझना चाहिये।

(२) व्यंजनाक्षर—व्यंजनाक्षर वे कहलाते हैं, जो अकार, इकार आदि अक्षर बोले जाते हैं। विश्व में जितनी भाषाएँ बोली जाती हैं, उनके उच्चारणरूप अक्षर व्यंजनाक्षर कहलाते हैं। जैसे दीपक के द्वारा प्रत्येक वस्तु प्रकाशित होकर दिखाई देने लगती है, उसी प्रकार व्यंजनाक्षरों के द्वारा अर्थ समझ में आता है। जिस-जिस अक्षर की जो-जो संज्ञा होती है, उनका उच्चारण भी तदनुकूल हो, तभी वे द्रव्याक्षर, भावश्रुत के कारण बन सकते हैं। अक्षरों के सही मेल से शब्द बनता है, पद और वाक्य बनते हैं जिनके संकलन से बड़े-बड़े ग्रन्थ तैयार होते हैं।

(३) लब्ध्यक्षर—शब्द को सुनकर अर्थ का अनुभवपूर्वक पर्यालोचन करना लब्धिअक्षर कहलाता है। यही भावश्रुत है, क्योंकि अक्षर के उच्चारण से जो उसके अर्थ का बोध होता है, उससे ही भावश्रुत उत्पन्न होता है। कहा भी है—

"शब्दादिग्रहणसमनन्तरमिन्द्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारि शांखोऽयमित्यक्षरानुविद्धं ज्ञानमुपजायते इत्यर्थः।"

अर्थात्—शब्द ग्रहण होने के पश्चात् इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो शब्दार्थ पर्यालोचनानुसारी ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को लब्ध्यक्षर कहते हैं।"

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि उपर्युक्त लक्षण संज्ञी जीवों में घटित हो सकता है किन्तु विकलेन्द्रिय एवं असंज्ञी जीवों में अकारादि वर्णों को सुनने की और उच्चारण कर सकने की शक्ति का अभाव है। उन जीवों के लब्धिअक्षर कैसे संभव हो सकता है?

उत्तर यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय का अभाव होने पर भी तथाविध क्षयोपशम उन जीवों में अवश्य होता है। इसीलिये उनको अव्यक्त भावश्रुत प्राप्त होता है। उन जीवों में, आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा होती हैं। संज्ञा अभिलाषा को कहते हैं, अभिलाषा ही प्रार्थना है। भय दूर हो जाय, यह प्राप्त हो जाय, इस प्रकार की चाह अथवा इच्छा अक्षरानुसारी होने से उनको भी नियम से लब्धिअक्षर होता है। वह छः प्रकार का है।

(१) जीवशब्द, अजीवशब्द या मिश्रशब्द सुनकर कहने वाले के भाव को समझ लेना तथा गर्जना करने से, हिनहिनाने से अथवा भोंकने आदि के शब्दों से तिर्यंच जीवों के भावों को समझ लेना श्रोत्रेन्द्रिय लब्ध्यक्षर है।

(२) पत्र, पत्रिका और पुस्तक आदि पढ़कर तथा औरों के संकेत व इशारे देखकर उनके अभिप्राय को जान लेना चक्षुरिन्द्रिय-लब्ध्यक्षर कहलाता है, क्योंकि देखकर उसके उत्तर के लिये, उसकी प्राप्ति के लिए अथवा उसे दूर करने के लिये जो भाव होते हैं वे अक्षररूप होते हैं।

(३) विभिन्न जाति के फल-फूलों की सुगंध, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष की गंध अथवा भक्ष्याभक्ष्य पदार्थों की गंध को सूंघकर जान लेना घ्राणेन्द्रिय लब्धि-अक्षर है।

(४) किसी भी खाद्य पदार्थ को चखकर उसके खट्टे, मीठे, तीखे अथवा चरपरे रस से पदार्थ का ज्ञान कर लेना जिह्वेन्द्रिय लब्ध्यक्षर कहलाता है।

(५) स्पर्श के द्वारा शीत, उष्ण, हलके, भारी, कठोर अथवा कोमल वस्तुओं की पहचान कर लेना तथा प्रज्ञाचक्षु होने पर भी स्पर्श से अक्षर पहचान कर भाव समझ लेना स्पर्शेन्द्रिय लब्ध्यक्षर कहलाता है।

(६) जीव जिस वस्तु का चिन्तन करता है, उसकी अक्षर रूप में शव्दावलि अथवा वाक्यावलि बन जाती है यथा—अमुक वस्तु मुझे प्राप्त हो जाए, मेरा मित्र मुझे मिल जाय आदि आदि। यह नोइन्द्रिय अथवा मनोजन्य लब्ध्यक्षर कहलाता है।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि जव पांच इन्द्रियों और मन, इन छहों निमित्तों में से किसी भी निमित्त से मतिज्ञान भी पैदा होता है और श्रुतज्ञान भी, तब उस ज्ञान को मतिज्ञान कहा जाय या श्रुतज्ञान ?

उत्तर इस प्रकार है—मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य। मतिज्ञान सामान्य है जवकि श्रुतज्ञान विशेष, मतिज्ञान मूक है और श्रुतज्ञान मुखर, मतिज्ञान अनक्षर है और श्रुतज्ञान अक्षरपरिणत होता है। जव इन्द्रिय एवं मन से अनुभूति रूप ज्ञान होता है, तब वह मतिज्ञान कहलाता है और जव वह अक्षर रूप में स्वयं अनुभव करता है या दूसरे को अपना अभिप्राय किसी प्रकार की चेष्टा से वताता है, तब वह अनुभव और चेष्टा आदि श्रुतज्ञान कहा जाता है। ये दोनों ही ज्ञान सहचारी हैं। जीव का स्वभाव ऐसा है कि उसका उपयोग एक समय में एक ओर ही लग सकता है, एक साथ दोनों ओर नहीं।

अनक्षर श्रुतः—जो शब्द अभिप्राययुक्त एवं वर्णात्मक न हों, केवल ध्वनिमय हों, वह अनक्षरश्रुत कहलाते हैं। व्यक्ति दूसरे को अपनी कोई विशेष बात समझाने के लिये इच्छापूर्वक संकेत सहित अनक्षर शब्द करता है, वह अनक्षरश्रुत होता है। जैसे लंबे-लंबे श्वास लेना और छोड़ना, छींकना, खाँसना, हुंकार करना तथा सीटी, घंटी, बिगुल आदि बजाना। बुद्धिपूर्वक दूसरों को चेतावनी देने के लिए, हित-अहित जताने के लिये, प्रेम, द्वेष अथवा भय प्रदर्शित करने के लिये या अपने आने-जाने की सूचना देने के लिये जो भी शब्द या संकेत किये जाते हैं वे सब अनक्षरश्रुत में आते हैं। विना प्रयोजन किया हुआ शब्द अनक्षर श्रुत नहीं होता। उक्त ध्वनियों को भावश्रुत का कारण होने से द्रव्यश्रुत कहा जाता है।

संज्ञि-असंज्ञिश्रुत

७५—से किं तं सण्णिसुअं ?

सण्णिसुअं तिविहं पण्णत्तं, तं जहा—कालिओवएसेण हेऊवएसेणं दिट्ठिवाओवएसेणं।

से किं तं कालिओवएसेणं ?

कालिओवएसेणं—जस्स णं अत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, वीमंसा, से णं सण्णीति लब्भइ। जस्स णं नत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिंता, वीमंसा, से णं असण्णीति लब्भइ, से त्तं कालिओवएसेणं।

से किं तं हेऊवएसेणं ?

हेऊवएसेणं—जस्स णं अत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती, से णं सण्णीत्ति लब्भइ। जस्स णं नत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती, से णं असण्णीत्ति लब्भइ। से त्तं हेऊवएसेणं।

से किं तं दिट्ठिवाओवएसेणं ?

दिट्ठिवाओवएसेणं सण्णिसुअस्स खओवसमेणं सण्णी लब्भइ। असण्णिसुअस्स खओवसमेणं असण्णी लब्भइ। से त्तं दिट्ठिवाओवएसेणं, से त्तं सण्णिसुअं, से त्तं असण्णिसुअं। ॥ सूत्र ४० ॥

७५—संज्ञिश्रुत कितने प्रकार का है?

संज्ञिश्रुत तीन प्रकार का है। यथा—(१) कालिकी-उपदेश से (२) हेतु-उपदेश से और (३) दृष्टिवाद-उपदेश से।

(१) कालिकी-उपदेश से संज्ञिश्रुत किस प्रकार का है?

कालिकी-उपदेश से जिसे ईहा, अपोह, निश्चय, मार्गणा—अन्वय-धर्मान्वेषण, गवेषणा—व्यतिरेक-धर्मनिरास-पर्यालोचन, चिन्ता—'कैसे होगा?' इस प्रकार पर्यालोचन, विमर्श—अमुक वस्तु इस प्रकार संघटित होती है, ऐसा विचार करना। उक्त प्रकार से जिस प्राणी की विचारधारा हो, वह संज्ञी कहलाता है। जिसके ईहा, अपाय, मार्गणा, गवेषणा, चिंता और विमर्श नहीं हों, वह असंज्ञी होता है। संज्ञी जीव का श्रुत संज्ञी-श्रुत और असंज्ञी का असंज्ञी-श्रुत कहलाता है। यह कालिकी-उपदेश से संज्ञी एवं असंज्ञीश्रुत है।

(२) हेतु-उपदेश से संज्ञिश्रुत किस प्रकार का है?

हेतु-उपदेश से जिस जीव की अव्यक्त या व्यक्त विज्ञान के द्वारा आलोचना पूर्वक क्रिया करने की शक्ति-प्रवृत्ति है, वह संज्ञी कहा जाता है। इसके विपरीत जिस प्राणी की अभिसंधारण-पूर्विका करण-शक्ति अर्थात् विचारपूर्वक क्रिया करने में प्रवृत्ति नहीं है, वह असंज्ञी होता है।

(३) दृष्टिवाद-उपदेश से संज्ञिश्रुत किस प्रकार है?

दृष्टिवाद-उपदेश की अपेक्षा से संज्ञिश्रुत के क्षयोपशम से संज्ञी कहा जाता है। असंज्ञिश्रुत के क्षयोपशम से 'असंज्ञी' ऐसा कहा जाता है। यह दृष्टिवादोपदेश से संज्ञी है। इस प्रकार संज्ञिश्रुत और असंज्ञिश्रुत का कथन हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में संज्ञिश्रुत और असंज्ञिश्रुत की परिभाषा बतलाई गई है। जिसके संज्ञा हो, वह संज्ञी और जिसके संज्ञा न हो, वह असंज्ञी कहलाता है। दोनों ही तीन-तीन प्रकार से होते हैं—दीर्घकालिकी उपदेश से, हेतु-उपदेश से और दृष्टिवाद-उपदेश से।

दीर्घकालिकी-उपदेश—जिसके सम्यक् अर्थ को विचारने की बुद्धि, अर्थात् ईहा है, अपोह—निश्चयात्मक विचारणा है, जो मार्गणा यानी अन्वय-धर्मान्वेषण करे, गवेषणा अर्थात् व्यतिरेक धर्म अर्थात् वस्तु में अविद्यमान धर्मों के निषेध का पर्यालोचन करे तथा भूत, भविष्य और वर्तमान के लिये अमुक कार्य कैसे हुआ, होगा या हो रहा है, इस प्रकार चिन्तन करे और इस प्रकार विचार-विमर्श आदि के द्वारा जो वस्तु तत्त्व को भलीभांति जाने वह संज्ञी है। गर्भज प्राणी, औपपातिक देव और नारक जीव, ये सब मनःपर्याप्ति से सम्पन्न, संज्ञी कहलाते हैं। क्योंकि त्रिकालविषयक चिन्ता तथा विचार-विमर्श आदि उन्हीं को संभव है। भाष्यकार का अभिमत भी इसी मान्यता को पुष्ट करता है:—

"इह दीहकालिगी कालीगित्ति, सण्णा जया सुदीहं पि।
संभरइ भूयमेस्सं चिंतेइ य, किण्णु कायव्वं? ॥

कालिय सन्निति तस्रो जस्स मई, सो य तो मणोजोग्गे ।
खंघेऽणंते घेत्तुं मन्नइ तल्लद्धिसंपत्तो ।।"

उक्त पदों की व्याख्या ऊपर दी जा चुकी है। जैसे नेत्रों में ज्योति होने पर प्रदीप के प्रकाश से वस्तु तत्त्व की स्पष्ट जानकारी हो जाती है, उसी प्रकार मनोलब्धि-सम्पन्न प्राणी मनोद्रव्य के आधार से विचार-विमर्श आदि के द्वारा आगे-पीछे की बात को भली-भांति जान लेने के कारण संज्ञी कहलाता है। किन्तु जिसे मनोलब्धि प्राप्त नहीं है, वह असंज्ञी होता है। असंज्ञी जीवों में संमूर्छिम पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय द्वीन्द्रिय, और एकेन्द्रिय, सभी का अन्तर्भाव हो जाता है।

यहाँ शंका की जा सकती है कि सूत्र में जब 'कालिकी उपदेश' का उल्लेख किया गया है, तब दीर्घकालिकी उपदेश कैसे बताया गया है?

उत्तर में कहा जाता है कि यहाँ 'कालिकी' का आशय दीर्घकालिकी ही समझना चाहिए। भाष्यकार ने भी दीर्घकालिकी अर्थ कहा है और वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण करते हुए बताया है—

"तत्र कालिक्युपदेशेनेत्यत्रादिपदलोपाद्दीर्घकालिक्युपदेशेनेति द्रष्टव्यम् ।"

अर्थात् 'कालिकी' पद में आदि के 'दीर्घ' शब्द का लोप हो गया है।

जिस प्रकार मनोलब्धि स्वल्प, स्वल्पतर और स्वल्पतम होती है, उसी प्रकार अस्पष्ट, अस्पष्टतर और अस्पष्टतम अर्थ की ज्ञप्ति होती है। उसी प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय से संमूर्छिम पंचेन्द्रिय में अस्पष्ट ज्ञान होता है, चतुरिन्द्रिय में उससे न्यून, त्रीन्द्रिय में और भी न्यून तथा द्वीन्द्रिय में अस्पष्टतर होता है। एकेन्द्रिय में अस्पष्टतम होता है। असंज्ञी जीव होने से इनका श्रुत असंज्ञीश्रुत कहलाता है।

हेतु-उपदेश—जिसकी बुद्धि अपने शरीर के पोषण के लिए उपयुक्त आहार में प्रवृत्त तथा अनुपयुक्त आहार आदि से निवृत्त है, उसे हेतु-उपदेश से संज्ञी कहा जाता है। इस दृष्टि से चार त्रस संज्ञी हैं और पाँच स्थावर असंज्ञी। उदाहरण स्वरूप—मधुमक्खी इधर-उधर से मकरंद-पान करके पुनः अपने स्थान पर आ जाती है। मच्छर आदि निशाचर दिन में छिपे रहकर रात्रि को बाहर निकलते हैं तथा मक्खियाँ शाम को किसी सुरक्षित स्थान में बैठ जाती हैं। वे सर्दी-गरमी से बचने के लिए धूप से छाया में और छाया से धूप में आते जाते हैं तथा दुःख से बचने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये ये सब संज्ञी कहलाते हैं। किन्तु जिन जीवों की इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होती वे असंज्ञी होते हैं। जैसे—वृक्ष, लता आदि पाँच स्थावर। दूसरे शब्दों में हेतु-उपदेश की अपेक्षा पाँच स्थावर असंज्ञी होते हैं शेष सब संज्ञी। कहा भी है :—

कृमिकीटपंतगाद्याः, समनस्काः जंगमाश्चतुर्भेदाः ।
अमनस्काः पंचविधाः, पृथिवीकायादयो जीवाः ।।

इस कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ईहा आदि चेष्टाओं से युक्त कृमि, कीट पतंगादि त्रस जीव संज्ञी हैं, तथा पृथ्वीकायादि पाँच स्थावर जीव असंज्ञी।

दृष्टिवादोपदेश—दृष्टि दर्शन को कहते हैं तथा सम्यक्ज्ञान का नाम संज्ञा है। ऐसी संज्ञा से युक्त जीव संज्ञी कहलाता है।

"संज्ञानं संज्ञा—सम्यग्ज्ञानं, तदस्यास्तीति संज्ञी-सम्यग्दृष्टिस्तस्य यच्छ्रुतं, तत्संज्ञिश्रुतं सम्यक्श्रुतमिति।"

सम्यक्दृष्टि जीव दृष्टिवादोपदेश से संज्ञी कहलाता है। वस्तुतः यथार्थ रूप से हिताहित में प्रवृत्ति-निवृत्ति सम्यक्दर्शन के बिना नहीं हो सकती। संज्ञी जीव ही यथायोग्य राग आदि भाव-शत्रुओं को जीतने में प्रयत्नशील और कालान्तर में समर्थ बनता है। कहा भी है :—

"तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणाः।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम्॥

अर्थात् वह ज्ञान ही नहीं है, जिसके प्रकाशित होने पर भी राग-द्वेष, काम-क्रोध, मद-लोभ एवं मोहादि विभाव ठहर सकें। भला सूर्य के उदय होने पर क्या अंधकार ठहर सकता है? कदापि नहीं।

इस अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि असंज्ञी कहलाते हैं। इस प्रकार दृष्टिवादोपदेश की अपेक्षा से संज्ञी और असंज्ञी श्रुत का प्रतिपादन किया गया है।

सम्यक्श्रुत

७६—से किं तं सम्मसुअं?

सम्मसुअं जं इमं अरहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णनाणदंसणधरेहिं, तेलुक्क-निरिक्खिअ-महिअ-पूइएहिं, तीय-पडुप्पण्ण-मणागयजाणएहिं, सव्वण्णूहिं, सव्वदरिसीहिं, पणीअं दुवालसंगं गणि-पिडगं, तं जहा—

(१) आयारो (२) सूयगडो (३) ठाणं (४) समवाओ (५) विवाहपण्णत्ती (६) नाया-धम्मकहाओ (७) उवासगदसाओ, (८) अंतगडदसाओ (९) अणुत्तरोववाइयदसाओ (१०) पण्हा-वागरणाइं, (११) विवागसुअं (१२) दिट्ठिवाओ, इच्चेअं दुवालसंगं गणिपिडगं—चोद्दसपुव्विस्स सम्मसुअं, अभिण्णदसपुव्विस्स सम्मसुअं, तेण परं भिण्णेसु भयणा। से त्तं सम्मसुअं। ॥ सूत्र० ४१ ॥

७६—सम्यक्श्रुत किसे कहते हैं?

सम्यक्श्रुत उत्पन्न ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले, त्रिलोकवर्त्ती जीवों द्वारा आदर-सन्मानपूर्वक देखे गये तथा यथावस्थित उत्कीर्तित, भावयुक्त नमस्कृत, अतीत, वर्तमान और अनागत को जाननेवाले, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी अर्हंत-तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा प्रणीत-अर्थ से कथन किया हुआ—जो यह द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक है, जैसे—

(१) आचाराङ्ग (२) सूत्रकृताङ्ग (३) स्थानाङ्ग (४) समवायाङ्ग (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति (६) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग (७) उपासकदशाङ्ग (८) अन्तकृद्दशाङ्ग (९) अनुत्तरौपपातिकदशाङ्ग (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाकश्रुत और (१२) दृष्टिवाद, यह सम्यक्श्रुत है।

यह द्वादशाङ्ग गणिपिटक चौदह पूर्वधारी का सम्यक्श्रुत ही होता है। सम्पूर्ण दस पूर्वधारी का भी सम्यक्श्रुत ही होता है। उससे कम अर्थात् कुछ कम दस पूर्व और नव आदि पूर्व का ज्ञान होने पर विकल्प है, अर्थात् सम्यक्श्रुत हो और न भी हो। इस प्रकार यह सम्यक्श्रुत का वर्णन पूरा हुआ।

विवेचन—इस सूत्र में सम्यक्श्रुत का वर्णन किया गया है। सम्यक्श्रुत के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं। जैसे—

(१) सम्यक्श्रुत के प्रणेता कौन हो सकते हैं?

(२) सम्यक्श्रुत किसको कहते हैं?

(३) गणिपिटक का क्या अर्थ है? तथा

(४) आप्त किसे कहते हैं?

इन सबका उत्तर विवेचन सहित क्रमशः दिया जाएगा।

सम्यक्श्रुत के प्रणेता देवाधिदेव अरिहन्त प्रभु हैं। अरिहन्त शब्द गुण का वाचक है, व्यक्ति-वाचक नहीं। नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेप यहाँ अभिप्रेत नहीं है। अर्थात् यदि किसी का नाम अरिहन्त है तो उसका यहाँ प्रयोजन नहीं है, अरिहन्त के चित्र या प्रतिमा आदि स्थापना निक्षेप का भी नहीं, और भविष्य में अरिहन्त पद प्राप्त करने वाले जीवों से या जिन अरिहन्तों ने सिद्ध पद प्राप्त कर लिया है, ऐसे परित्यक्तशरीर जो द्रव्य निक्षेप के अन्तर्गत आते हैं, उनका भी प्रयोजन यहाँ नहीं है, क्योंकि वे भी सम्यक्श्रुत के प्रणेता नहीं हो सकते। केवल भावनिक्षेप से जो अरिहन्त हैं, वे ही सम्यक्श्रुत के प्रणेता होते हैं। भाव अरिहन्तों के लिए सूत्रकार ने सात विशेषण बताए हैं, यथा—

(१) अरिहन्तेहिं—जो राग, द्वेष, विषयकषायादि अठारह दोषों से रहित और चार घनघाति कर्मों का नाश कर चुके हैं, ऐसे उत्तम पुरुष भाव अरिहन्त कहलाते हैं। भाव तीर्थंकर इन विशेषताओं से सम्पन्न होते हैं।

(२) भगवन्तेहिं—जिस लोकोत्तर महान् आत्मा में सम्पूर्ण ऐश्वर्य, असीम उत्साह और शक्ति, त्रिलोकव्यापी यश, अद्वितीय श्री, रूप-सौन्दर्य, सोलहों कलाओं से पूर्ण धर्म, विश्व के समस्त उत्तमोत्तम गुण तथा आत्मशुद्धि के लिए अथक श्रम हो, उसे ही वस्तुतः भगवान् कहा जा सकता है।

शंका हो सकती है कि—'भगवन्त' शब्द सिद्धों के लिये भी प्रयुक्त होता है तो क्या वे भी सम्यक्श्रुत के प्रणेता हो सकते हैं?

इस शंका का समाधान यह है कि सिद्धों में रूप का सर्वथा अभाव है, क्योंकि अशरीरी होने से उनमें रूप ही नहीं तो समग्र रूप कैसे रह सकता है? रूप-सौन्दर्य सशरीरी में ही होता है। दूसरे आत्म-सिद्धि के लिये अथक एवं पूर्ण प्रयत्न भी सशरीरी ही कर सकता है, अशरीरी नहीं। अतः यही सिद्ध होता है कि सिद्ध भगवान् श्रुत के प्रणेता नहीं हैं और भगवान् शब्द यहाँ अरिहन्तों की विशेषता बताने के लिये ही प्रयुक्त किया गया है।

(३) उप्पण्ण-नाणदंसणधरेहिं—अरिहन्त का तीसरा विशेषण है—उत्पन्न ज्ञानदर्शन के धारक। वैसे ज्ञान-दर्शन तो अध्ययन और अभ्यास से भी हो सकता है पर ऐसे ज्ञान-दर्शन में पूर्णता नहीं होती। यहाँ सम्पूर्ण ज्ञान-दर्शन अभिप्रेत है।

शंका हो सकती है कि यह तीसरा विशेषण ही पर्याप्त है, फिर अरिहन्त-भगवान् के लिए पूर्वोक्त दो विशेषण क्यों जोड़े हैं? इसका उत्तर यही है कि तीसरा विशेषण तो सामान्य केवली में भी पाया जाता है, किन्तु वे सम्यक्श्रुत के प्रणेता नहीं होते। अतः यह विशेषण दोनों पदों की पुष्टि

करता है। कुछ लोग ईश्वर को अनादि सर्वज्ञ मानते हैं, उनके मत का निषेध करने के लिये भी यह विशेषण दिया गया है। क्योंकि वह 'उत्पन्न हो गया है ज्ञान-दर्शन जिसमें' यह विशेषण उसमें नहीं पाया जाता है।

(४) तेलुक्कनिरिक्खियमहियपूइएहिं—जो त्रिलोकवासी असुरेन्द्रों, नरेन्द्रों और देवेन्द्रों के द्वारा प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति से अवलोकित हैं, असाधारण गुणों के कारण प्रशंसित हैं तथा मन, वचन एवं कर्म की शुद्धता से वंदनीय और नमस्करणीय हैं, सर्वोत्कृष्ट सम्मान एवं बहुमान आदि से पूजित हैं।

(५) तीयपडुप्पण्णमणागयजाणएहिं—जो तीनों कालों के ज्ञाता हैं। यह विशेषण मायावियों में तो नहीं पाया जाता, किन्तु कुछ व्यवहारनय की मान्यता वालों का कथन है :—

"ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः।
तपसैव प्रपश्यन्ति, त्रैलोक्यं सचराचरम्॥"

अर्थात्—विशिष्ट ज्योतिषी, तपस्वी और दिव्यज्ञानी भी तीन कालों को उपयोगपूर्वक जान सकते हैं। इसलिये सूत्रकार ने छठा विशेषण बताते हुए कहा है :—

(६) सव्वण्णूहिं—जो सर्वज्ञानी अर्थात् लोक अलोक आदि समस्त के ज्ञाता हैं, जो विश्व में स्थित सम्पूर्ण पदार्थों को हस्तामलकवत् जानते हैं, जिनके ज्ञानरूपी दर्पण में सभी द्रव्य और पर्याय युगपत् प्रतिबिम्बित हो रहे हैं, जिनका ज्ञान निःसीम है, उनके लिए यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है।

(७) सव्वदरिसीहिं—जो सभी द्रव्यों और उनकी पर्यायों का साक्षात्कार करते हैं।

जो इन सात विशेषणों से सम्पन्न होते हैं, वस्तुतः वे ही सर्वोत्तम आप्त होते हैं। वे ही द्वादशाङ्ग गणिपिटक के प्रणेता और सम्यक्श्रुत के रचयिता होते हैं। उक्त सातों विशेषण तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती तीर्थंकर देवों के हैं, न कि अन्य पुरुषों के।

गणिपिटक—पिटक पेटी या सन्दूक को कहते हैं। जैसे राजा-महाराजाओं तथा धनाढ्य श्रीमन्तों के यहाँ पेटियों अथवा सन्दूकों में हीरे, पन्ने, मणि, माणिक एवं विभिन्न प्रकार के रत्नादि भरे रहते हैं, इसी प्रकार गणाधीश आचार्य के यहाँ आत्मकल्याण के हेतु विविध प्रकार की शिक्षाएँ, नव-तत्त्वनिरूपण, द्रव्यों का विवेचन, धर्म की व्याख्या, आत्मवाद, क्रियावाद, कर्मवाद, लोकवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, पंचमहाव्रत, तीर्थंकर बनने के उपाय, सिद्ध भगवन्तों का निरूपण, तप का विवेचन, कर्मग्रन्थि भेदन के उपाय, चक्रवर्त्ती, वासुदेव, प्रतिवासुदेव के इतिहास तथा रत्नत्रय आदि का विश्लेषण आदि अनेक विषयों का जिनमें यथार्थ निरूपण किया गया है, ऐसी भगवद्वाणी को गणधरों ने बारह पिटकों में भर दिया है। जिस पिटक का जैसा नाम है, उसमें वैसे ही सम्यक्श्रुतरत्न निहित हैं। पिटकों के नाम द्वादशाङ्गरूप में ऊपर बताए गए हैं।

अब प्रश्न होता है कि अरिहन्त भगवन्तों के अतिरिक्त जो अन्य श्रुतज्ञानी हैं, वे भी क्या आप्त पुरुष हो सकते हैं?

उत्तर है—हो सकते हैं। सम्पूर्ण दस पूर्वधर से लेकर चौदह पूर्वों तक के धारक जितने भी ज्ञानी हैं उनका कथन नियम से सम्यक्श्रुत ही होता है। किंचित् न्यून दस पूर्व में सम्यक्श्रुत की भजना है, अर्थात् उनका श्रुत सम्यक्श्रुत भी हो सकता है और मिथ्याश्रुत भी। मिथ्यादृष्टि जीव भी पूर्वों का अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु वे अधिक से अधिक कुछ कम दस पूर्वों का ही अध्ययन कर सकते हैं, क्योंकि उनका स्वभाव ऐसा ही होता है।

सारांश यह है कि चौदह पूर्व से लेकर परिपूर्ण दस पूर्वों के ज्ञानी निश्चय ही सम्यक्दृष्टि होते हैं। अतः उनका श्रुत सम्यक्श्रुत ही होता है। वे आप्त ही हैं। शेष अङ्गधरों या पूर्वधरों में सम्यक्श्रुत नियमेन नहीं होता। सम्यक्दृष्टि का प्रवचन ही सम्यक्श्रुत हो सकता है।

मिथ्याश्रुत

७७—से किं तं मिच्छासुअं ?

मिच्छासुअं, जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं, सच्छंदबुद्धि-मइविगप्पिअं, तं जहा—

(१) भारहं (२) रामायणं (३) भीमासुरक्खं (४) कोडिल्लयं (५) सगडभद्दिआओ (६) खोडग (घोडग) मुहं (७) कप्पासिअं (८) नागसुहुमं (९) कणगसत्तरी (१०) वइसेसिअं (११) वुद्धवयणं (१२) तेरासिअं (१३) काविलिअं (१४) लोगाययं (१५) सट्ठितंतं (१६) माढरं (१७) पुराणं (१८) वागरणं (१९) भागवं (२०) पायंजली (२१) पुस्सदेवयं (२२) लेहं (२३) गणिअं (२४) सउणिरुअं (२५) नाडयाइं।

अहवा बावत्तरि कलाओ, चत्तारि अ वेआ संगोवंगा, एआइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहिआइं मिच्छा-सुअं एयाइं चेवं सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहिआइं सम्मसुअं।

अहवा मिच्छादिट्ठिस्सवि एयाइं चेव सम्मसुअं, कम्हा ? सम्मत्तहेउत्तणओ, जम्हा ते मिच्छदिट्ठिआ तेहिं चेव समएहिं चोइआ समाणा केइ सपक्खदिट्ठीओ चयंति।

से त्तं मिच्छा-सुअं। ॥ सूत्र ४२ ॥

७७—मिथ्याश्रुत का स्वरूप क्या है ?

मिथ्याश्रुत अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टियों द्वारा स्वच्छंद और विपरीत बुद्धि द्वारा कल्पित किये हुए ग्रन्थ हैं, यथा—

(१) भारत (२) रामायण (३) भीमासुरोक्त (४) कौटिल्य (२) शकटभद्रिका (६) घोटकमुख (७) कार्पासिक (८) नाग-सूक्ष्म (९) कनकसप्तति (१०) वैशेषिक (११) बुद्धवचन (१२) त्रैराशिक (१३) कापिलीय (१४) लोकायत (१५) षष्टितंत्र (१६) माठर (१७) पुराण (१८) व्याकरण (१९) भागवत (२०) पातञ्जलि (२१) पुष्यदैवत (२२) लेख (२३) गणित (२४) शकुनिरुत (२५) नाटक। अथवा बहत्तर कलाएं और चार वेद अंगोपाङ्ग सहित। ये सभी मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्यारूप में ग्रहण किये हुए मिथ्याश्रुत हैं। यही ग्रन्थ सम्यक् दृष्टि द्वारा सम्यक् रूप में ग्रहण किए हुए सम्यक्-श्रुत हैं।

अथवा मिथ्यादृष्टि के लिए भी यही ग्रन्थ-शास्त्र सम्यक्श्रुत हैं, क्योंकि ये उनके सम्यक्त्व में हेतु हो सकते हैं, कई मिथ्यादृष्टि इन ग्रन्थों से प्रेरित होकर अपने मिथ्यात्व को त्याग देते हैं। यह मिथ्याश्रुत का स्वरूप है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में मिथ्याश्रुत के विषय में बताया गया है कि अज्ञानी, विपरीत बुद्धिवाले एवं स्वच्छंद मतिवाले व्यक्ति अपनी कल्पना से जो विचार लोगों के सामने रखते हैं वे विचार तात्त्विक न होने से मिथ्याश्रुत कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में, जिनकी दृष्टि या विचार-धारा मिथ्या है, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्यात्व दस प्रकार का होता है, किन्तु ध्यान में रखने की बात है कि यदि किसी प्राणी में एक प्रकार का भी मिथ्यात्व हो तो उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना चाहिए। मिथ्यात्व के प्रकार इस तरह हैं—

(१) अधम्मे धम्मसण्णा—अर्थात् अधर्म को धर्म मानना। जसे—विभिन्न देवी-देवताओं के, ईश्वर के तथा पितर आदि के नाम पर हिंसा आदि पाप-कृत्य करना और उसमें धर्म मानना।

(२) धम्मे अधम्मसण्णा—आत्म-शुद्धि के मुख्य कारण—अहिंसा, संयम, तप तथा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म को अधर्म मानना मिथ्यात्व है।

(३) उम्मग्गे मग्गसण्णा—उन्मार्ग को सन्मार्ग मानना, अर्थात् संसार-भ्रमण कराने वाले दुखद मार्ग को मोक्ष का मार्ग समझना मिथ्यात्व है।

(४) मग्गे उम्मग्गसण्णा—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस उत्तम मोक्षमार्ग को संसार का मार्ग समझना मिथ्यात्व है।

(५) अजीवेसु जीवसण्णा—अजीवों को जीव मानना। संसार में जो कुछ भी दृश्यमान है, वह सब जीव ही है, संसार में अजीव पदार्थ हैं ही नहीं, यह मान्यता रखना मिथ्यात्व है।

(६) जीवेसु अजीवसण्णा—जीवों में अजीव की संज्ञा रखना। चार्वाक मत के अनुयायी शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानते। कुछ विचारक पशुओं में भी आत्मा होने से इंकार करते हैं, उनमें केवल प्राण मानते हैं, और इसी कारण उन्हें मारकर खाने में भी पाप नहीं समझते। यह मिथ्यात्व है।

(७) असाहुसु साहुसण्णा—असाधु को साधु मानना। जो व्यक्ति धन-वैभव, स्त्री-पुत्र, जमीन या मकान आदि किसी के भी त्यागी नहीं हैं; ऐसे मात्र वेषधारी को साधु मानना मिथ्यात्व है।

(८) साहुसु असाहुसण्णा—श्रेष्ठ, संयत, पांच महाव्रत एवं समिति तथा गुप्ति के धारक मुनियों को असाधु समझते हुए उन्हें ढोंगी, पाखण्डी मानना मिथ्यात्व है।

(९) अमुत्तेसु मुत्तसण्णा—अमुक्तों को मुक्त मानना। जिन जीवों ने कर्म-बंधनों से मुक्त होकर भगवत्पद प्राप्त नहीं किया है, उन्हें कर्म-बंधनों से रहित और मुक्त मानना मिथ्यात्व है।

(१०) मुत्तेसु अमुत्तसण्णा—आत्मा कभी परमात्मा नहीं बनता, कोई जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता तथा आत्मा न कभी कर्म-बन्धनों से मुक्त हुआ है और न कभी होगा। ऐसी मान्यता रखते हुए जो आत्माएँ कर्म-बन्धनों से मुक्त हो चुकी हैं, उन्हें भी अमुक्त मानना मिथ्यात्व है।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार असली हीरे को नकली और नकली कांच के टुकड़ों को हीरा समझने वाला जौहरी नहीं कहलाता, इसी प्रकार असत् को सत् तथा सत् को असत् समझने वाला सम्यक्दृष्टि नहीं कहलाता। वह मिथ्यादृष्टि होता है।

मिथ्याश्रुत एवं सम्यक्श्रुत पर विशेष विचार—

"एयाइं मिच्छदिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइं मिच्छासुयं।" बताया गया है कि मिथ्यादृष्टि द्वारा रचे गए ग्रन्थ द्रव्य मिथ्याश्रुत हैं, मिथ्यादृष्टि में भावमिथ्याश्रुत होता है। दृष्टि गलत होने से ज्ञानधारा मलिन हो जाती है और ज्ञान सत्य नहीं होता। मिथ्यादृष्टि गलत ज्ञान धारा वाले तथा अध्यात्म मार्ग से भटके हुए होते हैं। इसलिये उनके कथनानुसार जो व्यक्ति चलता है वह भी मोक्ष-मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है।

'एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइं सम्मसुयं।' मिथ्यादृष्टि द्वारा रचित ग्रन्थों को भी सम्यग्दृष्टि यथार्थ रूप से ग्रहण करता है तो उसके लिए मिथ्याश्रुत, सम्यक्श्रुतरूप में परिणत हो जाता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार चतुर वैद्य अपनी विशिष्ट क्रियाओं के द्वारा विष को भी अमृत बना लेता है, हंस दूध को ग्रहण करके पानी छोड़ देता है तथा स्वर्ण को खोजने वाले मिट्टी में से स्वर्णकण निकालकर असार को त्याग देते हैं। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि नय-निक्षेप आदि के विचार से मिथ्याश्रुत को सम्यक्श्रुत रूप में परिणत कर लेता है। "अहवा मिच्छदिट्ठिस्सवि एयाइं चेव सम्मसुयं, कम्हा?" सूत्र में कहा गया है कि मिथ्याश्रुत मिथ्यादृष्टि के लिए भी सम्यक्श्रुत हो सकता है। वह इस प्रकार कि जब मिथ्यादृष्टि, सम्यक्दृष्टि के द्वारा अपने ग्रन्थों में रही हुई पूर्वापरविरोधी तथा असंगत बातों को जानकर अपने गलत स्वपक्ष को छोड़ देता है तो सम्यक्दृष्टि बन जाता है। इस प्रकार सम्यक्त्व का कारण होने से मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत रूप में परिणत हो जाता है।

सादि, सान्त, अनादि, अनन्तश्रुत

७८—से किं तं साइअं-सपज्जवसिअं? अणाइअं-अपज्जवसिअं च?

इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं वुच्छित्तिनयट्ठयाए साइअं सपज्जवसिअं, अव्वुच्छित्तिनयट्ठयाए अणाइअं अपज्जवसिअं। तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ। तत्थ—(१) दव्वओ णं सम्मसुअं एगं पुरिसं पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं, बहवे पुरिसे य पडुच्च अणाइयं अपज्जवसिअं।

(२) खेत्तओ णं पंच भरहाइं, पंचेरवयाइं, पडुच्च साइयं सपज्जवसिअं, पंच महाविदेहाइं पडुच्च अणाइयं अपज्जवसिअं।

(३) कालओ णं उस्सप्पिणिं ओसप्पिणिं च पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं, नोउस्सप्पिणिं नोओसप्पिणिं च पडुच्च अणाइयं अपज्जवसिअं।

(४) भावओ णं जे जया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति, तया (ते) भावे पडुच्च साइअं सपज्जवसिअं। खाओवसमिअं पुण भावं पडुच्च अणाइअं अपज्जवसिअं।

अहवा भवसिद्धियस्स सुयं साइयं सपज्जवसिअं च, अभवसिद्धियस्स सुयं अणाइयं अपज्जवसिअं (च)।

सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणिअं पज्जवक्खरं निप्फज्जइ, सव्वजीवाणंपि अ णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ, जइ पुण सोऽवि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तं पाविज्जा।

'सुट्ठुवि मेहसमुदए होइ पभा चंदसूराणं ।'

से त्तं साइअं सपज्जवसिअं, से त्तं अणाइयं अपज्जवसिअं । ।। सूत्र ४३ ।।

७८—प्रश्न—सादि सपर्यवसित और अनादि अपर्यवसितश्रुत का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—यह द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से सादि-सान्त है, और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आदि अन्त रहित है । यह श्रुतज्ञान संक्षेप में चार प्रकार से वर्णित किया गया है, जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से ।

(१) द्रव्य से सम्यक्श्रुत, एक पुरुष की अपेक्षा से सादि-सपर्यवसित अर्थात् सादि और सान्त है । बहुत से पुरुषों की अपेक्षा से अनादि अपर्यवसित अर्थात् आदि और अन्त से रहित है ।

(२) क्षेत्र से सम्यक्श्रुत पाँच भरत और पाँच ऐरावत क्षेत्रों की अपेक्षा से सादि-सान्त है । पाँच महाविदेह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है ।

(३) काल से सम्यक्श्रुत उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से सादि-सान्त है । नोउत्सर्पिणी नोअवसर्पिणी अर्थात् अवस्थित काल की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है ।

(४) भाव से सर्वज्ञ—सर्वदर्शी जिन-तीर्थंकरों द्वारा जो भाव-पदार्थ जिस समय सामान्यरूप से कहे जाते हैं, जो नाम आदि भेद दिखलाने के लिए विशेष रूप से कथन किये जाते हैं, हेतु-दृष्टान्त के उपदर्शन से जो स्पष्टतर किये जाते हैं और उपनय तथा निगमन से जो स्थापित किये जाते हैं, तब उन भावों की अपेक्षा से सादि-सान्त है । क्षयोपशम भाव की अपेक्षा से सम्यक्-श्रुत अनादि-अनन्त है ।

अथवा भवसिद्धिक (भव्य) प्राणी का श्रुत सादि-सान्त है, अभवसिद्धिक (अभव्य) जीव का मिथ्या-श्रुत अनादि और अनन्त है ।

सम्पूर्ण आकाश-प्रदेशों का समस्त आकाश प्रदेशों के साथ अनन्त वार गुणाकार करने से पर्याय अक्षर निष्पन्न होता है । सभी जीवों के अक्षर-श्रुतज्ञान का अनन्तवाँ भाग सदैव उद्घाटित (निरावरण) रहता है । यदि वह भी आवरण को प्राप्त हो जाए तो उससे जीवात्मा अजीवभाव को प्राप्त हो जाए । क्योंकि चेतना जीव का लक्षण है ।

वादलों का अत्यधिक पटल ऊपर आ जाने पर भी चन्द्र और सूर्य की कुछ न कुछ प्रभा तो रहती ही है ।

इस प्रकार सादि-सान्त और अनादि-अनन्त श्रुत का वर्णन है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में सादि-श्रुत, सान्त-श्रुत, अनादि-श्रुत और अनन्त-श्रुत का वर्णन है । सूत्रकार ने—'साइयं सपज्जवसियं, अणाइयं अपज्जवसियं'' ये पद दिये हैं । सपर्यवसित सान्त को कहते हैं और अपर्यवसित अनन्त का द्योतक है । यह द्वादशाङ्ग गणिपिटक व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं, किन्तु अव्युच्छित्तिनय की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है । इसका कारण यह है कि व्यवच्छित्तिनय पर्यायास्तिक का ही दूसरा नाम है, और अव्यच्छित्तिनय द्रव्यार्थिक नय का पर्यायवाची नाम है ।

द्रव्यत:—एक जीव की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत सादि-सान्त है। जब सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, तब सम्यक्श्रुत की आदि और जब वह पहले या तीसरे गुणस्थान में प्रवेश करता है तब पुन: मिथ्यात्व का उदय होते ही सम्यक्श्रुत भी लुप्त हो जाता है। प्रमाद, मनोमालिन्य, तीव्रवेदना अथवा विस्मृति के कारण, या केवल ज्ञान उत्पन्न होने के कारण प्राप्त किया हुआ श्रुतज्ञान लुप्त होता है तब वह उस पुरुष की अपेक्षा से सान्त कहलाता है।

किन्तु तीनों कालों की अपेक्षा से अथवा बहुत पुरुषों की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत अनादि-अनन्त है, क्योंकि ऐसा एक भी समय न कभी हुआ है, न है और न होगा ही जब सम्यक्श्रुत वाले ज्ञानी जीव विद्यमान न हों। सम्यक्श्रुत का सम्यक्दर्शन से अविनाभावी संबंध है, अत: और बहुत पुरुषों की अपेक्षा से सम्यक्श्रुत (द्वादशाङ्ग वाणी) अनादि अनन्त है।

क्षेत्रत:—पाँच भरत और पाँच ऐरावत, इन दस क्षेत्रों की अपेक्षा से गणिपिटक सादि-सान्त है, क्योंकि अवसर्पिणीकाल के सुषमदुषम आरा के अन्त में और उत्सर्पिणीकाल में दु:षमसुषम के प्रारम्भ में तीर्थंकर भगवान् सर्वप्रथम धर्मसंघ की स्थापना के लिये द्वादशाङ्ग गणिपिटक की प्ररूपणा करते हैं। उसी समय सम्यक्श्रुत का प्रारम्भ होता है। इस अपेक्षा से वह सादि तथा दु:षमदु:षम आरे में सम्यक्श्रुत का व्यवच्छेद हो जाता है, इस अपेक्षा से सम्यक्श्रुत गणिपिटक सान्त है। किन्तु पाँच महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा गणिपिटक अनादि-अनन्त है, क्योंकि महाविदेह क्षेत्र में उसका सदा सद्भाव रहता है।

कालत:—जहाँ उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल वर्तते हैं, वहाँ सम्यक्श्रुत सादि-सान्त है, क्योंकि धर्म की प्रवृत्ति कालचक्र के अनुसार होती है। पाँच महाविदेह क्षेत्र में न उत्सर्पिणी काल है और न अवसर्पिणी। इस प्रकार वहाँ कालचक्र का परिवर्तन न होने से सम्यक्श्रुत सदैव अवस्थित रहता है, अत: वह अनादि-अनन्त है।

भावत:—जिस तीर्थंकर ने जो भाव प्ररूपित किए हैं, उनकी अपेक्षा सम्यक्श्रुत सादि-सान्त है किन्तु क्षयोपशम भाव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है। यहाँ पर चार भंग होते हैं:—(१) सादि-सान्त (२) सादि-अनन्त (३) अनादि-सान्त और (४) अनादि-अनन्त।

पहला भंग भव-सिद्धिक में पाया जाता है, कारण कि सम्यक्त्व होने पर अंग सूत्रों का अध्ययन किया जाता है, वह सादि हुआ। मिथ्यात्व के उदय से या क्षायिक ज्ञान हो जाने से वह सम्यक्श्रुत उसमें नहीं रहता, इस दृष्टि से सान्त कहलाता है। क्योंकि सम्यक्श्रुत क्षायोपशमिक ज्ञान है और सभी क्षायोपशमिक ज्ञान सान्त होते हैं, अनन्त नहीं।

दूसरा भंग शून्य है, क्योंकि सम्यक्श्रुत तथा मिथ्याश्रुत सादि होकर अनन्त नहीं होता। मिथ्यात्व का उदय होने पर सम्यक्श्रुत नहीं रहता और सम्यक्त्व प्राप्त होने पर मिथ्याश्रुत नहीं रह सकता। केवलज्ञान होने पर दोनों का विलय हो जाता है।

तीसरा भंग भव्यजीव की अपेक्षा से समझना चाहिये क्योंकि भव्यसिद्धिक मिथ्यादृष्टि का मिथ्याश्रुत अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु उसके सम्यक्त्व प्राप्त करते ही मिथ्याश्रुत का अन्त हो जाता है, इसलिए अनादि-सान्त कहा गया है।

चौथा भंग अनादि-अनन्त है। अभव्यसिद्धिक का मिथ्याश्रुत अनादि-अनन्त होता है, क्योंकि उसको सम्यक्त्व की प्राप्ति कभी नहीं होती।

पर्यायाक्षर

लोकाकाश और अलोकाकाश रूप सर्व आकाश प्रदेशों को सर्व आकाश प्रदेशों से एक, दो संख्यात या असंख्यात बार नहीं, अनन्त बार गुणित करने पर भी प्रत्येक आकाश प्रदेश में जो अनन्त अगुरुलघु पर्याय हैं, उन सबको मिलाकर पर्यायाक्षर निष्पन्न होता है। धर्मास्तिकाय आदि के प्रदेश स्तोक होने से सूत्रकार ने उन्हें ग्रहण नहीं किया है किन्तु उपलक्षण से उनका भी ग्रहण करना चाहिए।

अक्षर दो प्रकार के हैं—ज्ञान रूप और अकार आदि वर्ण रूप, यहाँ दोनों का ही ग्रहण करना चाहिए। अनंत पर्याययुक्त होने से अक्षर शब्द से केवलज्ञान ग्रहण किया जाता है। लोक में जितने रूपी द्रव्य हैं, उनकी गुरुलघु और अरूपी द्रव्यों की अगुरुलघु पर्याय हैं। उन सभी को केवलज्ञानी हस्तामलकवत् जानते व देखते हैं। सारांश यह कि सर्वद्रव्य, सर्वपर्याय-परिमाण केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

गमिक-अगमिक, अङ्गप्रविष्ट-अङ्गबाह्य

७९—से किं तं गमिअं? गमिअं दिट्ठिवाओ। से किं तं अगमिअं? अगमिअं-कालिअसुअं।

से त्तं गमिअं, से त्तं अगमिअं।

अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंगपविट्ठं, अंगबाहिरं च।

से किं तं अंगबाहिरं? अंगबाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—आवस्सयं च आवस्सय-वइरित्तं च।

(१) से किं तं आवस्सयं? आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा—(१) सामाइयं (२) चउवीसत्थवो (३) वंदणयं (४) पडिक्कमणं (५) काउस्सग्गो (६) पच्चक्खाणं।

से त्तं आवस्सयं।

७९—गमिक-श्रुत क्या है?

आदि, मध्य या अवसान में कुछ शब्द-भेद के साथ उसी सूत्र को बार-बार कहना गमिक-श्रुत है। दृष्टिवाद गमिक-श्रुत है।

अगमिक-श्रुत क्या है? गमिक से भिन्न आचाराङ्ग आदि कालिकश्रुत अगमिक-श्रुत हैं। इस प्रकार गमिक और अगमिकश्रुत का स्वरूप है।

अथवा श्रुत संक्षेप में दो प्रकार का कहा गया है अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य।

अङ्गबाह्य-श्रुत कितने प्रकार का है? अङ्गबाह्य दो प्रकार का है—(१) आवश्यक (२) आवश्यक से भिन्न।

आवश्यक-श्रुत क्या है? आवश्यक-श्रुत छह प्रकार का है—(१) सामायिक (२) चतुर्विंशतिस्तव (३) वंदना (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग (६) प्रत्याख्यान। यह आवश्यक-श्रुत का वर्णन है।

विवेचन—उक्त सूत्र में गमिक-श्रुत, अगमिक-श्रुत, अङ्गप्रविष्ट-श्रुत और अङ्गबाह्य-श्रुत का वर्णन किया गया है।

गमिकश्रुत—जिस श्रुत के आदि, मध्य और अन्त में थोड़ी विशेषता के साथ पुनः पुनः उन्हीं शब्दों का उच्चारण होता हो। जैसे—उत्तराध्ययन सूत्र के दसवें अध्ययन में "समयं गोयम! मा पमायए' यह प्रत्येक गाथा के चौथे चरण में दिया गया है।

चूर्णिकार ने भी गमिक-श्रुत के विषय में कहा है—

"आई मज्झेऽवसाणे वा किंचिविसेसजुत्तं, दुगाइसयग्गसो तमेव, पढिज्जमाणं गमियं भण्णइ।"

अगमिक श्रुत—जिसमें पाठों की समानता न हो अर्थात्—जिस ग्रन्थ अथवा शास्त्र में पुनः पुनः एक सरीखे पाठ न आते हों वह अगमिक कहलाता है। दृष्टिवाद गमिक श्रुत है तथा कालिक श्रुत सभी अगमिक हैं।

मुख्यतया श्रुतज्ञान के दो भेद किए जाते हैं—अङ्गप्रविष्ट (बारह अंगों के अन्तर्गत) और अङ्गबाह्य। आचारांग सूत्र से लेकर दृष्टिवाद तक सब अङ्गप्रविष्ट कहलाते हैं और इनके अतिरिक्त सभी अङ्गबाह्य। वृत्तिकार ने अङ्गों को इस प्रकार बताया है—

"इह पुरुषस्य द्वादशाङ्गानि भवन्ति, तद्यथा-द्वौ पादौ, द्वे जङ्घे, द्वे उरुणी, द्वे गात्रार्द्धे, द्वौ बाहू, ग्रीवा शिरश्च, एवं श्रुतरूपस्यापि परमपुरुषस्याऽऽचारादीनि द्वादशाङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि।"

अर्थात्—जिस प्रकार सर्वलक्षण युक्त पुरुष के दो पैर, दो जंघाएँ, दो उरू, दो पार्श्व, दो भुजाएँ गर्दन और सिर, इस प्रकार बारह अंग होते हैं, वैसे ही परमपुरुष श्रुत के भी बारह अंग हैं।

तीर्थंकरों के उपदेशानुसार जिन शास्त्रों की रचना गणधर स्वयं करते हैं, वे अंगसूत्र कहलाते हैं और अंगों का आधार लेकर जिनकी रचना स्थविर करते हैं, वे शास्त्र अंगबाह्य कहे जाते हैं।

अंगबाह्य सूत्र दो प्रकार के होते हैं—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त। आवश्यक सूत्र में अवश्यमेव करने योग्य क्रियाओं का वर्णन है। इसके छह अध्ययन हैं, सामायिक, जिनस्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इन छहों में समस्त करणीय क्रियाओं का समावेश हो जाता है। इसीलिये अंगबाह्य सूत्रों में प्रथम स्थान आवश्यक सूत्र को दिया गया है। उसके बाद अन्य सूत्रों का नम्बर आता है। इसके महत्त्व का दूसरा कारण यह है कि चौतीस अस्वाध्यायों में आवश्यक सूत्र का कोई अस्वाध्याय नहीं है। तीसरा कारण इसका विधिपूर्वक अध्ययन दोनों कालों में करना आवश्यक है। इन्हीं कारणों से यह अंगबाह्य सूत्रों में प्रथम माना गया है।

८०—से किं तं आवस्सय-वइरित्तं?

आवस्सयवइरित्तं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—कालिअं च उक्कालियं च।

से किं तं उक्कालिअं?

उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—(१) दसवेआलिअं (२) कप्पिआकप्पिअं

(३) चुल्लकप्पसुअं (४) महाकप्पसुअं (५) उववाइअं (६) रायपसेणिअं (७) जीवाभिगमो (८) पन्नवणा (९) महापन्नवणा (१०) पमायप्पमायं (११) नंदी (१२) अणुओगदाराइं (१३) देविंदत्थओ (१४) तंदुलवेआलिअं (१५) चंदाविज्झयं (१६) सूरपण्णत्ती (१७) पोरिसिमंडलं (१८) मंडलपवेसो (१९) विज्जाचरणविणिच्छओ (२०) गणिविज्जा (२१) झाणविभत्ती (२२) मरणविभत्ती (२३) आयविसोही (२४) वीयरागसुअं (२५) संलेहणासुअं (२६) विहारकप्पो (२७) चरणविही (२८) आउरपच्चक्खाणं (२९) महापच्चक्खाणं, एवमाइ ।

से त्तं उक्कालिअं ।

८०—आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत कितने प्रकार का है ?

आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत दो प्रकार का है—(१) कालिक—जिस श्रुत का रात्रि व दिन के प्रथम और अन्तिम प्रहर में स्वाध्याय किया जाता है। (२) उत्कालिक—जो कालिक से भिन्न काल में भी पढ़ा जाता है।

उत्कालिक श्रुत कितने प्रकार का है ?

वह अनेक प्रकार का है, जैसे—(१) दशवैकालिक (२) कल्पाकल्प (३) चुल्लकल्पश्रुत (४) महाकल्पश्रुत (५) औपपातिक (६) राजप्रश्नीय (७) जीवाभिगम (८) प्रज्ञापना (९) महाप्रज्ञापना (१०) प्रमादाप्रमाद (११) नन्दी (१२) अनुयोगद्वार (१३) देवेन्द्रस्तव (१४) तन्दुलवैचारिक (१५) चन्द्रविद्या (१६) सूर्यप्रज्ञप्ति (१७) पौरुषीमंडल (१८) मण्डलप्रदेश (१९) विद्याचरणविनिश्चय (२०) गणिविद्या (२१) ध्यानविभक्ति (२२) मरणविभक्ति (२३) आत्मविशुद्धि (२४) वीतरागश्रुत (२५) संलेखनाश्रुत (२६) विहारकल्प (२७) चरणविधि (२८) आतुरप्रत्याख्यान और (२९) महाप्रत्याख्यान इत्यादि। यह उत्कालिक श्रुत का वर्णन सम्पूर्ण हुआ।

विवेचन—यहाँ सूत्रकार ने कालिक और उत्कालिक सूत्रों के नामों का उल्लेख करते हुए बताया है कि जो नियत काल में अर्थात् दिन और रात्रि के प्रथम व अंतिम प्रहर में पढ़े जाते हैं, वे कालिक कहलाते हैं, और जो अस्वाध्याय के समय के अतिरिक्त भी रात्रि और दिन में पढ़े जाते हैं वे उत्कालिक कहलाते हैं।

उत्कालिक-कालिक श्रुत का संक्षिप्त परिचय

दशवैकालिक और कल्पाकल्प—ये दो सूत्र स्थविर आदि कल्पों का प्रतिपादन करते हैं।

महाप्रज्ञापना—इसमें प्रज्ञापना सूत्र की अपेक्षा जीवादि पदार्थों का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।

प्रमादाप्रमाद—इस सूत्र में मद्य, विषय, कषाय, निद्रा तथा विकथा आदि प्रमादों का वर्णन है। अपने कर्त्तव्य एवं अनुष्ठानादि में सतर्क रहना अप्रमाद है जो मोक्ष का मार्ग है और इसके विपरीत प्रमाद संसार-भ्रमण कराने वाला है।

सूर्यप्रज्ञप्ति—इसमें सूर्य का विस्तृत स्वरूप वर्णित है।

पौरुषीमंडल—इस सूत्र में मुहूर्त्त, प्रहर आदि कालमान का वर्णन है।

मण्डलप्रवेश—सूर्य के एक मंडल से दूसरे मंडल में प्रवेश करने का विवरण इसमें दिया गया है।

विद्या-चरण-विनिश्चय—इसमें विद्या और चारित्र का प्रतिपादन किया गया है।

गणिविद्या—गच्छ व गण के नायक गणी के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं, तथा उसके लिए कौन-कौन सी विद्याएँ अधिक उपयोगी हैं? उन सबके नाम तथा उनको आराधना का वर्णन किया गया है।

ध्यानविभक्ति—इसमें आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल, इन चारों ध्यानों का विवरण है।

मरणविभक्ति—इसमें अकाममरण, सकाममरण, बालमरण और पण्डितमरण आदि के विषय में बतलाते हुए कहा है कि—किस प्रकार मृत्युकाल में समभावपूर्वक उत्तम परिणामों के साथ निडरतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन करना चाहिए।

आत्मविशोधि—इस सूत्र में आत्म-विशुद्धि के विषय में विस्तारपूर्वक बताया गया है।

वीतरागश्रुत—इसमें वीतराग का स्वरूप बताया गया है।

संलेखनाश्रुत—इसमें, द्रव्य संलेखना, जिसमें अशन आदि आहारों का त्याग किया जाता है और भावसंलेखना, जिसमें कषायों का परित्याग किया जाता है, इसका विवरण है।

विहारकल्प—इसमें स्थविरकल्प का विस्तृत वर्णन है।

चरणविधि—इसमें चारित्र के भेद-प्रभेदों का उल्लेख किया गया है।

आतुरप्रत्याख्यान—रुग्णावस्था में प्रत्याख्यान आदि करने का विधान है।

महाप्रत्याख्यान—इस सूत्र में जिनकल्प, स्थविरकल्प तथा एकाकी विहारकल्प में प्रत्याख्यान का विधान है।

इस प्रकार उत्कालिक सूत्रों में उनके नाम के अनुसार वर्णन है। किन्हीं का पदार्थ एवं मूलार्थ में भाव बताया गया है तथा किन्हीं की व्याख्या पूर्व में दी जा चुकी है। इनमें से कतिपय सूत्र अब उपलब्ध नहीं हैं किन्तु जो श्रुत द्वादशाङ्ग गणिपिटक के अनुसार है, वह पूर्णतया प्रामाणिक है। जो स्वमतिकल्पना से प्रणीत और आगमों से विपरीत है, वह प्रमाण की कोटि में नहीं आता।

८१—से किं तं कालियं? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) उत्तरज्झयणाइं (२) दसाओ (३) कप्पो (४) ववहारो (५) निसीहं (६) महानिसीहं (७) इसिभासिआइं (८) जंबूदीवपन्नत्ती (९) दीवसागरपन्नत्ती (१०) चंदपन्नत्ती (११) खुड्डिआ-विमाणविभत्ती (१२) महल्लिआविमाणविभत्ती (१३) अंगचूलिआ (१४) वग्गचूलिआ (१५) विआहचूलिआ (१७) अरुणोववाए (१७) वरुणोववाए (१८) गरुलोववाए (१९) धरणोववाए (२०) वेसमणोववाए (२१) वेलंधरोववाए (२२) देविंदोववाए (२३) उट्ठाणसुए (२४) समुट्ठा-णसुए (२५) नागपरिआवणिआओ (२६) निरयावलियाओ (२७) कप्पिआओ (२८) कप्पवडि-सिआओ (२९) पुप्फिआओ (३०) पुप्फचूलिआओ (३१) वण्हीदसाओ, एवमाइयाइं, चउरासीइं पइन्नगसहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स, तहा संखिज्जाइं पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगाणं जिणवराणं, चोद्दसपइन्नगसहस्साणि भगवओ वद्धमाणसामिस्स।

अहवा जस्स जत्तिआ सीसा उप्पत्तिआए, वेणइआए, कम्मियाए, पारिणामिआए चउव्विहाए बुद्धीए उववेआ, तस्स तत्तिआइं पइण्णगसहस्साइं। पत्तेअबुद्धा वि तत्तिआ चेव, से त्तं कालिअं। से त्तं आवस्सयवइरित्तं। से त्तं अणंगपविट्ठं। ॥ सूत्र० ४४ ॥

८१—कालिक-श्रुत कितने प्रकार का है?

कालिक-श्रुत अनेक प्रकार का प्रतिपादित किया गया है, जैसे—(१) उत्तराध्ययन सूत्र (२) दशाश्रुतस्कंध (३) कल्प-बृहत्कल्प (४) व्यवहार (५) निशीथ (६) महानिशीथ (७) ऋषिभाषित (८) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (९) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (१०) चन्द्रप्रज्ञप्ति (११) क्षुद्रिका-विमानविभक्ति (१२) महल्लिकाविमानप्रविभक्ति (१३) अङ्गचूलिका (१४) वर्गचूलिका (१५) विवाहचूलिका (१६) अरुणोपपात (१७) वरुणोपपात (१८) गरुडोपपात (१९) धरणोपपात (२०) वैश्रमणोपपात (२१) वेलन्धरोपपात (२२) देवेन्द्रोपपात (२३) उत्थानश्रुत (२४) समुत्थान-श्रुत (२५) नागपरिज्ञापनिका (२६) निरयावलिका (२७) कल्पिका (२८) कल्पावतंसिका (२९) पुष्पिता (३०) पुष्पचूलिका और (३१) वृष्णिदशा (अन्धकवृष्णिदशा) आदि।

चौरासी हजार प्रकीर्णक अर्हत् भगवान् श्रीऋषभदेव स्वामी आदि तीर्थंकर के हैं तथा संख्यात सहस्र प्रकीर्णक मध्यम तीर्थकरों के हैं। चौदह हजार प्रकीर्णक भगवान् महावीर स्वामी के हैं।

इनके अतिरिक्त जिस तीर्थंकर के जितने शिष्य औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी बुद्धि से युक्त हैं, उनके उतने ही हजार प्रकीर्णक होते हैं। प्रत्येकबुद्ध भी उतने ही होते हैं। यह कालिकाश्रुत है।

इस प्रकार आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत का वर्णन हुआ और अनङ्ग-प्रविष्ट श्रुत का स्वरूप भी सम्पूर्ण हुआ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में कालिक सूत्रों के नामों का उल्लेख किया गया है। इनके नामों से ही प्राय: इनके विषय का बोध हो जाता है तथापि कतिपय सूत्रों का विवरण इस प्रकार है—

उत्तराध्ययनसूत्र—प्रसिद्ध है। इसमें छत्तीस अध्ययन हैं, इसमें सैद्धान्तिक, नैतिक, सुभाषितात्मक तथा कथात्मक वर्णन है। प्रत्येक अध्ययन अति महत्त्वपूर्ण है।

निशीथ—इसमें पापों के प्रायश्चित्त का विधान है। जिस प्रकार रात्रि के अन्धकार को प्रकाश दूर करता है, उसी प्रकार अतिचार (पाप) रूपी अन्धेरे को प्रायश्चित्तरूप प्रकाश मिटाता है।

अङ्गचूलिका—यह आचारांग आदि अंगों की चूलिका है। चूलिका का अर्थ होता है—उक्त या अनुक्त अर्थों का संग्रह। यह सूत्र अंगों से संबंधित है। आचारांग सूत्र की पाँच चूलिकाएँ हैं। एक चूलिका दृष्टिवादान्तर्गत भी है।

वर्गचूलिका—जैसे अन्तकृत् सूत्र के आठ वर्ग हैं, उनकी चूलिका तथा अनुत्तरौपपातिक दशा के तीन वर्ग हैं, उनकी चूलिका।

अनुत्तरौपपातिकदशा—इसमें तीन वर्ग हैं। इसमें अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले उत्तम पुरुषों का वर्णन है।

विवाह-चूलिका—भगवती सूत्र की चूलिका।

वरुणोपपात—इस सूत्र का किसी मुनि द्वारा पाठ किए जाने पर वरुणदेव वहाँ उपस्थित होकर उस अध्ययन को सुनता है और प्रसन्न होकर मुनि से वरदान माँगने को कहता है। किन्तु मुनि के इन्कार कर देने पर उस निस्पृह एवं संतोषी मुनि को सविधि वंदन करके चला जाता है। यही इस सूत्र में वर्णित है।

उत्थानश्रुत—इसमें उच्चाटन का वर्णन है, किसी ग्राम में कोई मुनि कुपित होकर इस सूत्र का एक, दो या तीन बार पाठ करे तो ग्राम में उच्चाटन या अशांति हो जाती है।

समुत्थानश्रुत—इस सूत्र का पाठ करने पर अगर किसी गाँव में अशांति हो तो वहाँ शांति हो जाती है।

नागपरिज्ञापनिका—इस सूत्र के विधिपूर्वक अध्ययन करने से स्वस्थान पर स्थित नागकुमार देव श्रमण को वन्दना करते हुए वरद हो जाते हैं।

कल्पिका-कल्पावतंसिका—इनमें सौधर्मादि कल्प-देवलोक में विशेष तप से उत्पन्न होने वाले देव-देवियों का वर्णन है।

पुष्पिता-पुष्पचूला—इनमें विमानवासियों के वर्त्तमान एवं पारभाविक जीवन का वर्णन किया गया है।

वृष्णिदशा—इसमें अन्धकवृष्णि के कुल में उत्पन्न हुए दस जीवों से सम्बन्धित धर्मचर्या, गति, संथारा तथा सिद्धत्व प्राप्त करने का उल्लेख है। इसके दस अध्ययन हैं।

प्रकीर्णक—अर्हत द्वारा उपदिष्ट श्रुत के आधार पर मुनि जिन ग्रन्थों की रचना करते हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर तक असंख्य श्रमण हुए हैं और उन्होंने अपने ज्ञान के विकास, कर्म-निर्जरा तथा अन्य प्राणियों के बोध-हेतु अपनी योग्यता एवं श्रुत के अनुसार अपरिमित ग्रन्थों की रचना की है। सारांश यह है कि तीर्थ में असीम प्रकीर्णक होते हैं।

अङ्गप्रविष्टश्रुत

८२—से किं तं अंगपविट्ठं ? अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं, तं जहा—

(१) आयारो (२) सूयगडो (३) ठाणं (४) समवाओ (५) विवाहपन्नत्ती (६) नाया-धम्मकहाओ (७) उवासगदसाओ (८) अंतगडदसाओ (९) अणुत्तरोववाइअदसाओ (१०) पण्हावा-गरणाइं (११) विवागसुअं (१२) दिट्ठिवाओ। ॥ सूत्र० ४५ ॥

८२—अङ्गप्रविष्टश्रुत कितने प्रकार का है ?

अङ्गप्रविष्टश्रुत बारह प्रकार का है—

(१) आचारांगसूत्र (२) सूत्रकृताङ्गसूत्र (३) स्थानाङ्गसूत्र (४) समवायाङ्गसूत्र (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति—भगवती सूत्र (६) ज्ञाताधर्मकथाङ्गसूत्र (७) उपासकदशाङ्गसूत्र (८) अन्तकृद्दशाङ्ग-सूत्र (९) अनुत्तररौपपातिकदशाङ्गसूत्र (१०) प्रश्नव्याकरणसूत्र (११) विपाकसूत्र (१२) दृष्टि-वादाङ्गसूत्र।

विवेचन—इस सूत्र में अङ्गप्रविष्ट सूत्रों का नामोल्लेख किया गया है। सूत्रकार अग्रिम सूत्रों में क्रमशः बताएँगे कि किस सूत्र में क्या-क्या विषय है। इससे जिज्ञासुओं को सभी अङ्ग सूत्रों का सामान्यतया ज्ञान हो सकेगा।

द्वादशांगी गणिपिटक

८३—से किं तं आयारे ?

आयारे णं समणाणं निग्गंथाणं आयार-गोअर-विणय-वेणइअ-सिक्खा-भासा-अभासा-चरण-करण-जाया-माया-वित्तीओ आघविज्जंति। से समासओ पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—(१) नाणायारे (२) दंसणायारे (३) चरित्तायारे (४) तवायारे (५) वीरियायारे।

आयारे णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए पढमे अंगे, दो सुअक्खंधा, पणवीसं अज्झयणा, पंचासीइ उद्देसणकाला, पंचासीइ समुद्देसणकाला, अट्ठारस पयसहस्साणि पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ, जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करण-परूवणा आघविज्जइ। से त्तं आयारे। ॥ सूत्र ४६ ॥

८३—आचाराङ्ग श्रुत किस प्रकार का है।

आचाराङ्ग में बाह्य—आभ्यंतर परिग्रह से रहित श्रमण निर्ग्रन्थों का आचार, गोचर-भिक्षा के ग्रहण करने की विधि, विनय-ज्ञानादि की विनय, विनय का फल—कर्मक्षय आदि, ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षा, तथा शिष्य को सत्य और व्यवहार भाषा बोलने योग्य है और मिश्र तथा असत्य भाषा त्याज्य हैं, चरण-व्रतादि, करण-पिण्डविशुद्धि आदि, यात्रा-संयम का निर्वाह और नाना प्रकार के अभिग्रह धारण करके विचरण करना इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है। वह आचार संक्षेप में पाँच प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—

(१) ज्ञानाचार (२) दर्शनाचार (३) चारित्राचार (४) तपाचार और (५) वीर्याचार।

आचारश्रुत में सूत्र और अर्थ से परिमित वाचनाएँ हैं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ-छंद, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ और संख्यात प्रत्तिपत्तियाँ वर्णित हैं।

आचाराङ्ग अर्थ से प्रथम अंग है। उसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं, पच्चीस अध्ययन हैं। पच्यासी उद्देशनकाल हैं, पच्यासी समुद्देशनकाल हैं। पदपरिमाण से अठारह हजार पद हैं। संख्यात अक्षर हैं। अनन्त गम और अनन्त पर्यायें हैं। परिमित त्रस और अनन्त स्थावर जीवों का वर्णन है। शाश्वत-धर्मास्तिकाय आदि, कृत-प्रयोगज-घटादि, विश्रसा-स्वाभाविक-सन्ध्या, बादलों आदि का रंग, ये सभी आचारांग सूत्र में स्वरूप से वर्णित हैं। निर्युक्ति, संग्रहणी, हेतु, उदाहरण आदि अनेक प्रकार से जिन-प्रज्ञप्त भाव-पदार्थ, सामान्य रूप से कहे गए हैं। नामादि से प्रज्ञप्त हैं। विस्तार से कथन किये गये हैं। उपमान आदि से और निगमन से पुष्ट किये गए हैं।

आचार—आचारांग को ग्रहण-धारण करने वाला, उसके अनुसार क्रिया करने वाला, आचार की साक्षात् मूर्ति बन जाता है। वह भावों का ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार आचारांग सूत्र में चरण-करण की प्ररूपणा की गई है। यह आचाराङ्ग का स्वरूप है।

विवेचन—नाम के अनुसार ही आचाराङ्ग में श्रमण की आचारविधि का वर्णन किया गया है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं। दोनों ही श्रुतस्कंध अध्ययनों में और प्रत्येक अध्ययन उद्देशकों में अथवा चूलिकाओं में विभाजित है।

आचरण को ही दूसरे शब्द में आचार कहा जाता है। अथवा पूर्वपुरुषों ने जिस ज्ञानादि की आसेवन विधि का आचरण किया, उसे आचार कहा गया है और इस प्रकार का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को आचाराङ्ग कहते हैं। आचाराङ्ग के विषय पांच आचार हैं, यथा—

(१) ज्ञानाचार—ज्ञानाचार के आठ भेद हैं—काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिह्नवण, व्यंजन, अर्थ और तदुभय। इन्हें संक्षेप में निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

(१) काल—आगमों में जिस समय जिस सूत्र को पढ़ने की आज्ञा है, उसी समय उस सूत्र का पठन करना।

(२) विनय—अध्ययन करते समय ज्ञान और ज्ञानदाता गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना।

(३) बहुमान—ज्ञान और ज्ञानदाता के प्रति गहरी आस्था एवं बहुमान का भाव रखना।

(४) उपधान—आगमों में जिस सूत्र को पढ़ने के लिए जिस तप का विधान किया गया हो, अध्ययन करते समय उस तप का आचरण करना। तप के विना अध्ययन फलप्रद नहीं होता।

(५) अनिह्नवण—ज्ञान और ज्ञानदाता के नाम को नहीं छिपाना।

(६) व्यञ्जन—यथाशक्ति सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना। शुद्ध उच्चारण निर्जरा का और अशुद्ध उच्चारण अतिचार का हेतु होता है।

(७) अर्थ—सूत्रों का प्रामाणिकता से अर्थ करना, स्वेच्छा से जोड़ना या घटाना नहीं।

(८) तदुभय—आगमों का अध्ययन और अध्यापन विधिपूर्वक निरतिचार रूप से करना तदुभय ज्ञानाचार कहलाता है।

(२) दर्शनाचार—सम्यक्त्व को दृढ़, एवं निरतिचार रखना। हेय को त्यागने की और उपादेय को ग्रहण करने की रुचि का होना ही निश्चय सम्यक्त्व है तथा उस रुचि के बल से होने वाली धर्मतत्त्वनिष्ठा व्यवहार-सम्यक्त्व है। दर्शनाचार के भी आठ भेद-अंग बताए गए हैं—

(१) निःशंकित—आत्मतत्त्व पर श्रद्धा रखना, अरिहंत भगवन्त के उपदेशों में, केवलि-भाषित धर्म में तथा मोक्ष प्राप्ति के उपायों में शंका न रखना।

(२) निःकांक्षित—सच्चे देव, गुरु, धर्म और शास्त्र के अतिरिक्त कुदेव, कुगुरु, धर्माभास और शास्त्राभास की आकांक्षा न करना, सच्चे जौहरी के समान जो असली रत्नों को छोड़कर नकली रत्नों को पाने की इच्छा नहीं करता।

(३) निर्विचिकित्सा—आचरण किये हुए धर्म का फल मिलेगा या नहीं ? इस प्रकार धर्म-फल के प्रति सन्देह न करना ।

(४) अमूढदृष्टि—विभिन्न दर्शनों की युक्तियों से, मिथ्यादृष्टियों की ऋद्धि से, उनके आडम्बर, चमत्कार, विद्वत्ता, भय अथवा प्रलोभन से दिग्मूढ न बनना तथा स्त्री, पुत्र, धन आदि में गृद्ध होकर मूढ न बनना ।

(५) उववृंह—जो व्यक्ति संघसेवी, साहित्यसेवी, तथा तप-संयम की आराधना करने वाले हैं, और जिनकी प्रवृत्ति धर्म-क्रिया में बढ़ रही है, उनके उत्साह को बढ़ाना ।

(६) स्थिरीकरण—सम्यग्दर्शन वा चारित्र से गिरते हुए स्वधर्मी व्यक्तियों को धर्म में स्थिर करना ।

(७) वात्सल्य—जैसे गाय अपने बछड़े पर प्रीति रखती है, उसी प्रकार सहधर्मी जनों पर वात्सल्य भाव रखना, उन्हें देखकर प्रमुदित होना तथा उनका सम्मान करना ।

(८) प्रभावना—जिन क्रियाओं से धर्म की हीनता और निंदा हो उन्हें न करते हुए जिनसे शासन की उन्नति हो तथा जनता धर्म से प्रभावित हो, वैसी क्रियाएँ करना, प्रभावना दर्शनाचार कहलाता है ।

(३) **चारित्राचार**—अणुव्रत-देशचारित्र तथा महाव्रत-सकल चारित्र हैं । इन दोनों का पालन करने से संचित कर्मों का क्षय होता है तथा आत्मा ऊर्ध्वगामिनी होती है । चारित्राचार के दो भाग हैं—(१) प्रवृत्ति और (२) निवृत्ति । मोक्षार्थी को प्रशस्त प्रवृत्ति करना चाहिए, इसे समिति कहा जाता है । समिति पांच प्रकार की होती है ।

(१) ईर्यासमिति—छह कायों के जीवों को रक्षा करते हुए यत्नपूर्वक चलना ।

(२) भाषासमिति—हित, मित, प्रिय, सत्य एवं मर्यादा की रक्षा करते हुए यतना से बोलना ।

(३) एषणा समिति—अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का ध्यान रखते हुए आजीविका करना अथवा निर्दोष भिक्षा ग्रहण करना ।

(४) आदान-भण्डमात्र निक्षेपण समिति—भण्डोपकरण को अहिंसा एवं अपरिग्रह व्रत की रक्षा करते हुए यत्नपूर्वक उठाना और रखना ।

(५) उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्मजल्ल-मल परिष्ठापनिका समिति—मल-मूत्र, श्लेष्म, कफ़, थूक आदि को यतनापूर्वक निरवद्य स्थान पर परिष्ठापन करना तथा तीखे, विषैले एवं जीवों का संहार करने वाले तरल पदार्थों को नाली आदि में प्रवाहित न करना ।

गुप्ति—मन, वचन एवं काय से हिंसा, झूठ, चौर्य, मैथुन और परिग्रह, इन पापों का सेवन अनुकूल समय मिलने पर भी न करना गुप्ति अथवा निवृत्तिधर्म कहलाता है ।

इस प्रकार प्रशस्त में प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त से निवृत्ति पाना क्रमशः समिति और गुप्ति कहलाता है ।

(४) तपाचार—विषय-कषायादि से मन को हटाने के लिए और राग-द्वेषादि पर विजय प्राप्त करने के लिए जिन-जिन उपायों द्वारा शरीर, इन्द्रिय और मन को तपाया जाता है, या इच्छाओं पर अंकुश लगाया जाता है, वे उपाय तप कहलाते हैं। तप के द्वारा असत् प्रवृत्तियों के स्थान पर सत् प्रवृत्तियाँ जीवन में कार्य करने लगती हैं तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा मुक्त बनती है।

तप ही संवर और निर्जरा का हेतु तथा मुक्ति का प्रदाता है। इसके दो भेद हैं—बाह्य तथा आभ्यंतर। दोनों के भी छह छह प्रकार हैं। बाह्य तप के निम्न प्रकार हैं:—

(१) अनशन—संयम की पुष्टि, राग के उच्छेद और धर्म-ध्यान की वृद्धि के लिये परिमित समय या विशिष्ट परिस्थिति में आजीवन आहार का त्याग करना।

(२) ऊनोदरी—भूख से कम खाना।

(३) वृत्ति-परिसंख्यान—एक घर, एक मार्ग अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप अभिग्रह धारण करना। इसके द्वारा चित्त-वृत्ति स्थिर होती है तथा आसक्ति मिट जाती है।

(४) रसपरित्याग—रागवर्धक रसों का परित्याग करने से लोलुपता कम होती है।

(५) कायक्लेश—शीत-उष्ण परीषह सहन करना तथा आतापना लेना कायक्लेश कहलाता है। इसे तितिक्षा एवं प्रभावना के लिए करते हैं।

(६) इन्द्रियप्रतिसंलीनता—यह स्वाध्याय-ध्यान आदि की वृद्धि के लिए किया जाने वाला तप है।

आभ्यन्तर तप इस प्रकार हैं—

(१) प्रायश्चित्त—पश्चात्ताप करते हुए प्रमादजन्य पापों के निवारण के लिए यह तप किया जाता है।

(२) विनय—गुरुजनों का एवं उच्चचारित्र के धारक महापुरुषों का विनय करना तप है।

(३) वैयावृत्य—स्थविर, रुग्ण, तपस्वी, नवदीक्षित एवं पूज्य पुरुषों की यथाशक्ति सेवा करना।

(४) स्वाध्याय—पाँच प्रकार से स्वाध्याय करना। इसका महत्त्व अनुपम है।

(५) ध्यान—धर्म एवं शुक्ल ध्यान में तल्लीन होना।

(६) व्युत्सर्ग—आभ्यंतर और बाह्य उपधि का यथाशक्ति परित्याग करना। इससे ममता में कमी और समता में वृद्धि होती है।

इस प्रकार छह बाह्य एवं छह आभ्यंतर तप मुमुक्षु को मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर करते हैं।

(५) वीर्याचार—वीर्य शक्ति को कहते हैं। अपनी शक्ति अथवा बल को शुभ अनुष्ठानों में प्रवृत्त करना वीर्याचार कहलाता है। इसे तीन प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है।

(१) प्रत्येक धार्मिक कृत्य में प्रमादरहित होकर यथाशक्य प्रयत्न करना।

(२) ज्ञानाचार के आठ और दर्शनाचार के आठ भेद, पाँच समिति, तीन गुप्ति तथा तप के बारह भेदों को भलीभांति समझते हुए इन छत्तीसों प्रकार के शुभ अनुष्ठानों में यथासंभव अपनी शक्ति को प्रयुक्त करना।

(३) अपनी इन्द्रियों की तथा मन की शक्ति को मोक्ष-प्राप्ति के उपायों में सामर्थ्य के अनुसार अवश्य लगाना।

आचाराङ्ग के अन्तर्वर्ती विषय

आचारश्रुत के पठन-पाठन और स्वाध्याय से अज्ञान का नाश होता है तथा तदनुसार क्रियानुष्ठान करने से आत्मा तद्रूप यानी ज्ञान-रूप हो जाता है। कर्मों की निर्जरा, कैवल्य-प्राप्ति तथा सर्वदा के लिए सम्पूर्ण दुःखों से आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सके, इसलिए उक्त सूत्र में चरण-करण आदि की प्ररूपणा की गई है। अर्थ इस प्रकार है—

चरण—पाँच महाव्रत, दस प्रकार का श्रमण धर्म, सत्रह प्रकार का संयम, दस प्रकार का वैयावृत्त्य, नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति, रत्नत्रय, बारह प्रकार का तप, चार कषाय-निग्रह, ये सब चरण कहलाते हैं। इन्हें 'चरणसत्तरि' भी कहते हैं।

करण—चार प्रकार की पिण्डविशुद्धि, पाँच समिति, बारह भावनाएँ, बारह भिक्षुप्रतिमाएँ, पाँच इन्द्रियों का निरोध, पच्चीस प्रकार की प्रतिलेखना, तीन गुप्तियाँ तथा चार प्रकार का अभिग्रह, ये सत्तर भेद करण कहे जाते हैं। इन्हें 'करणसत्तरि' भी कहा जाता है।

आचाराङ्ग के अन्तर्वर्ती कतिपय विषयों का संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है—

गोचर—भिक्षा ग्रहण करने की शास्त्रोक्त विधि।

विनय—ज्ञानी व चारित्रवान् का सम्मान करना।

शिक्षा—ग्रहण-शिक्षा तथा आसेवन-शिक्षा, इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं का पालन करना।

भाषा—सत्य एवं व्यवहार भाषाएँ ही साधु-जीवन में बोली जानी चाहिए।

अभाषा—असत्य और मिश्र भाषाएँ वर्जित हैं।

यात्रा—संयम, तप ध्यान समाधि एवं स्वाध्याय में प्रवृत्ति करना।

मात्रा—संयम की रक्षा के लिए परिमित आहार ग्रहण करना।

वृत्ति—परिसंख्यान—विविध अभिग्रह धारण करके संयम को पुष्ट बनाना।

वाचना-सूत्र में वाचनाएँ संख्यात ही हैं। अथ से लेकर इति तक शिष्य को जितनी बार नवीन पाठ दिया, लिखा जाए, उसे वाचना कहते हैं।

अनुयोगद्वार—इस सूत्र में ऐसे संख्यात पद हैं, जिन पर उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय, ये चार अनुयोग घटित होते हैं। अनुयोग का अर्थ यहाँ प्रवचन है अर्थात् सूत्र का अर्थ के साथ संबंध घटित करना। अनुयोगद्वारों का आश्रय लेने से शास्त्र का मर्म पूरी तरह और यथार्थ रूप में समझा जाता है।

वेढ़—किसी एक विषय को प्रतिपादन करने वाले जितने वाक्य हैं उन्हें वेष्टक या वेढ कहते हैं। छन्द-विशेष को भी वेढ कहते हैं। वे भी संख्यात ही हैं।

श्लोक—अनुष्टुप आदि श्लोक भी संख्यात हैं।

निर्युक्ति—निश्चयपूर्वक अर्थ को प्रतिपादन करने वाली युक्ति, निर्युक्ति कहलाती है। ऐसी निर्युक्तियाँ संख्यात हैं।

प्रतिपत्ति—जिसमें द्रव्यादि पदार्थों की मान्यता का अथवा प्रतिमा आदि अभिग्रह विशेष का उल्लेख हो, उसे प्रतिपत्ति कहते हैं। वे भी संख्यात हैं।

उद्देशनकाल—अङ्गसूत्र आदि का पठन-पाठन करना। शास्त्रीय नियमानुसार किसी भी शास्त्र का शिक्षण गुरु की आज्ञा से होता है। शिष्य के पूछने पर गुरु जब किसी भी शास्त्र को पढ़ने की आज्ञा देते हैं, उनकी इस सामान्य आज्ञा को उद्देशन कहते हैं।

समुद्देशन काल—गुरु की विशेष आज्ञा को समुद्देशन कहते हैं, यथा "आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का अमुक अध्ययन पढ़ो।" इसे समुद्देश भी कहते हैं। अध्ययनादि विभाग के अनुसार नियत दिनों में सूत्रार्थ प्रदान की व्यवस्था पूर्वकाल में गुरुजनों ने की, जिसे उद्देशनकाल एवं समुद्देशन काल कहते हैं।

पद—इस आचार-शास्त्र में अठारह हजार पद हैं।

अक्षर—सूत्र में अक्षर संख्यात हैं।

गम—अर्थगम अर्थात् अर्थ निकालने के अनन्त मार्ग हैं। अभिधान अभिधेय के वश से गम होते हैं।

त्रस, स्थावर और पर्याय—इसमें परिमित त्रसों का वर्णन है, अनन्त स्थावरों का तथा स्व-पर भेद से अनन्त पर्यायों का वर्णन है।

शाश्वत—धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य नित्य हैं। घट-पटादि पदार्थ प्रयोगज तथा संध्याकालीन लालिमा आदि विश्रसा (स्वभाव) से होते हैं। ये भी उक्त सूत्र में वर्णित हैं। निर्युक्ति, हेतु, उदाहरण, लक्षण आदि अनेक पद्धतियों के द्वारा पदार्थों का निर्णय किया गया है।

आघविज्जंति—सूत्र में जीवादि पदार्थों का स्वरूप सामान्य तथा विशेषरूप से कथन किया गया है।

पण्णविज्जंति—नाम आदि के भेद से कहे गए हैं।

परूविज्जंति—विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किये गए हैं।

दंसिज्जंति—उपमान-उपमेय के द्वारा प्रदर्शित किए गए हैं।

निदंसिज्जंति—हेतुओं तथा दृष्टान्तों से वस्तु-तत्त्व का विवेचन किया गया है।

उवदंसिज्जंति—शिष्य की बुद्धि में शंका उत्पन्न न हो, अतः बड़ी सुगम रीति से कथन किये गए हैं।

आचारांग अर्धमागधी भाषा को समझने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। अधिकांश रचना गद्य में है पर बीच-बीच में कहीं-कहीं पद्य भी आते हैं। सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है किन्तु काल-दोष से उसका पाठ व्यवच्छिन्न हो गया है। उपधान नामक नवें अध्ययन में भगवान् महावीर की तपस्या का बड़ा ही मार्मिक विवरण है। उनके लाठ, वज्र-भूमि और शुभ्रभूमि में विहारों के बीच घोर उपसर्ग सहन करने का उल्लेख है। पहले श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन तथा चवालीस उद्देशक हैं, दूसरे श्रुतस्कन्ध में मुनि के लिये निर्दोष भिक्षा का, शय्या-संस्तरण-विहार-चातुर्मास-भाषा-वस्त्र-पात्रादि उपकरणों का वर्णन है। महाव्रत और उससे संबंधित पच्चीस भावनाओं के स्वरूप का विस्तृत वर्णन है।

(२) श्री सूत्रकृताङ्ग

८४—से किं तं सूअगडे ?

सूअगडे णं लोए सूइज्जइ, अलोए सूइज्जइ, लोआलोए सूइज्जइ जीवा सूइज्जंति अजीवा सूइज्जंति, ससमए सूइज्जइ, परसमए सूइज्जइ, ससमय-परसमए सूइज्जइ।

सूअगडे णं असीअस्स किरियावाइसयस्स, चउरासीईए अकिरिआवाईणं, सत्तट्ठीए अण्णाणिअवाईणं, बत्तीसाए वेणइअवाईणं, तिण्हं तेसट्ठाणं पासंडिअसयाणं वूहं किच्चा ससमए ठाविज्जइ।

सूअगडे णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणु-ओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए बिइए अंगे, दो सुअक्खंधा, तेवीसं अज्झयणा, तित्तीसं उद्देसणकाला, तित्तीसं समुद्देसणकाला, छत्तीसं पयसहस्साणि पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं सूयगडे। ॥ सूत्र ४७ ॥

८४—प्रश्न—सूत्रकृताङ्गश्रुत में किस विषय का वर्णन है ?

उत्तर—सूत्रकृतांग में षड्द्रव्यात्मक लोक सूचित किया जाता है, केवल आकाश द्रव्यमय अलोक सूचित किया जाता है। लोकालोक दोनों सूचित किये जाते हैं। इसी प्रकार जीव, अजीव और जीवाजीव की सूचना दी जाती है। स्वमत, परमत और स्व-परमत की सूचना दी जाती है।

सूत्रकृतांग में एक सौ अस्सी क्रियावादियों के, चौरासी अक्रियावादियों के, सड़सठ अज्ञानवादियों और बत्तीस विनयवादियों के, इस प्रकार तीन सौ त्रेसठ पाखंडियों का निराकरण करके स्वसिद्धांत की स्थापना की जाती है।

सूत्रकृताङ्ग में परिमित वाचनाएँ हैं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ और संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं।

यह अङ्ग अर्थ की दृष्टि से दूसरा है। इसमें दो श्रुतस्कंध और तेईस अध्ययन हैं। तेतीस उद्देशनकाल और तेतीस समुद्देशनकाल हैं। सूत्रकृतांग का पद-परिणाम छत्तीस हज़ार है। इसमें संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। धर्मास्तिकाय आदि शाश्वत, प्रयत्नजन्य, या प्रकृतिजन्य, निवद्ध एवं हेतु आदि द्वारा सिद्ध किए गए जिन-प्रणीत भाव कहे जाते हैं तथा इनका प्रज्ञापन, प्ररूपण, निदर्शन और उपदर्शन किया गया है।

सूत्रकृतांग का अध्ययन करने वाला तद्रूप अर्थात् सूत्रगत विषयों में तल्लीन होने से तदाकार आत्मा, ज्ञाता एवं विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार से इस सूत्र में चरण-करण की प्ररूपणा कही जाती है।

यह सूत्रकृतांग का वर्णन है।

विवेचन—'सूच्' सूचायां धातु से 'सूत्रकृत' शब्द वनता है। इसका अर्थ है, जो समस्त जीवादि पदार्थों का वोध कराता है वह सूचकृत है। अथवा सूचनात् सूत्रम्, जो मोहनिद्रा में सुप्त या पथभ्रष्ट प्राणियों को जगाकर सन्मार्ग बताए, वह सूत्रकृत कहलाता है। या, जिस प्रकार विखरे हुए मोतियों को सूत्र यानी धागे में पिरोकर एकत्रित किया जाता है, उसी प्रकार जिसके द्वारा नाना विषयों को तथा मत-मतान्तरों की मान्यताओं को क्रमबद्ध किया जाता है, उसे भी सूत्रकृत कहते हैं। सूत्रकृतांग में विभिन्न विचारकों की मान्यताओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

सूत्रकृत में लोक, अलोक तथा लोकालोक के स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। शुद्ध जीव परमात्मा है, शुद्ध अजीव जड़ पदार्थ है और संसारी जीव, शरीर से युक्त होने के कारण जीवाजीव कहलाते हैं। कोई द्रव्य न अपना स्वरूप छोड़ता है और न ही दूसरे के स्वरूप को अपनाता है। यही द्रव्य का द्रव्यत्व है।

उक्त सूत्र में मुख्यतया स्वदर्शन, अन्यदर्शन तथा स्व-परदर्शनों का विवेचन किया गया है। अन्य दर्शनों का वर्गीकरण क्रियावादी, अक्रियावादी अज्ञानवादी तथा विनयवादी, इस प्रकार चार मतों में होता है। इनका विवरण संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार से है—

(१) क्रियावादी—क्रियावादी नौ तत्त्वों को कथंचित् विपरीत समझते हैं तथा धर्म के आंतरिक स्वरूप की यथार्थता को न जानने के कारण प्रायः वाह्य क्रियाकाण्ड के पक्षपाती रहते हैं। अतः क्रियावादी कहलाते हैं। वैसे इन्हें प्रायः आस्तिक ही माना जाता है।

(२) अक्रियावादी—अक्रियावादी नव तत्त्व या चारित्ररूप क्रिया का निषेध करते हैं। इनकी गणना प्रायः नास्तिकों में होती है। स्थानाङ्गसूत्र के आठवें स्थान में आठ प्रकार के अक्रियावादियों का उल्लेख है। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) एकवादी—कुछ विचारकों का मत है कि विश्व में जड़ पदार्थ के अलावा अन्य कुछ भी नहीं है, जो कुछ भी है मात्र जड़ ही है। आत्मा, परमात्मा या धर्म नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। शब्दाद्वैतवादी एकमात्र शब्द की ही सत्ता मानते हैं। ब्रह्माद्वैतवादियों ने एकमात्र ब्रह्म के सिवाय अन्य समस्त द्रव्यों का निषेध किया है। उनका कथन है—"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।" या—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

अर्थात्—जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा सभी जलाशयों में तथा दर्पणादि स्वच्छ पदार्थों में प्रतिविम्वित होता है, वैसे ही समस्त शरीरों में एक ही आत्मा है।

उपर्युक्त सभी मतवादियों का समावेश एकवादी में हो जाता है।

(२) अनेकवादी—जितने धर्म हैं उतने ही धर्मी हैं, जितने गुण हैं उतने ही गुणी हैं, जितने अवयव हैं, उतने ही अवयवी हैं। ऐसी मान्यता रखनेवाले को अनेकवादी कहते हैं। वे वस्तुगत अनन्त पर्याय होने से वस्तु को भी अनन्त मानते हैं।

(३) मितवादी—मितवादी लोक को सप्तद्वीप समुद्र तक ही सीमित मानते हैं, आगे नहीं। वे आत्मा को अंगुष्ठप्रमाण या श्यामाक तण्डुल प्रमाण मानते हैं, शरीरप्रमाण या लोकप्रमाण नहीं। तथा दृश्यमान जीवों को ही आत्मा मानते हैं, अनन्त-अनन्त नहीं।

(४) निर्मितवादी—ईश्वरवादी सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता ईश्वर को ही मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार यह विश्व किसी न किसी के द्वारा निर्मित है। शैव शिव को, वैष्णव विष्णु को और कोई ब्रह्मा को सृष्टि का निर्माता मानते हैं। दैवी भागवत में शक्ति—देवी को ही निर्मात्री माना है। इस प्रकार उक्त सभी मतवादियों का समावेश इस भेद में हो जाता है।

(५) सातावादी—इनकी मान्यता है कि सुख का वीज सुख है और दुःख का बीज दुःख है। इनके कथनानुसार इन्द्रियों के द्वारा वैषयिक सुखों का उपभोग करने से प्राणी भविष्य में भी सुखी हो सकता है और इसके विपरीत तप, संयम, नियम एवं ब्रह्मचर्य आदि से शरीर और मन को दुःख पहुँचाने से जीव परभव में भी दुःख पाता है। तात्पर्य यह है कि शरीर और मन को साता पहुँचाने से ही जीव भविष्य में सुखी हो सकता है।

(६) समुच्छेदवादी—समुच्छेदवाद अर्थात् क्षणिकवाद, इसे माननेवाले आत्मा आदि सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। निरन्वय नाश इनकी मान्यता है।

(७) नित्यवादी—नित्यवाद के पक्षपाती कहते हैं—प्रत्येक वस्तु एक ही स्वरूप में अवस्थित रहती है। उनके विचार से वस्तु में उत्पाद-व्यय नहीं होता तथा वस्तु परिणामी नहीं वरन् कूटस्थ नित्य है। जैसे असत् को उत्पत्ति नहीं होती, इसी प्रकार सत् का विनाश भी नहीं होता। प्रत्येक परमाणु सदा से जैसा चला आ रहा है, भविष्य में भी सर्वथा वैसा ही रहेगा। ऐसी मान्यता रखने वाले अन्य वादी भी इस भेद में समाविष्ट हो जाते हैं। इन्हें विवर्त्तक भी कहते हैं।

(८) न संति परलोकवादी—आत्मा ही नहीं तो परलोक कैसे होगा! आत्मा के न होने से पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, शुभ-अशुभ, कोई भी कर्म नहीं है, अतः परलोक मानना भी निरर्थक है। इसके अलावा शांति मोक्ष को कहते हैं, जो आत्मा को तो मानते हैं किन्तु कहते हैं कि आत्मा अल्पज्ञ है, वह कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। अतः संसारी आत्मा कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। अथवा इस लोक में ही शांति या सुख है। इस प्रकार परलोक, पुनर्जन्म तथा मोक्ष के निषेधक जितने भी विचारक हैं, सबका समावेश उपर्युक्त वादियों में हो जाता है।

(३) अज्ञानवादी—ये अज्ञान से ही लाभ मानते हैं। इनका कथन है कि जिस प्रकार अबोध वालक के किए हुए अपराधों को प्रत्येक वड़ा व्यक्ति क्षमा कर देता है, उसे कोई दण्ड नहीं देता,

इसी प्रकार अज्ञान दशा में रहने से ईश्वर भी सभी अपराधों को क्षमा कर देता है। इससे विपरीत ज्ञान दशा में किये गए सम्पूर्ण अपराधों का फल भोगना निश्चित है, अतः अज्ञानी ही रहना चाहिए। ज्ञान से राग-द्वेष आदि की वृद्धि होती है।

(४) विनयवादी—इनका मत है कि प्रत्येक प्राणी, चाहे वह गुणहीन, शूद्र, चाण्डाल या अज्ञानी हो, अथवा पशु, पक्षी, साँप, बिच्छू या वृक्ष आदि हो, सभी वंदनीय हैं। इन सबकी विनय-भाव से वंदना-प्रार्थना करनी चाहिए। ऐसा करने पर ही जीव परम-पद को प्राप्त कर सकता है।

प्रस्तुत सूत्र में विभिन्न दर्शनों का विस्तृत विवेचन किया है। क्रियावादियों के एक सौ अस्सी प्रकार हैं, अक्रियावादियों के चौरासी, अज्ञानवादियों के सड़सठ और विनयवाद के बत्तीस, इस प्रकार कुल तीन सौ त्रेसठ भेद होते हैं।

प्रस्तुत सूत्र के दो स्कन्ध हैं। पहले स्कंध में तेईस अध्ययन और तेतीस उद्देशक हैं। दूसरे श्रुतस्कंध में सात अध्ययन तथा सात ही उद्देशक हैं। पहला श्रुतस्कंध पद्यमय है केवल सोलहवें अध्ययन में गद्य का प्रयोग हुआ है। दूसरे श्रुतस्कंध में गद्य तथा पद्य दोनों हैं। गाथा और छंदों के अतिरिक्त अन्य छंदों का भी उपयोग किया गया है। इसमें वाचनाएँ संख्यात हैं तथा अनुयोगद्वार, प्रतिपत्ति, वेष्टक, श्लोक, निर्युक्तियाँ और अक्षर, सभी संख्यात हैं। छत्तीस हजार पद हैं। परिमित त्रस और अनन्त स्थावर जीवों का वर्णन है।

सूत्र में मुनियों को भिक्षाचरी में सतर्कता, परीषह-उपसर्गों में सहनशीलता, नारकीय दुःख, महावीर स्तुति, उत्तम साधुओं के लक्षण, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षुक तथा निर्ग्रंथ आदि शब्दों की परिभाषा युक्ति, दृष्टान्त और उदाहरणों के द्वारा समझाई गई है।

दूसरे श्रुतस्कंध में जीव एवं शरीर के एकत्व, ईश्वर-कर्तृत्व और नियतिवाद आदि मान्यताओं का युक्तिपूर्वक खण्डन किया गया है। पुण्डरीक के उदाहरण से अन्य मतों का युक्तिसंगत उल्लेख करते हुए स्वमत की स्थापना की गई है। तेरह क्रियाओं का प्रत्याख्यान, आहार आदि का विस्तृत वर्णन है। पाप-पुण्य का विवेक, आर्द्रककुमार के साथ गोशालक, शाक्यभिक्षु, तापसों से हुए वाद-विवाद, आर्द्रकुमार के जीवन से संबंधित विरक्तता तथा सम्यक्त्व में दृढता का रुचिकर वर्णन है। अंतिम अध्ययन में नालंदा में हुए गौतम स्वामी एवं उदकपेढालपुत्र का वार्तालाप और अन्त में पेढालपुत्र के पंचमहाव्रत स्वीकार करने का सुन्दर वृत्तान्त है।

सूत्रकृताङ्ग के अध्ययन से स्वमत-परमत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आत्म-साधना की वृद्धि तथा सम्यक्त्व की दृढता के लिए यह अङ्ग अति उपयोगी है। इस पर भद्रबाहुकृत निर्युक्ति, जिनदासमहत्तरकृत चूर्णि और शीलांकाचार्य की बृहद्वृत्ति भी उपलब्ध है।

(३) श्री स्थानाङ्गसूत्र

८५—से किं तं ठाणे ?

ठाणे णं जीवा ठाविज्जंति अजीवा ठाविज्जंति, जीवाजीवा ठाविज्जंति, ससमये ठाविज्जइ, परसमये ठाविज्जइ, ससमय-परसमए ठाविज्जइ, लोए ठाविज्जइ, अलोए ठाविज्जइ, लोआलोए ठाविज्जइ।

ठाणे णं टंका, कूडा, सेला, सिहरिणो, पब्भारा, कुण्डाइं, गुहाओ, आगरा, दहा, नईओ, आघविज्जंति। ठाणे णं परित्ता वायणा, संखज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए तइए अंगे, एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, एगवीसं उद्देसणकाला, एक्कवीसं समुद्देसणकाला, बावत्तरिपयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पण्णविज्जंति परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करण-परूवणा आघविज्जइ।

से त्तं ठाणें। ।। सूत्र ४८ ।।

८५—प्रश्न—भगवन्! स्थानाङ्गश्रुत क्या है?

उत्तर—स्थानांग में अथवा स्थानाङ्ग के द्वारा जीव स्थापित किए जाते हैं, अजीव स्थापित किए जाते हैं और जीवाजीव की स्थापना की जाती है। स्वसमय-जैन सिद्धांत की स्थापना की जाती है, परसमय-जैनेतर सिद्धान्तों की स्थापना की जाती है एवं जैन व जैनेतर, उभय पक्षों की स्थापना की जाती है। लोक, अलोक और लोकालोक की स्थापना की जाती है।

स्थान में या स्थानाङ्ग के द्वारा टङ्क—छिन्नतट पर्वत, कूट, पर्वत, शिखर वाले पर्वत, कूट के ऊपर कुब्जाग्र की भांति अथवा पर्वत के ऊपर हस्तिकुम्भ की आकृति सदृश्य कुब्ज, गङ्गाकुण्ड आदि कुण्ड, पौण्डरीक आदि ह्रद-तालाब, गङ्गा आदि नदियों का कथन किया जाता है। स्थानाङ्ग में एक से लेकर दस तक वृद्धि करते हुए भावों की प्ररूपणा की गई है।

स्थानांग सूत्र में परिमित वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ-छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ और संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं।

वह अङ्गार्थ से तृतीय अङ्ग है। इसमें एक श्रुतस्कंध और दस अध्ययन हैं तथा इक्कीस उद्देशनकाल और इक्कीस ही समुद्देशनकाल हैं। पदों की संख्या बहत्तर हज़ार है। संख्यात अक्षर तथा अनन्त गम हैं। अनन्त पर्याय, परिमित-त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिनकथित भाव कहे जाते हैं। उनका प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन किया गया है।

स्थानाङ्ग का अध्ययन करनेवाला तदात्मरूप, ज्ञाता एवं विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार उक्त अङ्ग में चरण-करणानुयोग की प्ररूपणा की गई है।

यह स्थानाङ्गसूत्र का वर्णन है।

विवेचन—इस सूत्र में एक से लेकर दस स्थानों के द्वारा जीवादि पदार्थ व्यवस्थापित किए गए हैं। संक्षेप में, जीवादि पदार्थों का वर्णन किया गया है। यह अंग दस अध्ययनों में बँटा हुआ है। सूत्रों की संख्या हज़ार से अधिक है। इसमें इक्कीस उद्देशक हैं। इस अंग की रचना पूर्वोक्त दो अङ्गों से भिन्न प्रकार की है। इसमें प्रत्येक अध्ययन में, जो 'स्थान' नाम से कहे गए हैं, अध्ययन (स्थान) की संख्या के अनुसार ही वस्तु संख्या बताई गई है। यथा—

(१) प्रथम अध्ययन में 'एगे आया' आत्मा एक है, इसी प्रकार अन्य एक-एक प्रकार के पदार्थों का वर्णन किया गया है।

(२) दूसरे अध्ययन में दो-दो पदार्थों का वर्णन है। यथा—जीव और अजीव, पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म, आदि।

(३) तीसरे अध्ययन में ज्ञान, दर्शन, चारित्र का निरूपण है। तीन प्रकार के पुरुष-उत्तम, मध्यम और जघन्य तथा श्रुतधर्म, चारित्रधर्म और अस्तिकायधर्म, इस प्रकार तीन प्रकार के धर्म आदि बताए गये हैं।

(४) चौथे अध्ययन में चातुर्याम धर्म आदि तथा सात सौ चतुर्भङ्गियों का वर्णन है।

(५) पाँचवें में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच गति, तथा पाँच इन्द्रिय इत्यादि का वर्णन है।

(६) छठे स्थान में छह काय, छह लेश्याएँ, गणी के छह गुण, षड्द्रव्य तथा छह आरे आदि के विषय में निरूपण है।

(७) सातवें स्थान में सर्वज्ञ के और अल्पज्ञों के सात-सात लक्षण, सप्त स्वरों के लक्षण, सात प्रकार का विभंग ज्ञान, आदि अनेकों पदार्थों का वर्णन है।

(८) आठवें स्थान में आठ विभक्तियों का विवरण, आठ अवश्य पालनीय शिक्षाएँ तथा अष्ट संख्यक और भी अनेकों शिक्षाओं के साथ एकलविहारी के अनिवार्य आठ गुणों का वर्णन है।

(९) नवें स्थान में ब्रह्मचर्य की नव वाड़ें तथा भगवान् महावीर के शासन में जिन नौ व्यक्तियों ने तीर्थंकर नाम गोत्र बाँधा है और अनागत काल की उत्सर्पिणी में तीर्थंकर बनने वाले हैं, उनके विषय में बताया गया है। इनके अतिरिक्त नौ-नौ संख्यक और भी अनेक हेय, ज्ञेय एवं उपादेय शिक्षाएँ वर्णित हैं।

(१०) दसवें स्थान में दस चित्तसमाधि, दस स्वप्नों का फल, दस प्रकार का सत्य, दस प्रकार का ही असत्य; दस प्रकार की मिश्र भाषा, दस प्रकार का श्रमणधर्म तथा वे दस स्थान जिन्हें अल्पज्ञ नहीं जानते हैं, आदि दस संख्यक अनेकों विषयों का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार इस सूत्र में नाना प्रकार के विषयों का संग्रह है। दूसरे शब्दों में इसे भिन्न-भिन्न विषयों का कोष भी कहा जा सकता है। जिज्ञासु पाठकों के लिए यह अङ्ग अवश्यमेव पठनीय है।

(४) श्री समवायाङ्ग सूत्र

८६—से किं तं समवाए?

समवाए णं जीवा समासिज्जंति, अजीवा समासिज्जंति जीवाजीवा समासिज्जंति, ससमए समासिज्जइ, परसमए समासिज्जइ, ससमय-परसमए समासिज्जइ, लोए समासिज्जइ, अलोए समासिज्जइ, लोआलोए समासिज्जइ।

समवाए णं इगाइआणं एगुत्तरिआण ठाण-सय-विवड्ढिआणं भावाणं परूवणा आघविज्जइ, दुवालसविहस्स य गणिपिडगस्स पल्लवग्गे समासिज्जइ।

समवायस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए चउत्थे अंगे, एगे सुअक्खंधे, एगे अज्झयणे, एगे उद्देसणकाले, एगे समुद्देसण-काले, एगे चोआलसयसहस्से पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निवद्ध-निकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं समवाए। ॥ सूत्र ४९ ॥

८६—प्रश्न—समवायश्रुत का विषय क्या है?

उत्तर—समवायाङ्ग सूत्र में यथावस्थित रूप से जीवों, अजीवों और जीवाजीवों का आश्रयण किया गया है अर्थात् इनकी सम्यक् प्ररूपणा की गई है। स्वदर्शन, परदर्शन और स्व-परदर्शन का आश्रयण किया गया है। लोक अलोक और लोकालोक आश्रयण किये जाते हैं।

समवायाङ्ग में एक से लेकर सौ स्थान तक भावों की प्ररूपणा की गई है और द्वादशाङ्ग गणिपिटक का संक्षेप में परिचय-आश्रयण किया गया है अर्थात् वर्णन किया गया है।

समवायाङ्ग में परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ तथा संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं।

यह अङ्ग की अपेक्षा से चौथा अङ्ग है। एक श्रुतस्कंध; एक अध्ययन, एक उद्देशनकाल और एक समुद्देशनकाल है। इसका पदपरिमाण एक लाख चवालीस हजार है। संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर तथा शाश्वत-कृत-निवद्ध-निकाचित जिन-प्ररूपित भाव, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से स्पष्ट किये गए हैं।

समवायाङ्ग का अध्ययन करने वाला तदात्मरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार समवायाङ्ग में चरण-करण की प्ररूपणा की गई है।

यह समवायाङ्ग का निरूपण है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में समवायश्रुत का संक्षिप्त परिचय दिया है। जिसमें जीवादि पदार्थों का निर्णय हो उसे समवाय कहते हैं। समासिज्जंति आदि पदों का भाव यह है कि सम्यक् ज्ञान से ग्राह्य पदार्थों को स्वीकार किया जाता है अथवा जीवादि पदार्थ कुप्ररूपणा से निकाल कर सम्यक् प्ररूपण में समाविष्ट किये जाते हैं।

सूत्र में जीव, अजीव तथा जीवाजीव, जैनदर्शन, इतरदर्शन, लोक, अलोक, इत्यादि विषय स्पष्ट किए गए हैं। तत्पश्चात् एक अंक से लेकर सौ अंक तक जो-जो विषय जिस-जिस अंक में समाहित हो सकते हैं, उनका विस्तृत वर्णन दिया गया है।

इसमें दो सौ पचहत्तर सूत्र हैं। स्कंध, वर्ग, अध्ययन, उद्देशक आदि भेद नहीं हैं। स्थानाङ्गसूत्र के समान इसमें भी संख्या के क्रम से वस्तुओं का निर्देश निरन्तर सौ तक करने के बाद दो सौ, तीन

सौ, चार सौ, इसी क्रम से हजार तक विषयों का वर्णन किया है। और संख्या बढ़ते हुए कोटि पर्यन्त चली गई है।

इसके बाद द्वादशाङ्ग गणिपिटक का संक्षिप्त परिचय और त्रेसठ शलाका पुरुषों के नाम, माता-पिता, जन्म, नगर, दीक्षास्थान आदि का वर्णन है।

(५) श्री व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र

८७—से किं तं विवाहे ?

विवाहे णं जीवा विआहिज्जंति, अजीवा विआहिज्जंति, जीवाजीवा विआहिज्जंति, ससमए विआहिज्जति, परसमए विआहिज्जति ससमय-परसमए विआहिज्जति, लोए विआहिज्जति, अलोए विआहिज्जति लोयालोए विआहिज्जति।

विवाहस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए पंचमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, एगे साइरेगे अज्झयणसए, दस उद्देसगसहस्साइं, दस समुद्देसगसहस्साइं, छत्तीसं वागरणसहस्साइं, दो लक्खा अट्ठासीई पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिण-पण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं विवाहे। ॥ सूत्र ५० ॥

८७—व्याख्याप्रज्ञप्ति में क्या वर्णन है ?

उत्तर—व्याख्याप्रज्ञप्ति में जीवों की, अजीवों की तथा जीवाजीवों की व्याख्या की गई है। स्वसमय, परसमय और स्व-पर-उभय सिद्धान्तों की व्याख्या तथा लोक अलोक और लोकालोक के स्वरूप का व्याख्यान किया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में परिमित वाचनाएँ, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ-श्लोक विशेष, संख्यात निर्युक्तियां, संख्यात संग्रहणियां और संख्यात प्रतिपत्तियां हैं।

अङ्ग-रूप से यह व्याख्याप्रज्ञप्ति पाँचवाँ अंग है। एक श्रुतस्कंध, कुछ अधिक एक सौ अध्ययन हैं। दस हजार उद्देश, दस हजार समुद्देश, छत्तीस हजार प्रश्नोत्तर और दो लाख अट्ठासी हजार पद परिमाण है। संख्यात अक्षर, अनन्त गम और अनन्त पर्याय हैं। परिमित त्रस, अनन्त स्थावर, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिनप्रज्ञप्त भावों का कथन, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन तथा उपदर्शन किया गया है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति का अध्येता तदात्मरूप एवं ज्ञाता-विज्ञाता बन जाता है। इस प्रकार इसमें चरण-करण की प्ररूपणा की गई है।

यह व्याख्याप्रज्ञप्ति का स्वरूप है।

विवेचन—इस सूत्र में व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसमें इकतालीस शतक, दस हजार उद्देशक, छत्तीस हजार प्रश्न तथा उन सबके उत्तर हैं। प्रारम्भ के आठों शतक तथा बारहवाँ, चौदहवाँ, अठारहवाँ और बीसवाँ, ये सभी शतक दस-दस उद्देशकों में विभाजित हैं। पन्द्रहवें शतक में उद्देशक भेद नहीं है। सूत्रों की संख्या आठ सौ सड़सठ है। प्रश्नोत्तर के रूप में विषयों का विवेचन किया गया है।

इस अङ्गसूत्र में सभी प्रश्न गौतम स्वामी के किए हुए नहीं हैं अपितु इन्द्रों के, देवताओं के, मुनियों के, संन्यासियों के तथा श्रावकादिकों के भी हैं और उत्तर भी केवल भगवान् महावीर के दिये हुए नहीं, वरन गौतम आदि मुनिवरों के और कहीं-कहीं श्रावकों के दिए हुए भी हैं। यह सूत्र अन्य सूत्रों से विशाल है। इसमें पण्णवणा जीवाभिगम, उववाई, राजप्रश्नीय, आवश्यक, नन्दी तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि सूत्रों के नामोल्लेख व इनके उद्धरण भी दिये गए हैं। सैद्धान्तिक, ऐतिहासिक, द्रव्यानुयोग तथा चरण-करणानुयोग की भी इसमें विस्तृत व्याख्या है। बहुत से विषय ऐसे भी हैं जिन्हें न समझ पाने से जिज्ञासु को भ्रम या सन्देह हो सकता है अतः उन्हें सूत्रों के विशेषज्ञों से समझना चाहिये।

(६) श्री ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र

८८—से किं तं नायाधम्मकहाओ ?

नायाधम्मकहासु णं नायाणं नगराइं, उज्जाणाइं चेइयाइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया धम्मकहाओ, इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, परिआया, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चायाइओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरिआओ अ आघविज्जंति।

दस धम्मकहाणं वग्गा, तत्थ णं एगमेगाए धम्म-कहाए पंच-पंच अक्खाइआसयाइं, एगमेगाए अक्खाइआए पंच-पंचउवक्खाइआसयाइं, एगमेगाए उवक्खाइआए पंच-पंच अक्खाइया-उवक्खाइआसयाइं, एवमेव सपुव्वावरेणं अद्धुट्ठाओ कहाणगकोडीओ हवंति त्ति समक्खायं।

नायाधम्मकहाणं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निजुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए छट्ठे अंगे, दो सुअक्खंधा, एगुणवीसं अज्झयणा, एगुणवीसं उद्देसणकाला, एगुणवीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ, जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विण्णाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं नायाधम्मकहाओ। ॥ सूत्र ५१ ॥

८८—शिष्य ने पूछा—भगवन् ! ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र किस प्रकार है—उसमें क्या वर्णन है ?

आचार्य ने उत्तर दिया—ज्ञाताधर्मकथा में ज्ञातों के नगरों, उद्यानों, चैत्यों, वनखण्डों व भगवान् के समवसरणों का तथा राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक संबंधी ऋद्धि विशेष, भोगों का परित्याग, दीक्षा, पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधान-तप, संलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोक-गमन, पुनः उत्तमकुल में जन्म, पुनः सम्यक्त्व की प्राप्ति, तत्पश्चात् अन्तक्रिया कर मोक्ष की उपलब्धि इत्यादि विषयों का वर्णन है।

धर्मकथाङ्ग के दस वर्ग हैं और एक-एक धर्मकथा में पाँच-पाँच सौ आख्यायिकाएँ हैं। एक-एक आख्यायिका में पाँच-पाँच सौ उपाख्यायिकाएँ और एक-एक उपाख्यायिका में पाँच-पाँच सौ आख्यायिका-उपाख्यायिकाएँ हैं। इस प्रकार पूर्वापर कुल साढ़े तीन करोड़ कथानक हैं, ऐसा कथन किया है।

ज्ञाताधर्मकथा में परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ और संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं।

अङ्ग की अपेक्षा से ज्ञाताधर्मकथाङ्ग छठा अंग है। इसमें दो श्रुतस्कन्ध, उन्नीस अध्ययन, उन्नीस उद्देशनकाल, उन्नीस समुद्देशनकाल तथा संख्यात सहस्रपद हैं। संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन-प्रतिपादित भाव, कथन, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से स्पष्ट किए गए हैं।

प्रस्तुत अङ्ग का पाठक तदात्मरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार ज्ञाताधर्मकथा में चरण-करण की विशिष्ट प्ररूपणा की गई है। यही इसका स्वरूप है।

विवेचन—इस छठे अङ्गश्रुत का नाम ज्ञाता-धर्मकथा है। 'ज्ञाता' शब्द यहाँ उदाहरणों के लिए प्रयुक्त किया गया है। इसमें इतिहास, दृष्टान्त तथा उदाहरण, इन सभी का समावेश हो जाता है। इस अङ्ग में इतिहास, उदाहरण और धर्मकथाएँ दी गई हैं। इसलिये इसका नाम ज्ञाताधर्मकथा है। इसके पहले श्रुतस्कंध में ज्ञात (उदाहरण) और दूसरे श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाएँ हैं। इतिहास प्रायः वास्तविक होते हैं किन्तु दृष्टान्त, उदाहरण और कथा-कहानियाँ वास्तविक भी हो सकती हैं और काल्पनिक भी। सम्यक्दृष्टि प्राणी के लिए ये सभी धर्मवृद्धि के कारण बन जाते हैं तथा मिथ्यादृष्टि के लिए पतन के कारण बनते हैं। ऐसा दृष्टिभेद के कारण होता है। सम्यक्दृष्टि अमृत को अमृत मानता ही है, वह विष को भी अपने ज्ञान से अमृत बना लेता है, किन्तु इसके विपरीत मिथ्यादृष्टि अमृत को विष और विष को अमृत समझ लेता है।

ज्ञाताधर्मकथा में पहले श्रुतस्कंध में उन्नीस अध्ययन और दूसरे श्रुतस्कंध में दस वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में अनेक-अनेक अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन में एक कथानक और अन्त में उससे मिलने वाली शिक्षाएँ बताई गई हैं। कथाओं में पात्रों के नगर, प्रासाद, चैत्य, समुद्र, उद्यान, स्वप्न, धर्म-साधना के प्रकार और संयम से विचलित होकर पुनः सम्भल जाना, अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व के लोगों का जीवन, वे सुमार्ग से कुमार्ग में और कुमार्ग से सुमार्ग में कैसे लगे? धर्म के आराधक किस प्रकार बने? या विराधक कैसे हो गये? उनके अगले जन्म कहाँ और किस प्रकार होंगे? इन सभी प्रश्नों का और विषयों का इस सूत्र में विस्तृत वर्णन दिया गया है।

इसी सूत्र में कुछ इतिहास महावीर के युग का, कुछ तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय का, कुछ

पार्श्वनाथ के शासनकाल का और कुछ महाविदेह क्षेत्र से सम्बन्धित है। आठवें अध्ययन में तीर्थंकर मल्लिनाथ के पँच कल्याणकों का वर्णन है तथा सोलहवें अध्ययन में द्रौपदी के पिछले जन्म की कथा ध्यान देने योग्य है तथा उसके वर्तमान और भावी जीवन का भी विवरण है। दूसरे स्कन्ध में केवल पार्श्वनाथ स्वामी के शासनकाल में साध्वियों के गृहस्थजीवन, साध्वीजीवन और भविष्य में होने वाले जीवन का सुन्दर ढंग से वर्णन है। ज्ञाताधर्मकथाङ्ग श्रुत की भाषा-शैली अत्यन्त रुचिकर है तथा प्रायः सभी रसों का इसमें वर्णन मिलता है। शब्दालंकार और अर्थालंकारों ने सूत्र की भाषा को सरस और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। शेष परिचय भावार्थ में दिया जा चुका है।

७ श्री उपासकदशाङ्ग सूत्र

८६—से किं तं उवासगदसाओ ?

उवासगदसासु णं समणोवासयाणं नगराइं, उज्जाणाणि, चेइयाइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआ इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया, पव्वज्जाओ, परियागा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववास-पडिवज्जणया, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरिआओ अ आघविज्जंति।

उवासगदसासु परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, दस अज्झयणा, दस उद्देसणकाला, दस समुद्देसणकाला संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिण-पण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं उवासगदसाओ। ॥ सूत्र ५२ ॥

८७—प्रश्न—वह उपासकदशा नामक अंग किस प्रकार का है ?

उत्तर—उपासकदशा में श्रमणोपासकों के नगर, उद्यान, व्यन्तरायतन, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक और परलोक की ऋद्धिविशेष, भोग-परित्याग, दीक्षा, संयम की पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधानतप, शीलव्रत-गुणव्रत, विरमणव्रत-प्रत्याख्यान, पौषधोपवास का धारण करना, प्रतिमाओं का धारण करना, उपसर्ग, संलेखना, अनशन, पादपोपगमन, देवलोक-गमन, पुनः सुकुल में उत्पत्ति, पुनः बोधि-सम्यक्त्व का लाभ और अन्तक्रिया इत्यादि विषयों का वर्णन है।

उपासकदशा की परिमित वाचनाएँ, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ (छन्द विशेष) संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ, और संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं।

वह अंग की अपेक्षा से सातवाँ अंग है। उसमें एक श्रुतस्कंध, दस अध्ययन, दस उद्देशनकाल और दस समुद्देशनकाल हैं। पद-परिमाण से संख्यात-सहस्र पद हैं। संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस तथा अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन प्रतिपादित भावों का सामान्य और विशेष रूप से कथन, प्ररूपण, प्रदर्शन, निदर्शन और उपदर्शन किया है।

इसका सम्यक्रूपेण अध्ययन करने वाला तद्रूप-आत्म ज्ञाता और विज्ञाता बन जाता है। उपासकदशांग में चरण-करण की प्ररूपणा की गई है।

यह उपासकदशा श्रुत का विषय है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में उपासकों की चर्य्या का वर्णन है, इसलिए इसका नाम 'उपासकदशा' दिया गया है। श्रमण भगवान् महावीर के दस विशिष्ट श्रावकों का इसमें वर्णन है, इसलिए भी यह उपासकदशाङ्ग कहलाता है। श्रमणों की, यानी साधुओं की सेवा करने वाले श्रमणोपासक कहे जाते हैं। सूत्र में दस अध्ययन हैं तथा प्रत्येक अध्ययन में एक-एक श्रावक के लौकिक और लोकोत्तर वैभव का वर्णन है। इसमें उपासकों के अणुव्रत और शिक्षाव्रतों का स्वरूप भी बताया गया है।

प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि भगवान् महावीर के तो एक लाख और उनसठ हजार, बारह-व्रतधारी श्रावक थे। फिर केवल दस श्रावकों का ही वर्णन क्यों किया गया? प्रश्न उचित और विचारणीय है। इसका उत्तर यह है कि सूत्रकारों ने जिन श्रावकों के लौकिक और लोकोत्तरिक जीवन में समानता देखी, उनका ही उल्लेख इसमें किया गया है। जैसे. उपासकदशाङ्ग में वर्णित दसों श्रावक कोटयधीश थे, राजा और प्रजा के प्रिय थे। सभी के पास पाँचसौ हल की जमीन और गोजाति के अलावा कोई भी अन्य पशु नहीं थे। उनके व्यापार में जितने करोड़ द्रव्य लगा हुआ था, उतने ही गायों के व्रज थे। दसों श्रावकों ने महावीर भगवान् के प्रथम उपदेश से ही प्रभावित होकर बारह व्रत धारण किए थे तथा पन्द्रहवें वर्ष में गृहस्थ के व्यापारों से अलग होकर पौषधशाला में रहकर धर्माराधना की थी और पन्द्रहवें वर्ष के कुछ मास बीतने पर ग्यारह प्रतिमाएँ धारणकर उनकी आराधना प्रारम्भ कर दो थो। यहाँ पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि उनकी आयु लौकिक व्यवहार में व्यतीत हुई, उसकी गणना नहीं की गई है अपितु जबसे उन्होंने बारह व्रत धारण किए, तभी से आयु का उल्लेख किया गया है। सूत्र में वर्णित सभी श्रावकों ने एक-एक महीने का संथारा किया, सभी प्रथम देवलोक में देव हुए तथा चार पल्योपम की स्थिति प्राप्त की और आगे महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध-पद प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार लगभग सभी दृष्टियों से उनका जीवन समान था और इसीलिए उन्हीं दस का उपासकदशांग में वर्णन किया गया है। अन्य उपासकों में इतनी समानता न होने से सम्भवतः उनका उल्लेख नहीं है। सूत्र का शेष परिचय भावार्थ में दिया जा चुका है।

(८) श्री अन्तकृद्दशाङ्ग सूत्र

९०—से किं तं अंतगडदसाओ?

अंतगडदसासु णं अंतगडाणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइआइं, वणसंडाइं समोसरणाइं, रायाणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिया, धम्मकहाओ, इहलोइअ-परलोइआ इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चाया,

पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं अंतकिरिआओ आघविज्जंति।

अंतगडदसासु णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, अट्ठ वग्गा, अट्ठ उद्देसणकाला, अट्ठ समुद्देसणकाला संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं अंतगडदसाओ। ॥ सूत्र ५३ ॥

९०—प्रश्न—अन्तकृद्दशा-श्रुत किस प्रकार का है—उसमें क्या विषय वर्णित है?

उत्तर—अन्तकृद्दशा में अन्तकृत अर्थात् कर्म का अथवा जन्म-मरणरूप संसार का अन्त करनेवाले महापुरुषों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक और परलोक की ऋद्धि विशेष, भोगों का परित्याग, प्रव्रज्या (दीक्षा) और दीक्षा-पर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधानतप, संलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, पादपोपगमन, अन्तक्रिया-शैलेशी अवस्था आदि विषयों का वर्णन है।

अन्तकृद्दशा में परिमित वाचनाएँ, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात छन्द, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ और संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं।

अङ्गार्थ से यह आठवाँ अंग है। इसमें एक श्रुतस्कंध, आठ उद्देशनकाल और आठ समुद्देशन काल हैं। पद परिमाण से संख्यात सहस्र पद हैं। संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय तथा परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन प्रज्ञप्त भाव कहे गए हैं तथा प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन किए जाते हैं। इस सूत्र का अध्ययन करनेवाला तदात्मरूप, ज्ञाता और विज्ञाता हो जाता है। इस तरह प्रस्तुत अङ्ग में चरण-करण की प्ररूपणा की गई है।

यह अंतकृद्दशा का स्वरूप है।

विवेचन—सूत्र के नामानुसार अंतकृद्-दशा से यह अभिप्राय है कि जिन साधु-साध्वियों ने संयम-साधना और तपाराधना करके जीवन के अंतिम क्षण में कर्मों का सम्पूर्ण रूप से क्षय कर कैवल्य होते ही निर्वाण पद प्राप्त कर लिया, उनके जीवन का वर्णन इसमें दिया गया है। अन्तकृत् केवली भी उन्हें ही कहा गया है।

प्रस्तुत सूत्र में आठ वर्ग हैं, प्रथम और अन्तिम वर्ग में दस-दस अध्ययन हैं, इसी दृष्टि से अन्तकृत् के साथ दशा शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें भगवान् अरिष्टनेमि और महावीर-स्वामी के शासनकाल में होने वाले अन्तकृत् केवलियों का ही वर्णन है। अरिष्टनेमि के समय में जिन नर-नारियों ने, यादववंशीय राजकुमारों और श्रीकृष्ण की रानियों ने कर्म-मुक्त होकर निर्वाण

प्राप्त किया उनका वर्णन है तथा छठे वर्ग से लेकर आठवें तक में श्रेष्ठी, राजकुमार तथा राजा श्रेणिक की महारानियों के तपःपूत जीवन का उल्लेख है जिन्होंने संयम धारण करके घोर तपस्या एवं उत्कृष्ट चारित्र की आराधना करते हुए अन्त में संथारे के द्वारा कर्म-क्षय करके सिद्ध-पद की प्राप्ति की। अन्तिम श्वासोच्छ्वास में कैवल्य प्राप्त करके मोक्ष जाने वाली नव्वे आत्माओं का इसमें वर्णन है। सूत्र की शैली ऐसी है कि एक का वर्णन करने पर शेष वर्णन उसी प्रकार से आया है। जहाँ आयु, संथारा अथवा क्रियानुष्ठान में विविधता या विशेषताएँ थीं, उसका उल्लेख किया गया है। सामान्य वर्णन सभी का एक जैसा ही है। अध्ययनों के समूह का नाम वर्ग है, शेष वर्णन भावार्थ में दिया जा चुका है।

(९) श्री अनुत्तरौपपातिकदशासूत्र

से किं तं अणुत्तरोववाइअदसाओ ?

अणुत्तरोववाइअदसासु णं अणुत्तरोववाइआणं नगराइं, उज्जाणाइं, चेइआइं, वणसंडाइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मापियरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअपरलोइआ इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चागा, पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, पडिमाओ, उवसग्गा, संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, अणुत्तरोववाइयत्ते उववत्ती, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा, अंतकिरिआओ आघविज्जंति।

अणुत्तरोववाइअदसासु णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगद्दारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए नवमे अंगे, एगे सुअक्खंधे तिण्णि वग्गा, तिण्णि उद्देसणकाला, तिण्णि समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ।

से त्तं अणुत्तरोववाइअदसाओ। ।। सूत्र ५४ ।।

प्रश्न—भगवन् ! अनुत्तरौपपातिक-दशा सूत्र में क्या वर्णन है ?

उत्तर—अनुत्तरौपपातिक दशा में अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होनेवाले पुण्यशाली आत्माओं के नगर, उद्यान, व्यन्तरायन, वनखण्ड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक और परलोक सम्बन्धी ऋद्धिविशेष, भोगों का परित्याग, दीक्षा, संयमपर्याय, श्रुत का अध्ययन, उपधानतप, प्रतिमाग्रहण, उपसर्ग, अंतिम संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन तथा मृत्यु के पश्चात् अनुत्तर-सर्वोत्तम विजय आदि विमानों में उत्पत्ति। पुनः वहाँ से चवकर सुकुल की प्राप्ति, फिर बोधिलाभ और अन्तक्रिया इत्यादि का वर्णन है।

अनुत्तरौपपातिक दशा में परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ, संख्यात श्लोक संख्यात निर्युक्तियाँ, संख्यात संग्रहणियाँ और संख्यात प्रतिपत्तियाँ हैं।

यह सूत्र अंग की अपेक्षा से नवमा अंग है। इसमें एक श्रुतस्कन्ध, तीन वर्ग, तीन उद्देशनकाल और तीन समुद्देशनकाल हैं। पदाग्र परिमाण से संख्यात सहस्र पद हैं। संख्यात अक्षर, अनन्त गम,

अनन्त पर्याय, परिमित त्रस तथा अनन्त स्थावरों का वर्णन है। शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिन भगवान् द्वारा प्रणीत भाव कहे गए हैं। प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से सुस्पष्ट किए गए हैं।

अनुत्तरौपपातिकदशा सूत्र का सम्यक् रूपेण अध्ययन करने वाला तद्रूप आत्मा, ज्ञाता एवं विज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार चरण-करण की प्ररूपणा उक्त अंग में की गई है।

यह इस अङ्ग का विषय है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अनुत्तरौपपातिक अंग का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अनुत्तर का अर्थ है—अनुपम या सर्वोत्तम। बाईसवें, तेईसवें, चौवीसवें, पच्चीसवें तथा छब्बीसवें देवलोकों में जो विमान हैं वे अनुत्तर विमान कहलाते हैं। उन विमानों में उत्पन्न होने वाले देवों को अनुत्तरौपपातिक देव कहते हैं।

इस सूत्र में तीन वर्ग हैं। पहले वर्ग में दस, दूसरे में तेरह और तीसरे में भी दस अध्ययन हैं। प्रथम और अन्तिम वर्ग में दस-दस अध्ययन होने से सूत्र को अनुत्तरौपपतिकदशा कहते हैं।

इसमें उन तेतीस महान् आत्माओं का वर्णन है, जिन्होंने अपनी तपःसाधना से समाधिपूर्वक काल करके अनुत्तर विमानों में देवताओं के रूप में जन्म लिया और वहाँ की स्थिति पूरी करने के बाद एक बार ही मनुष्य गति में आकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

तेतीस में से तेईस तो राजा श्रेणिक की चेलना, नन्दा और धारिणी रानियों के आत्मज थे और शेष दस में से एक धन्ना (धन्य) मुनि का भी वर्णन है। धन्ना मुनि की कठोर तपस्या और उसके कारण उनके अंगों की क्षीणता का बड़ा ही मार्मिक और विस्तृत वर्णन है। साधक के आत्मविकास के लिए भी अनेक प्रेरणात्मक क्रियाओं का निर्देश किया गया है। जैसे—श्रुतपरिग्रह, तपश्चर्या, प्रतिमावहन, उपसर्गसहन, संलेखना आदि।

उक्त सभी आत्म-कल्याण के अमोघ साधन हैं। इन्हें अपनाए बिना मुनि-जीवन निष्फल हो जाता है। सिद्धत्व को प्राप्त करने वाले महापुरुषों के उदाहरण प्रत्येक प्राणी का पथ-प्रदर्शन करते हैं। शेष वर्णन पूर्ववत् है।

(१०) श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र

९२—से किं तं पण्हावागरणाइं ?

पण्हावागरणेसु णं अट्ठुत्तरं पसिण-सयं, अट्ठुत्तरं पसिणापसिण-सयं, तं जहा-अंगुट्ठपसिणाइं, बाहुपसिणाइं, अद्दागपसिणाइं, अन्नेवि विचित्ता विज्जाइसया, नागसुवण्णेहिं सद्धिं दिव्वा संवाया आघविज्जंति।

पण्हावागरणाणं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए दसमें अंगे, एगे सुअक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देसणकाला, पणयालीसं समुद्देसणकाला, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता

पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ, जिण-पन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति, परूविज्जंति दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति ।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ ।

से त्तं पण्हावागरणाइं । ॥ सूत्र ५५ ॥

९२—प्रश्नव्याकरण किस प्रकार है—उसमें क्या प्रतिपादन किया गया है ?

उत्तर—प्रश्नव्याकरण सूत्र में एक सौ आठ प्रश्न ऐसे हैं जो विद्या या मंत्र विधि से जाप द्वारा सिद्ध किए गये हों और पूछने पर शुभाशुभ कहें । एक सौ आठ अप्रश्न हैं, अर्थात् विना पूछे ही शुभाशुभ बताएँ और एक सौ आठ प्रश्नाप्रश्न हैं जो पूछे जाने पर और न पूछे जाने पर भी स्वयं शुभाशुभ का कथन करें । जैसे—अंगुष्ठप्रश्न, बाहुप्रश्न तथा आदर्शप्रश्न । इनके अतिरिक्त अन्य भी विचित्र विद्यातिशय कथन किये गए हैं । नागकुमारों और सुपर्णकुमारों के साथ हुए मुनियों के दिव्य संवाद भी कहे गए हैं ।

प्रश्नव्याकरण की परिमित वाचनाएँ हैं । संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियाँ और संख्यात संग्रहणियाँ तथा प्रतिपत्तियाँ हैं ।

प्रश्नव्याकरणश्रुत अंगों में दसवां अंग है । इनमें एक श्रुतस्कंध, पैंतालीस अध्ययन, पैंतालीस उद्देशनकाल और पैंतालीस समुद्देशनकाल हैं । पद परिमाण से संख्यात सहस्र पद हैं । संख्यात अक्षर, अनन्त अर्थगम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर हैं । शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित, जिन प्रतिपादित भाव कहे गये हैं, प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन तथा उपदर्शन द्वारा स्पष्ट किए गये हैं ।

प्रश्नव्याकरण का पाठक तदात्मकरूप एवं ज्ञाता, विज्ञाता हो जाता है । इस प्रकार उक्त अंग में चरण-करण की प्ररूपणा की गई है ।

यह प्रश्नव्याकरण का विवरण है ।

विवेचन—प्रश्नव्याकरण में प्रश्नोत्तर रूप से पदार्थों का वर्णन किया गया है । प्रायः सूत्रों के नामों से ही अनुमान हो जाता है कि इनमें किन-किन विषयों का वर्णन है । इस सूत्र का नाम भी प्रश्न और व्याकरण यानी उत्तर, इन दोनों भागों को एक करके रखा गया है । इसमें एक सौ आठ प्रश्न ऐसे हैं जो विद्या या मंत्र का पहले विधिपूर्वक जप करने पर फिर किसी के पूछने पर शुभाशुभ उत्तर कहते हैं । एक सौ आठ ऐसे भी हैं जो विद्या या मंत्र-विधि से सिद्ध किए जाने पर विना पूछे ही शुभाशुभ कह देते हैं । साथ ही और एक सौ आठ प्रश्न ऐसे हैं जो सिद्ध किए जाने के पश्चात् पूछने पर या न पूछने पर भी शुभाशुभ कहते हैं ।

सूत्र में अंगुष्ठ प्रश्न, बाहुप्रश्न तथा आदर्शप्रश्न इत्यादि बड़े विचित्र प्रकार के प्रश्नों और अतिशायी विद्याओं का वर्णन है । इसके अतिरिक्त मुनियों का नागकुमार और सुपर्णकुमार देवों के साथ जो दिव्य संवाद हुआ, उसका भी वर्णन है । अंगुष्ठ आदि जो प्रश्न कथन किये गए हैं उनका तात्पर्य यह है कि अंगुष्ठ में देव का आवेश होने से उत्तर प्राप्त करने वाले को यह मालूम होता है

कि मेरे प्रश्न का उत्तर अमुक मुनि के अंगुष्ठ द्वारा दिया जा रहा है। स्पष्ट है कि इस सूत्र को मंत्रों और विद्याओं में अद्वितीय माना गया है।

समवायाङ्ग सूत्र में भी प्रश्नव्याकरण सूत्र का परिचय दिया गया है और यह सिद्ध है कि यह सूत्र मन्त्रों और विद्याओं की दृष्टि से अद्वितीय है, किन्तु वर्तमान में इसके अतिशय विद्यावाले अध्ययन उपलब्ध नहीं होते। केवल पाँच आश्रव तथा पाँच संवररूप दस अध्ययन ही विद्यमान हैं। वर्तमान काल के प्रश्नव्याकरण में दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले में क्रमशः हिंसा, झूठ, चौर्य, अब्रह्मचर्य और परिग्रह का विस्तृत वर्णन है तथा दूसरे श्रुतस्कन्ध में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सुन्दर विवरण दिया गया है। इनकी आराधना करने से अनेक प्रकार की लब्धियों की प्राप्ति का उल्लेख भी है।

प्रश्नव्याकरण के विषय में दिगम्बर मान्यता

दिगम्बर मान्यतानुसार इस सूत्र में लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, जय-पराजय, हत, नष्ट, मुष्टि, चिन्ता, नाम, द्रव्य, आयु और संख्या का प्ररूपण किया गया है। इनके सिवाय इसमें तत्त्वों का निरूपण करनेवाली चार धर्मकथाओं का भी विस्तृत वर्णन है, जिन्हें क्रमशः नीचे बताया जा रहा है।

(१) आक्षेपणी कथा—जो नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों की निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नौ पदार्थों का प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

(२) विक्षेपणी कथा—जिसमें पहले पर-समय के द्वारा स्व-समय में दोष बताए जाते हैं, तत्पश्चात् पर-समय की आधारभूत अनेक प्रकार की एकान्त दृष्टियों का शोधन करके स्व-समय की स्थापना की जाती है तथा छह द्रव्य और नौ पदार्थों का प्ररूपण किया जाता है वह विक्षेपणी कथा कही जाती है।

(३) संवेगनी कथा—जिसमें पुण्य के फल का वर्णन हो, जैसे तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, विद्याधर और देवों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं। इस प्रकार विस्तार से धर्म के फल का वर्णन करने वाली संवेगनी कथा है।

(४) निर्वेदनी कथा—पापों के परिणाम स्वरूप नरक, तिर्यंच आदि में जन्म-मरण और व्याधि, वेदना, दारिद्र्य आदि की प्राप्ति के विषय में बताने वाली तथा वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा निर्वेदनी कहलाती है।

उक्त चारों कथाओं का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा गया है कि जो जिन-शासन में अनुरक्त हो, पुण्य-पाप को समझता हो, स्व-समय के रहस्य को जानता हो तथा तप-शील से युक्त और भोगों से विरक्त हो, उसे ही विक्षेपणी कथा कहनी चाहिए, क्योंकि स्व-समय को न समझने वाले वक्ता के द्वारा पर-समय का प्रतिपादन करने वाली कथाओं को सुनकर श्रोता व्याकुलचित्त होकर मिथ्यात्व को स्वीकार कर सकते हैं।

इस प्रकार प्रश्नव्याकरण का विषय है। शेष वर्णन पूर्ववत् है।

(११) श्री विपाकश्रुत

९३—से किं तं विवागसुअं ?

विवागसुए णं सुकड-दुक्कडाणं कम्माणं फलविवागे आघविज्जइ। तत्थ णं दस दुहविवागा, दस सुहविवागा।

से किं तं दुहविवागा ? दुहविवागेसु णं दुह-विवागाणं नगराइं, उज्जाणाइं, वणसंडाइं, चेइआइं, रायाणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइय-परलोइआ इड्ढिविसेसा, निरयगमणाइं, संसारभव-पवंचा, दुहपरंपराओ, दुकुलपच्चायाईओ, दुल्लहबोहियत्तं आघविज्जइ, से त्तं दुहविवागा।

९३—प्रश्न—भगवन् ! विपाकश्रुत किस प्रकार का है ?

उत्तर—विपाकश्रुत में सुकृत-दुष्कृत अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के फल-विपाक कहे जाते हैं। उस विपाकश्रुत में दस दुःखविपाक और दस सुखविपाक अध्ययन हैं।

प्रश्न—दुःखविपाक क्या है ?

उत्तर—दुःखविपाक में दुःखरूप फल भोगने वालों के नगर, उद्यान, वनखंड चैत्य, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इह-परलौकिक ऋद्धि, नरकगमन, भवभ्रमण, दुःखपरम्परा, दुष्कुल में जन्म तथा दुर्लभबोधिता की प्ररूपणा है। यह दुःखविपाक का वर्णन है।

विवेचन—विपाकसूत्र में कर्मों का शुभ और अशुभ फल उदाहरणों के द्वारा वर्णित है। इसके दो श्रुतस्कन्ध हैं, दुःखविपाक एवं सुखविपाक। पहले श्रुतस्कन्ध में दस अध्ययन हैं जिनमें अन्याय, अनीति, मांस, तथा अंडे आदि भक्षण के परिणाम, परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, रिश्वतखोरी तथा चोरी आदि दुष्कर्मों के कुफलों का उदाहरणों के द्वारा वर्णन किया गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि जीव इन सब पापों के कारण किस प्रकार नरक और तिर्यंच गतियों में जाकर नाना प्रकार की दारुणतर यातनाएँ पाता है, जन्म-मरण करता रहता है तथा दुःख-परम्परा बढ़ाता जाता है। अज्ञान के कारण जीव पाप करते समय तो प्रसन्न होता है पर जब उनके फल भोगने का समय आता है, तब दीनतापूर्वक रोता और पश्चात्ताप करता है।

९४—से किं तं सुहविवागा ?

सुहविवागेसु णं सुहविवागाणं नगराइं, वणसंडाइं, चेइआइं, समोसरणाइं, रायाणो, अम्मा-पियरो, धम्मायरिआ, धम्मकहाओ, इहलोइअ-पारलोइया इड्ढिविसेसा, भोगपरिच्चागा, पव्वज्जाओ, परिआगा, सुअपरिग्गहा, तवोवहाणाइं, संलेहणाओ, भत्तपच्चक्खाणाइं, पाओवगमणाइं, देवलोगगमणाइं, सुहपरंपराओ, सुकुलपच्चायाईओ, पुणबोहिलाभा अंतकिरिआओ, आघविज्जंति।

९४—प्रश्न—सुख विपाकश्रुत किस प्रकार का है ?

उत्तर—सुखविपाक श्रुत में सुखविपाकों के अर्थात् सुखरूप फल को भोगनेवाले जीवों के नगर, उद्यान, वनखण्ड, व्यन्तरायतन, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इस लोक-परलोक सम्बन्धित ऋद्धि विशेष, भोगों का परित्याग, प्रव्रज्या (दीक्षा) दीक्षापर्याय, श्रुत का ग्रहण, उपधानतप, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, पादपोपगमन, देवलोकगमन, सुखों की परम्परा, पुनः बोधिलाभ, अन्तक्रिया इत्यादि विषयों का वर्णन है।

९५—विवागसुयस्स णं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ।

से णं अंगट्ठयाए इक्कारसमे अंगे, दो सुअक्खंधा, वीसं अज्झयणा, वीसं उद्देसणकाला, वीसं समुद्देसणकाला, संखिज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति, पन्नविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ। से त्तं विवागसुयं। ॥ सूत्र ५६ ॥

९५—विपाकश्रुत में परिमित वाचना, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ, संख्यात श्लोक, संख्यात निर्युक्तियां संख्यात संग्रहणियाँ और संख्यात प्रतिपत्तियां हैं।

अंगों की अपेक्षा से वह ग्यारहवाँ अंग है। इसके दो श्रुतस्कंध, वीस अध्ययन, वीस उद्देशनकाल और बीस समुद्देशनकाल हैं। पद परिमाण से संख्यात सहस्र पद हैं, संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय, परिमित त्रस, अनन्त स्थावर, शाश्वत-कृत-निबद्ध-निकाचित जिनप्ररूपित भाव हेतु आदि से निर्णीत किए गए हैं, प्ररूपित किए गए हैं, दिखलाए गए हैं, निर्दशित और उपदर्शित किए गए हैं।

विपाकश्रुत का अध्ययन करनेवाला एवंभूत आत्मा, ज्ञाता तथा विज्ञाता बन जाता है। इस तरह से चरण-करण की प्ररूपणा की गई है। इस प्रकार यह विपाकश्रुत का विषय वर्णन किया गया।

विवेचन—उपर्युक्त पाठ में सुखविपाक के विषय का विवरण दिया गया है। विपाकसूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध का नाम सुखविपाक है। इस अंग के दस अध्ययन हैं, जिनमें उन भव्य एवं पुण्यशाली आत्माओं का वर्णन है, जिन्होंने पूर्वभव में सुपात्रदान देकर मनुष्य भव की आयु का बंध किया और मनुष्यभव प्राप्त करके अतुल वैभव प्राप्त किया। किन्तु मनुष्यभव को भी उन्होंने केवल सांसारिक सुखोपभोग करके ही व्यर्थ नहीं गँवाया, अपितु अपार ऋद्धि का त्याग करके संयम ग्रहण किया और तप-साधना करते हुए शरीर त्यागकर देवलोकों में देवत्व की प्राप्ति की। भविष्य में वे महाविदेह क्षेत्र में निर्वाण पद प्राप्त करेंगे। यह सब सुपात्रदान का माहात्म्य है।

सूत्र में सुबाहुकुमार की कथा विस्तारपूर्वक दी गई है, शेष सव अध्ययनों में संक्षिप्त वर्णन है। इन कथाओं से सहज ही ज्ञात हो जाता है कि पुण्यानुबन्धी पुण्य का फल कितना कल्याणकारी होता है। सुखविपाक में वर्णित दस कुमारों की कथाओं के प्रभाव से भव्य श्रोताओं अथवा अध्येताओं के जीवन में भी शनैः-शनैः ऐसे गुणों का आविर्भाव हो सकता है, जिनसे अन्त में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करते हुए वे निर्वाण पद की प्राप्ति कर सकें।

(१२) श्री दृष्टिवादश्रुत

९६—से किं तं दिट्ठिवाए?

दिट्ठिवाए णं सव्वभावपरूवणा आघविज्जइ से समासओ पंचविहे पन्नत्ते, तं जहा—

(१) परिकम्मे (२) सुत्ताइं (३) पुव्वगए (४) अणुओगे (५) चूलिआ।

९६—प्रश्न—दृष्टिवाद क्या है ?

उत्तर—दृष्टिवाद—सब नयदृष्टियों का कथन करने वाले श्रुत में समस्त भावों की प्ररूपणा है। संक्षेप में वह पाँच प्रकार का है। यथा:—(१) परिकर्म (२) सूत्र (३) पूर्वगत (४) अनुयोग और (५) चूलिका।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में दृष्टिवाद का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह अङ्गश्रुत जैन-आगमों में सबसे महान् और महत्त्वपूर्ण है, किन्तु वर्तमान काल में उपलब्ध नहीं है। इसका विच्छेद हुए लगभग पन्द्रह सौ वर्ष हो चुके हैं। 'दिट्ठिवाय' शब्द प्राकृत भाषा का है और संस्कृत में इसका रूप 'दृष्टिवाद' या 'दृष्टिपात' होता है। दृष्टि शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं। नेत्रशक्ति, ज्ञानशक्ति, विचारशक्ति, नय आदि।

संसार में जितने दर्शन हैं, जितना श्रुत-ज्ञान है और नयों की जितनी भी पद्धतियाँ हैं, उन सभी का समावेश दृष्टिवाद में हो जाता है। प्रत्येक वह शास्त्र, जिसमें दर्शन का विषय मुख्यरूप से वर्णित हो, वह दृष्टिवाद कहला सकता है। यद्यपि दृष्टिवाद का व्यवच्छेद सभी तीर्थंकरों के शासन-काल में होता रहा है, किन्तु बीच के आठ तीर्थंकरों के समय में कालिक श्रुत का भी व्यवच्छेद हो गया था। कालिकश्रुत के व्यवच्छेद होने से भाव-तीर्थ भी लुप्त हो गया। फिर भी श्रुतिपरम्परा से उसकी कुछ अंश में व्याख्या की जाती है। इसके विषय में वृत्तिकार ने लिखा है—

"सर्वमिदं प्रायो व्यवच्छिन्नं तथापि लेशतो यथागतसम्प्रदायं किञ्चित् व्याख्यायते।"

अर्थात्—सम्पूर्ण दृष्टिवाद का प्राय: व्यवच्छेद हो गया तथापि श्रुतिपरम्परा से उसकी अंश मात्र व्याख्या की जाती है।

सम्पूर्ण दृष्टिवाद पाँच भागों में विभक्त है—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। क्रमानुसार सभी का वर्णन किया जाएगा।

(१) परिकर्म

९७—से किं तं परिकम्मे ?

परिकम्मे सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) सिद्धसेणिआपरिकम्मे (२) मणुस्ससेणिआपरिकम्मे (३) पुट्ठसेणिआपरिकम्मे (४) ओगाढसेणिआपरिकम्मे (५) उवसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे (६) विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे (७) चुआचुअसेणिआपरिकम्मे।

९७—परिकर्म कितने प्रकार का है ?

परिकर्म सात प्रकार का है, यथा:—

(१) सिद्ध-श्रेणिकापरिकर्म (२) मनुष्य-श्रेणिकापरिकर्म (३) पुष्ट-श्रेणिकापरिकर्म (५) अवगाढ-श्रेणिकापरिकर्म (५) उपसम्पादन-श्रेणिकापरिकर्म (६) विप्रजहत् श्रेणिकापरिकर्म (७) च्युताच्युतश्रेणिका-परिकर्म।

विवेचन—जिस प्रकार गणितशास्त्र में संकलना आदि सोलह परिकर्म के अध्ययन से सम्पूर्ण गणित को समझने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार परिकर्म का अध्ययन करने से दृष्टिवाद के शेष सूत्रों को ग्रहण करने की योग्यता आती है और दृष्टिवाद के अन्तर्गत रहे सभी

विषय सुगमतापूर्वक समझे जा सकते हैं। वह परिकर्म मूल और उत्तर भेदों सहित व्यवच्छिन्न हो चुका है।

(१) सिद्धश्रेणिका परिकर्म

९८—से किं तं सिद्धसेणिआ-परिकम्मे ?

सिद्धसेणिआ-परिकम्मे चउद्दसविहे पन्नत्ते तं जहा—(१) माउगापयाइं (२) एगट्ठिअ-पयाइं (३) अट्ठपयाइं (४) पाढोआगासपयाइं (५) केउभूअं (६) रासिबद्धं (७) एगगुणं (८) दुगुणं (९) तिगुणं (१०) केउभूअं (११) पडिग्गहो (१२) संसारपडिग्गहो (१३) नंदावत्तं (१४) सिद्धावत्तं।

से त्तं सिद्धसेणिआ-परिकम्मे।

९८—प्रश्न—सिद्धश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर—वह चौदह प्रकार का है। यथा—(१) मातृकापद (२) एकार्थकपद (३) अर्थपद (४) पृथगाकाशपद (५) केतुभूत (६) राशिबद्ध (७) एकगुण (८) द्विगुण (९) त्रिगुण (१०) केतुभूत (११) प्रतिग्रह (१२) संसारप्रतिग्रह (१३) नन्दावर्त (१४) सिद्धावर्त। इस प्रकार सिद्धश्रेणिका परिकर्म है।

विवेचन—सूत्र में सिद्धश्रेणिका पारकर्म के चौदह भेदों के केवल नामोल्लेख किए गए हैं, विस्तृत विवरण नहीं है। दृष्टिवाद के सर्वथा व्यवछिन्न हो जाने के कारण इसके विषय में अधिक नहीं बताया जा सकता, सिर्फ अनुमान किया जाता है कि 'सिद्धश्रेणिका' पद के नामानुसार इसमें विद्यासिद्ध आदि का वर्णन होगा। चौथा पद 'पाढो आगासपयाइं', किसी-किसी प्रति में पाया जाता है। मातृकापद, एकार्थपद, तथा अर्थपद, के लिए सम्भावना की जाती है कि ये तीनों मंत्र विद्या से संबंध रखते होंगे; कोश से भी इनका संबंध प्रतीत होता है। इसी प्रकार राशिबद्ध, एकगुण, द्विगुण और त्रिगुण, ये पद गणित विद्या से संबंधित होंगे, ऐसा अनुमान है। तत्त्व केवलीगम्य ही है।

(२) मनुष्यश्रेणिका परिकर्म

९९—से किं तं मणुस्ससेणिआ परिकम्मे ?

मणुस्ससेणिआपरिकम्मे चउद्दसविहे पण्णत्ते तं जहा—(१) माउयापयाइं (२) एगट्ठिअपयाइं (३) अट्ठपयाइं (४) पाढोआगा (मा) सपयाइं (५) केउभूअं (६) रासिबद्धं (७) एगगुणं (८) दुगुणं (९) तिगुणं (१०) केउभूअं (११) पडिग्गहो (१२) संसारपडिग्गहो (१३) नंदा-वत्तं (१४) मणुस्सावत्तं, से त्तं मणुस्ससेणिआ-परिकम्मे।

९९—मनुष्यश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

मनुष्यश्रेणिका परिकर्म चौदह प्रकार का प्रतिपादित है, जैसे—

(१) मातृकापद, (२) एकार्थक पद, (३) अर्थपद, (४) पृथगाकाशपद, (५) केतुभूत, (६) राशिबद्ध, (७) एक गुण, (८) द्विगुण, (९) त्रिगुण, (१०) केतुभूत (११) प्रतिग्रह, (१२) संसार-प्रतिग्रह (१३) नन्दावर्त और (१४) मनुष्यावर्त।

विवेचन—उक्त सूत्र में मनुष्यश्रेणिका परिकर्म का वर्णन किया है। अनुमान किया जाता है कि इसमें भव्य-अभव्य, परित्तसंसारी, अनन्तसंसारी, चरमशरीरी और अचरमशरीरी, चारों गतियों से आनेवाली मनुष्यश्रेणी, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि, आराधक-विराधक, स्त्रीपुरुष, नपुंसक, गर्भज, सम्मूर्छिम, पर्याप्तक, अपर्याप्तक, संयत, असंयत, संयतासंयत, मनुष्य-श्रेणिका, उपशमश्रेणि तथा क्षपक श्रेणिरूप मनुष्यश्रेणिका का वर्णन होगा।

(३) पृष्टश्रेणिका परिकर्म

१००—से किं तं पुट्ठसेणिआपरिकम्मे ? पुट्ठसेणिआपरिकम्मे, इक्कारसविहे पण्णत्ते तं जहा—

(१) पाढोआगा (मा) सपयाइं, (२) केउभूयं (३) रासिबद्धं, (४) एगगुणं, (५) दुगुणं, (६) तिगुणं, (७) केउभूयं, (८) पडिग्गहो, (९) संसारपडिग्गहो, (१०) नंदावत्तं, (११) पुट्ठावत्तं।

से तं पुट्ठसेणिआपरिकम्मे।

१००—पृष्टश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

पृष्टश्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है, यथा—(१) पृथगाकाशपद, (२) केतुभूत, (३) राशिबद्ध (४) एकगुण, (५) द्विगुण, (६) त्रिगुण, (७) केतुभूत, (८) प्रतिग्रह, (९) संसार-प्रतिग्रह, (१०) नन्दावर्त, (११) पृष्टावर्त। यह पृष्टश्रेणिका परिकर्म श्रुत है।

विवेचन—सूत्र में पृष्टश्रेणिका परिकर्म के ग्यारह विभाग बताए गए हैं। प्राकृत में स्पृष्ट और पृष्ट, दोनों से 'पुट्ठ' शब्द बनता है। संभवतः इस परिकर्म में लौकिक और लोकोत्तर प्रश्न तथा उनके उत्तर होंगे। सभी प्रकार के प्रश्नों का इन ग्यारह प्रकारों में समावेश हो सकता है।

स्पृष्ट का दूसरा अर्थ होता है—स्पर्श किया हुआ। सिद्ध एक दूसरे से स्पृष्ट होते हैं, निगोद के शरीर में भी अनन्त जीव एक-दूसरे से स्पृष्ट रहते हैं। धर्म, अधर्म, एवं लोकाकाश के प्रदेश अनादिकाल से परस्पर स्पृष्ट हैं। पृष्टश्रेणिकापरिकर्म में इन सबका वर्णन हो, ऐसा संभव है।

(४) अवगाढश्रेणिका परिकर्म

१०१—से किं तं ओगाढसेणिआपरिकम्मे ? ओगाढसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—(१) पाढोआगा(मा)सपयाइं, (२) केउभूअं (३) रासिबद्धं, (४) एगगुणं (५) दुगुणं, (६) तिगुणं, (७) केउभूअं, (८) पडिग्गहो (९) संसार-पडिग्गहो, (१०) नंदावत्तं, (११) ओगाढावत्तं।

से त्तं ओगाढसेणिआ परिकम्मे।

१०१—प्रश्न—अवगाढश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

उत्तर—अवगाढश्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है—(१) पृथगाकाशपद (२) केतुभूत (३) राशिबद्ध, (४) एकगुण (५) द्विगुण, (६) त्रिगुण (७) केतुभूत, (८) प्रतिग्रह, (९) संसार-प्रतिग्रह, (१०) नन्दावर्त (११) अवगाढावर्त्त। यह अवगाढश्रेणिका परिकर्म है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में अवगाढश्रेणिका परिकर्म का वर्णन है। आकाश का कार्य है—सब द्रव्यों को अवगाह देना। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय, काल तथा पुद्‌गलास्तिकाय, ये पाँचों द्रव्य आधेय हैं, आकाश इनको अपने में स्थान देता है। जो द्रव्य जिस आकाश प्रदेश या देश में अवगाढ हैं, उनका विस्तृत विवरण वर्णन—अवगाढश्रेणिका में होगा, ऐसी संभावना की जा सकती है।

(५) उपसम्पादन-श्रेणिका परिकर्म

१०२—से किं तं उवसंपज्जणसेणिआ परिकम्मे ? उवसंपज्जणसेणिआपरिकम्मे एक्कारस-विहे पन्नत्ते तं जहा,—

(१) पाढोआगा(मा)सपयाइं (२) केउभूयं, (३) रासिबद्धं (४) एगगुण (५) दुगुणं, (६) तिगुणं, (७) केउभूयं, (८) पडिग्गहो (९) संसारपडिग्गहो, (१०) नंदावत्तं, (११) उवसंप-ज्जणावत्तं, से त्तं उपसंपज्जणावत्तं, से त्तं उपसंपज्जणसेणिआ-परिकम्मे।

१०२—वह उपसम्पादनश्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

उपसम्पादन श्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है। यथा—

(१) पृथगाकाशपद, (२) केतुभूत, (३) राशिबद्ध, (४) एकगुण (५) द्विगुण (६) त्रिगुण (७) केतुभूत, (८) प्रतिग्रह, (९) संसार प्रतिग्रह, (१०) नन्दावर्त, (११) उपसम्पादनावर्त। यह उपसम्पादनश्रेणिका परिकर्म श्रुत है।

विवेचन—इस सूत्र में उपसंपादनश्रेणिका परिकर्म का वर्णन है। उवसंपज्जण का अर्थ अङ्गीकार करना अथवा ग्रहण करना है। सभी साधकों की जीवन-भूमिका एक सरीखी नहीं होती। अतः दृष्टिवाद के वेत्ता, साधक की शक्ति के अनुसार जीवनोपयोगी साधन बताते हैं, जिससे उसका कल्याण हो सके। साधक के लिए जो जो उपादेय है, उसका विधान करते हैं और साधक उन्हें इस प्रकार ग्रहण करते हैं—'असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जानि।' यहाँ 'उवसंपज्जामि' का अर्थ होता है—ग्रहण करता हूँ। संभव है, परिकर्म में जितने भी कल्याण के छोटे से छोटे या बड़े से बड़े साधन हैं उनका उल्लेख किया गया हो।

(६) विप्रजहत् श्रेणिका परिकर्म

१०३—से किं तं विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे ?

विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—

(१) पाढोआगा(मा)सपयाइं, (२) केउभूअं, (३) रासिबद्धं, (४) एगगुणं, (५) दुगुणं, (६) तिगुणं, (७) केउभूअं, (८) पडिग्गहो, (९) संसारपडिग्गहो, (१०) नन्दावत्तं (११) विप्पजहणसेणिआपरिकम्मे।

१०३—विप्रजहत्श्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

विप्रजहत्श्रेणिका परिकर्म ग्यारह प्रकार का है। यथा—(१) पृथकाकाशपद, (२) केतुभूत,

(३) राशिबद्ध, (४) एकगुण, (५) द्विगुण, (६) त्रिगुण, (७) केतुभूत, (८) प्रतिग्रह, (९) संसार-प्रतिग्रह (१०) नंदावर्त्त (११) विप्रजहदावर्त्त। यह विप्रजहत्श्रेणिका परिकर्मश्रुत है।

विवेचन—विप्रजहत्श्रेणिका का संस्कृत में 'विप्रजहच्छ्रेणिका' शब्द-रूपान्तर होता है। विश्व में जितने भी हेय यानी परित्याज्य पदार्थ हैं, उनका इसी में अन्तर्भाव हो जाता है। प्रत्येक साधक की अपनी जीवनभूमिका औरों से भिन्न होती है अतः अवगुण भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिये जिसकी जैसी भूमिका हो उसके अनुसार साधक के लिए वैसे ही दोष एवं क्रियाएं परित्याज्य हैं। उदाहरण स्वरूप आयुर्वेदिक ग्रन्थों में जैसे भिन्न-भिन्न रोगों से ग्रस्त रोगियों के लिये कुपथ्य भिन्न-भिन्न होते हैं, इसी प्रकार साधकों को भी जैसी-जैसी दोष-रुग्णता हो, उनके लिये वैसी-वैसी अकल्याणकारी क्रियाएँ हेय या परित्याज्य होती हैं। इस परिकर्म में इन्हीं सब का विस्तार से वर्णन हो, ऐसी संभावना है।

(७) च्युताऽच्युतश्रेणिका परिकर्म

१०४—से किं तं चुआचुअसेणिआ परिकम्मे ?

चुआचुअसेणिआपरिकम्मे, एक्कारसविहे पन्नत्ते, तं जहा—(१) पाढोआगासपयाइं, (२) केउभूअं (३) रासिबद्धं, (४) एगगुणं, (५) दुगुणं, (६) तिगुणं, (७) केउभूअं (८) पडिग्गहो, (९) संसारपडिग्गहो, (१०) नंदावत्तं, (११) चुआचुआवत्तं, से तं चुआचुअसेणिआ परिकम्मे। छ चउक्क नइआइं, सत्त तेरासियाइं। से त्तं परिकम्मे।

१०४—वह च्युताच्युत श्रेणिका परिकर्म कितने प्रकार का है ?

वह ग्यारह प्रकार का है, यथा—

(१) पृथगाकाशपद, (२) केतुभूत, (३) राशिबद्ध, (४) एकगुण, (५) द्विगुण, (६) त्रिगुण, (७) केतुभूत, (८) प्रतिग्रह, (९) संसार-प्रतिग्रह, (१०) नन्दावर्त्त, (११) च्युताच्युतावर्त, यह च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म सम्पूर्ण हुआ।

उल्लिखित परिकर्म के ग्यारह भेदों में से प्रारम्भ के छह परिकर्म चार नयों के आश्रित हैं और अंतिम सात में त्रैराशिक मत का दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार यह परिकर्म का विषय हुआ।

विवेचन—इस सूत्र में परिकर्म के सातवें और अन्तिम भेद च्युताच्युतश्रेणिका परिकर्म का वर्णन किया गया है। यद्यपि इसमें रहे हुए वास्तविक विषय और उसके अर्थ के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि श्रुत व्यवच्छिन्न हो गया है, फिर भी इसमें त्रैराशिक मत का विस्तृत वर्णन होना चाहिए।

जैसे स्वसमय में सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, मिश्रदृष्टि एवं संयत, असंयत और संयतासंयत, सर्वाराधक, सर्वविराधक तथा देश आराधक-विराधक की परिगणनाकी गई है, वैसे ही हो सकता है कि त्रैराशिक मत में अच्युत, च्युत तथा च्युताच्युत शब्द प्रचलित हों। टीकाकार ने उल्लेख किया है कि पूर्वकालिक आचार्य तीन राशियों का अवलम्बन करके वस्तुविचार करते थे। जैसे द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक और उभयास्तिक। एक त्रैराशिक मत भी था जो दो राशियों के वदले एकान्त रूप में

तीन ही राशियाँ मानता था। सूत्र में "छ चउक्कनइआइं, सत्त तेरासियाइं" यह पद दिया गया है। इसका भाव यह है कि आदि के छः परिकर्म चार नयों की अपेक्षा से वर्णित हैं और इनमें स्वसिद्धांत का वर्णन किया गया है तथा सातवें परिकर्म में त्रैराशिक का उल्लेख है।

(२) सूत्र

१०५—से किं तं सुत्ताइं ?

सुत्ताइं बावीसं पन्नत्ताइं, तं जहा—

(१) उज्जुसुयं, (२) परिणयापरिणयं, (३) बहुभंगिअं, (४) विजयचरिअं, (५) अणंतरं, (६) परंपरं, (७) आसाणं, (८) संजूहं, (९) संभिण्णं, (१०) अहव्वायं, (११) सोवत्थिआवत्तं, (१२) नंदावत्तं, (१३) बहुलं, (१४) पुट्ठापुट्ठं (१५) विआवत्तं, (१६) एवंभूअं, (१७) दुयावत्तं, (१८) वत्तमाणपयं, (१९) समभिरूढं, (२०) सव्वओभद्दं, (२१) पस्सासं (२२) दुप्पडिग्गहं।

इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं छिन्नच्छेअनइआणि ससमयसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं अच्छिन्नच्छेअनइआणि आजीविअसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं तिग-णइयाणि तेरासियसुत्तपरिवाडीए, इच्चेइआइं बावीसं सुत्ताइं चउक्कनइयाणि ससमयसुत्त-परिवाडीए। एवामेव सपुव्वावरेण अट्ठासीई सुत्ताइं भवंतीतिमक्खायं, से त्तं सुत्ताइं।

१०५—भगवन् ! वह सूत्ररूप दृष्टिवाद कितने प्रकार का है ?

गुरु ने उत्तर दिया—सूत्र रूप दृष्टिवाद बाईस प्रकार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे—

(१) ऋजुसूत्र, (२) परिणतापरिणत, (३) बहुभंगिक, (४) विजयचरित, (५) अनन्तर, (६) परम्पर, (७) आसान, (८) संयूथ, (९) सम्भिन्न, (१०) यथावाद, (११) स्वस्तिकावर्त्त, (१२) नन्दावर्त्त, (१३) बहुल, (१४) पृष्टापृष्ट, (१५) व्यावर्त्त, (१६) एवंभूत, (१७) द्विकावर्त्त, (१८) वर्त्तमानपद, (१९) समभिरूढ़, (२०) सर्वतोभद्र, (२१) प्रशिष्य, (२२) दुष्प्रतिग्रह।

ये बाईस सूत्र छिन्नच्छेद-नयवाले, स्वसमय सूत्र परिपाटी अर्थात् स्वदर्शन की वक्तव्यता के आश्रित हैं। यह ही बाईस सूत्र आजीविक गोशालक के दर्शन की दृष्टि से अच्छिन्नच्छेद नय वाले हैं। इसी प्रकार से ये ही सूत्र त्रैराशिक सूत्र परिपाटी से तीन नय वाले हैं और ये ही बाईस सूत्र स्वसमय-सिद्धान्त की दृष्टि से चतुष्क नय वाले हैं। इस प्रकार पूर्वापर सर्व मिलकर अट्ठासी सूत्र हो जाते हैं। यह कथन तीर्थंकर और गणधरों ने किया है। यह सूत्ररूप दृष्टिवाद का वर्णन है।

विवेचन—इस सूत्र में अट्ठासी सूत्रों का वर्णन है। इनमें सर्वद्रव्य, सर्वपर्याय, सर्वनय और सर्वभंग-विकल्प नियम आदि बताए गए हैं।

वृत्तिकार और चूर्णिकार, दोनों के मत से उक्त सूत्र में बाईस सूत्र छिन्नच्छेद नय के मत से स्वसिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले हैं और ये ही सूत्र अछिन्नच्छेद नय की दृष्टि से अबन्धक, त्रैराशिक और नियतिवाद का वर्णन करते हैं।

छिन्नच्छेद नय उसे कहा जाता है, जैसे—कोई पद अथवा श्लोक दूसरे पद की अपेक्षा न करे और न दूसरा पद ही प्रथम की अपेक्षा रखे। यथा—"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं।"

इसी का वर्णन अच्छिन्नच्छेद नय के मत से इस प्रकार है, यथा—धर्म सर्वोत्कृष्ट मंगल है। प्रश्न होता है कि वह कौन सा धर्म है जो सर्वोत्कृष्ट मंगल है? उत्तर में बताया जाता है कि—"अहिंसा संजमो तवो।" इस प्रकार दोनों पद सापेक्ष सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि बाईस सूत्र और अर्थ दोनों प्रकार से व्यवच्छिन्न हो चुके हैं किन्तु इनका परंपरागत अर्थ उक्त प्रकार से किया गया है। वृत्तिकार ने त्रैराशिक मत आजीविक सम्प्रदाय को बताया है, रोहगुप्त द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय को नहीं।

(३) पूर्व

१०६—से किं तं पुव्वगए?

पुव्वगए चउद्दसविहे पण्णत्ते, तं जहा—

(१) उप्पायपुव्वं, (२) अग्गाणीयं, (३) वीरिअं, (४) अत्थिनत्थिप्पवायं, (५) नाणप्पवायं, (६) सच्चप्पवायं, (७) आयप्पवायं, (८) कम्मप्पवायं, (९) पच्चक्खाणप्पवायं, (१०) विज्जाणुप्पवायं, (११) अवंझं, (१२) पाणाऊ, (१३) किरियाविसालं, (१४) लोकबिंदुसारं।

(१) उप्पाय-पुव्वस्स णं दस वत्थू, चत्तारि चूलियावत्थू पन्नत्ता,

(२) अग्गाणेणीयपुव्वस्स णं चोद्दस वत्थू, दुवालस चूलियावत्थू पन्नत्ता,

(३) वीरिय-पुव्वस्स णं अट्ठ वत्थू, अट्ठ चूलिया-वत्थू पण्णत्ता,

(४) अत्थिनत्थिप्पवाय-पुव्वस्स णं अट्ठारस वत्थू, दस चूलियावत्थू पण्णत्ता,

(५) नाणप्पवायपुव्वस्स णं बारस वत्थू पण्णत्ता,

(६) सच्चप्पवायपुव्वस्स णं दोण्णि वत्थू पण्णत्ता,

(७) आयप्पवायपुव्वस्स णं सोलस वत्थू पण्णत्ता,

(८) कम्मप्पवायपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता,

(९) पच्चक्खाणपुव्वस्स णं वीसं वत्थू पण्णत्ता,

(१०) विज्जाणुप्पवायपुव्वस्स णं पन्नरस वत्थू पण्णत्ता,

(११) अवंझपुव्वस्स णं बारस वत्थू पण्णत्ता,

(११) पाणाउपुव्वस्स णं तेरस वत्थू पण्णत्ता,

(१३) किरिआविसालपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता,

(१४) लोकबिंदुसारपुव्वस्स णं पणवीसं वत्थू पण्णत्ता।

दस चोदस अट्ठ अट्ठारस बारस दुवे अ वत्थूणि।
सोलस तीसा वीसा पन्नरस अणुप्पवायम्मि ॥१॥

बारस इक्कारसमे, बारसमे तेरसेव वत्थूणि।
तीसा पुण तेरसमे, चोद्दसमे पण्णवीसाओ ॥२॥

चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चुल्लवत्थूणि।
आइल्लाण चउण्हं, सेसाणं चूलिया नत्थि ॥३॥

से त्तं पुव्वगए।

१०६—पूर्वगत-दृष्टिवाद कितने प्रकार का है ?

पूर्वगत-दृष्टिवाद चौदह प्रकार का है, यथा—(१) उत्पादपूर्व, (२) अग्रायणीयपूर्व (३) वीर्यप्रवादपूर्व, (४) अस्तिनास्ति प्रवादपूर्व, (५) ज्ञानप्रवादपूर्व, (६) सत्यप्रवादपूर्व, (७) आत्मप्रवाद-पूर्व, (८) कर्मप्रवादपूर्व, (९) प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व, (१०) विद्यानुवादपवादपूर्व, (११) अवन्ध्यपूर्व, (१२) प्राणायुपूर्व (१३) क्रियाविशालपूर्व, (१४) लोकविन्दुसारपूर्व।

(१) उत्पादपूर्व में दस वस्तु और चार चूलिका वस्तु हैं।

(२) अग्रायणीयपूर्व में चौदह वस्तु और बारह चूलिका वस्तु हैं।

(३) वीर्यप्रवादपूर्व में आठ वस्तु और आठ चूलिका वस्तु हैं।

(४) अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व में अठारह वस्तु और दस चूलिका वस्तु हैं।

(५) ज्ञानप्रवादपूर्व में बारह वस्तु हैं।

(६) सत्यप्रवादपूर्व में दो वस्तु हैं।

(७) आत्मप्रवादपूर्व में सोलह वस्तु हैं।

(८) कर्मप्रवादपूर्व में तीस वस्तु बताए गए हैं।

(९) प्रत्याख्यानपूर्व में बीस वस्तु हैं।

(१०) विद्यानुवादपूर्व में पन्द्रह वस्तु कहे गए हैं।

(११) अवन्ध्यपूर्व में बारह वस्तु प्रतिपादन किए गए हैं।

(१२) प्राणायुपूर्व में तेरह वस्तु हैं।

(१३) क्रियाविशालपूर्व में तीस वस्तु कहे गए हैं।

(१४) लोकबिन्दुसारपूर्व में पच्चीस वस्तु हैं।

आगम के वर्ग, अध्ययन आदि विभाग वस्तु कहलाते हैं। छोटे विभाग को चूलिका कहते हैं। उक्त चौदह पूर्वों में वस्तु और चूलिकाओं की संख्या इस प्रकार है—

पहले में १०, दूसरे में १४, तीसरे में ८, चौथे में १८, पाँचवें में १२, छठे में २, सातवें में १६, आठवें में ३०, नवमे में २०, दसवें में १५, ग्यारहवें में १२, बारहवें में १३, तेरहवें में ३० और चौदहवें में २५ वस्तु हैं।

आदि के चार पूर्वों में क्रम से—प्रथम में ४, द्वितीय में १२, तृतीय में ८ और चतुर्थ पूर्व में १० चूलिकाएँ हैं। शेष पूर्वों में चूलिकाएँ नहीं हैं।

इस प्रकार यह पूर्वगत दृष्टिवाद अङ्ग-श्रुत का वर्णन हुआ।

(४) अनुयोग

१०७—से किं तं अणुओगे ?

अणुओगे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा—(१) मूलपढमाणुओगे (२) गंडिआणुओगे य।

से किं तं मूलपढमाणुओगे ?

मूलपढमाणुओगे णं अरहंताणं भगवंताणं पुव्वभवा, देवगमणाइं, आउं, चवणाइं, जम्मणाणि, अभिसेआ, रायवरसिरीओ, पव्वज्जाओ, तवा य उग्गा, केवलनाणुप्पाओ, तित्थपवत्तणाणि अ, सीसा, गणा, गणहरा, अज्जा, पवत्तिणीओ, संघस्स चउव्विहस्स जं च परिमाणं, जिण-मणपज्जव-ओहिनाणी, सम्मत्तसुअनाणिणो अ, वाई, अणुत्तरगई अ, उत्तरवेउव्विणो अ मुणिणो, जत्तिया सिद्धा, सिद्धिपहो देसिओ, जच्चिरं च कालं पाओवगया, जे जहिं जत्तिआइं भत्ताइं छेइत्ता अंतगडे, मुणिवरुत्तमे तिमिरओघविप्पमुक्के, मुक्खसुहमणुत्तरं च पत्ते । एवमन्ने अ एवमाइभावा मूलपढमाणुओगे कहिआ ।

से त्तं मूलपढमाणुओगे ।

१०७—प्रश्न—भगवन् ! अनुयोग कितने प्रकार का है ?

उत्तर—वह दो प्रकार का है, यथा—मूलप्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग ।

मूलप्रथमानुयोग में क्या वर्णन है ?

मूलप्रथमानुयोग में अरिहन्त भगवन्तों के पूर्व भवों का वर्णन, देवलोक में जाना, देवलोक का आयुष्य, देवलोक से च्यवनकर तीर्थंकर रूप में जन्म, देवादिकृत जन्माभिषेक, तथा राज्याभिषेक, प्रधान राज्यलक्ष्मी, प्रव्रज्या(मुनि-दीक्षा) तत्पश्चात् घोर तपश्चर्या, केवलज्ञान की उत्पत्ति, तीर्थ की प्रवृत्ति करना, शिष्य-समुदाय, गण, गणधर, आर्यिकाएँ, प्रवर्त्तिनीएँ, चतुर्विध संघ का परिमाण-संख्या, जिन-सामान्यकेवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी एवं सम्यक्श्रुतज्ञानी, वादी, अनुत्तरगति और उत्तरवैक्रियधारी मुनि यावन्मात्र मुनि सिद्ध हुए, मोक्ष-मार्ग जैसे दिखाया, जितने समय तक पादपोपगमन संथारा किया, जिस स्थान पर जितने भक्तों का छेदन किया, अज्ञान अंधकार के प्रवाह से मुक्त होकर जो महामुनि मोक्ष के प्रधान सुख को प्राप्त हुए इत्यादि । इनके अतिरिक्त अन्य भाव भी मूल प्रथमानुयोग में प्रतिपादित किये गए हैं । यह मूल प्रथमानुयोग का विषय हुआ ।

विवेचन—उक्त सूत्र में अनुयोग का वर्णन किया गया है । जो योग अनुरूप अथवा अनुकूल हो वह अनुयोग कहलाता है । जो सूत्र के साथ अनुरूप सम्बन्ध रखता है, वह अनुयोग है ।

अनुयोग के दो प्रकार हैं—मूलप्रथमानुयोग और गंडिकानुयोग ।

मूलप्रथमानुयोग में तीर्थंकरों के विषय में विस्तृत रूप से निरूपण किया गया है । सम्यक्त्व प्राप्ति से लेकर तीर्थंकर पद की प्राप्ति तक उनके भवों का तथा जीवनचर्य्या का वर्णन किया गया है । पूर्वभव, देवत्वप्राप्ति, देवलोक की आयु, वहाँ से च्यवन, जन्म, राज्यश्री, दीक्षा, उग्रतप, कैवल्य-प्राप्ति, तीर्थप्रवर्त्तन, शिष्यों, गणधरों, गणों, आर्याओं, प्रवर्त्तिनियों तथा चतुर्विध संघ का परिमाण, केवली, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, पूर्वधर, वादी, अनुत्तर विमानगति को प्राप्त, उत्तरवैक्रियधारी मुनि तथा कितने सिद्ध हुए, आदि का वर्णन किया गया है । मोक्ष-सुख की प्राप्ति और उसके साधन भी बताए हैं । उक्त विषयों को देखते हुए स्पष्ट है कि तीर्थंकरों के जीवनचरित मूल प्रथमानुयोग में वर्णित हैं ।

१०८— से किं तं गंडिआणुओगे ?

गंडिआणुओगे—कुलगरगंडिआओ, तित्थयरगंडिआओ, चक्कवट्टिगंडिआओ, दसारगंडिआओ, बलदेवगंडिआओ, वासुदेवगंडिआओ, गणधरगंडिआओ, भद्दबाहुगंडिआओ, तवोकम्मगंडिआओ,

हरिवंसगंडिआओ, उस्सप्पिणीगंडिआओ, ओसप्पिणोगंडिआओ, चित्तंतरगंडिआओ, अमर-नर-तिरिअ—निरय—गइ—गमण—विविह—परियट्टणाणुओगेसु, एवमाइआओ गंडिआओ आघविज्जंति, पण्णविज्जंति।

से त्तं गंडिआणुओगे, से त्तं अणुओगे।

१०८—गण्डिकानुयोग किस प्रकार है ?

गण्डिकानुयोग में कुलकरगण्डिका, तीर्थंकरगण्डिका, चक्रवर्त्तीगण्डिका, दशारगंडिका, बलदेवगंडिका, वासुदेवगण्डिका, गणधरगण्डिका, भद्रबाहुगण्डिका, तपःकर्मगण्डिका, हरिवंशगण्डिका, उत्सर्पिणीगण्डिका, अवसर्पिणीगण्डिका, चित्रान्तरगण्डिका, देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरकगति, इनमें गमन और विविध प्रकार से संसार में पर्यटन इत्यादि गण्डिकाएँ कही गई हैं। इस प्रकार प्रतिपादन की गई हैं। यह गण्डिकानुयोग है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में गण्डिकानुयोग का वर्णन है। गण्डिका शब्द प्रबन्ध या अधिकार के लिए दिया गया है। इसमें कुलकरों की जीवनचर्या, एक तीर्थंकर और उसके बाद दूसरे तीर्थंकर के मध्य-काल में होनेवाली सिद्धपरम्परा का वर्णन तथा चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, गणधर, हरिवंश, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी तथा चित्रान्तर यानी पहले व दूसरे तीर्थंकर के अन्तराल में होनेवाले गद्दीधर राजाओं का इतिहास वर्णित है। साथ ही उपर्युक्त महापुरुषों के पूर्वभवों में देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक, इन चारों गतियों के जीवनचरित्र तथा वर्तमान और अनागत भवों का इतिहास भी है। संक्षेप में, जब तक उन्हें निर्वाण पद की प्राप्ति नहीं हुई, तब तक के सम्पूर्ण जीवन-वृत्तान्त गण्डिकानुयोग में वर्णन किये गए हैं। चित्रान्तर गण्डिका के विषय में वृत्तिकार ने लिखा है:—

"चित्तन्तरगण्डिआउत्ति, चित्रा—अनेकार्था अन्तरेऋषभाजिततीर्थकरापान्तराले गण्डिकाः चित्रान्तरगण्डिकाः, एतदुक्तं भवति-ऋषभाजिततीर्थंकरान्तरे ऋषभवंशसमुद्भूतभूपतीनां शेषगति-गमनव्युदासेन शिवगतिगमनानुत्तरोपपातप्राप्तिप्रतिपादिका गण्डिका चित्रान्तरगण्डिका।"

गण्डिकानुयोग को गन्ने के उदाहरण से भली भांति समझा जा सकता है। जिस प्रकार गन्ने में गाँठें होने से उसका थोड़ा-थोड़ा हिस्सा सीमित रहता है, उसी प्रकार तीर्थंकरों के मध्य का समय भिन्न-भिन्न इतिहासों के लिए सीमित होता है।

इस प्रकार अनुयोग का विषय वर्णित हुआ। स्मरण रखना चाहिये कि अनुयोग के दोनों प्रकार इतिहास से सम्बन्धित हैं।

(५) चूलिका

१०९—से किं तं चूलिआओ ?

चूलिआओ—आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिआओ सेसाइं पुव्वाइं अचूलिआइं। से त्तं चूलिआओ।

१०९—चूलिका क्या है ?

उत्तर—आदि के चार पूर्वों में चूलिकाएँ हैं, शेष पूर्वों में चूलिकाएँ नहीं हैं। यह चूलिकारूप दृष्टिवाद का वर्णन है।

विवेचन—चूलिका अर्थात् चूला, शिखर को कहते हैं। जो विषय परिकर्म, सूत्र, पूर्व, तथा अनुयोग में वर्णित नहीं है, उस अवर्णित विषय का वर्णन चूला में किया गया है। चूर्णिकार ने कहा है—

"दिट्ठिवाये जं परिकम्म-सुत्त-पुव्व-अणुओगे न भणियं तं चूलासु भणियं ति।" चूलिका आधुनिक काल में प्रचलित परिशिष्ट के समान है। इसलिए दृष्टिवाद के पहले चार भेदों का अध्ययन करने के पश्चात् ही इसे पढ़ना चाहिये। इसमें उक्त-अनुक्त विषयों का संग्रह है। यह दृष्टिवाद की चूला है आदि के चार पूर्वों में चूलिकाओं का उल्लेख है, शेष में नहीं। इस पाँचवें अध्ययन में उन्हीं का वर्णन है। चूलिकाएँ उन-उन पूर्वों का अंग हैं।

चूलिकाओं में क्रमश: ४, १२, ८, १० इस प्रकार ३४ वस्तुएँ हैं। श्रुतरूपी मेरु चूलिका से ही सुशोभित है अत: इसका वर्णन सबके बाद किया गया है।

दृष्टिवादाङ्ग का उपसंहार

११०—दिट्ठिवायस्स णं परित्ता वायणा, संखेज्जा अणुओगदारा, संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा, संखेज्जाओ पडिवत्तीओ, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखेज्जाओ संगहणीओ।

से णं अंगट्ठयाए बारसमे अंगे, एगे सुअक्खंधे, चोद्दसपुव्वाइं, संखेज्जा वत्थू, संखेज्जा चूलवत्थू, संखेज्जा पाहुडा, संखेज्जा पाहुडपाहुडा, संखेज्जाओ पाहुडिआओ, संखेज्जाओ पाहुडपाहुडिआओ, संखेज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासय-कड-निबद्ध-निकाइआ जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति, पण्णविज्जंति, परूविज्जंति, दंसिज्जंति, निदंसिज्जंति, उवदंसिज्जंति।

से एवं आया, एवं नाया, एवं विन्नाया, एवं चरण-करण परूवणा आघविज्जति।

से त्तं दिट्ठिवाए। ॥ सूत्र ५६ ॥

११०—दृष्टिवाद की संख्यात वाचनाएं, संख्यात अनुयोगद्वार, संख्यात वेढ (छन्द), संख्यात प्रतिपत्तियाँ, संख्यात निर्युक्तियाँ और संख्यात संग्रहणियाँ हैं।

अङ्गार्थ से वह बारहवाँ अंग है। एक श्रुतस्कन्ध है और चौदह पूर्व हैं। संख्यात वस्तु, संख्यात चूलिका वस्तु, संख्यात प्राभृत, संख्यात प्राभृतप्राभृत, संख्यात प्राभृतिकाएं, संख्यात प्राभृतिकाप्राभृतिकाएं हैं। इसमें संख्यात सहस्रपद हैं। संख्यात अक्षर और अनन्त गम हैं। अनन्त पर्याय, परिमित त्रस तथा अनन्त स्थावरों का वर्णन है। शाश्वत, कृत-निबद्ध, निकाचित जिन-प्रणीत भाव कहे गए हैं। प्रज्ञापन, प्ररूपण, दर्शन, निदर्शन और उपदर्शन से स्पष्ट किए गए हैं।

दृष्टिवाद का अध्येता तद्रूप आत्मा और भावों का सम्यक् ज्ञाता तथा विज्ञाता बन जाता है। इस प्रकार चरण-करण की प्ररूपणा इस अङ्ग में की गई है।

यह दृष्टिवादाङ्ग श्रुत का विवरण सम्पूर्ण हुआ।

विवेचन—दृष्टिवाद अङ्ग में भी पूर्व के अङ्गों की भांति परिमित वाचनाएं और संख्यात अनुयोगद्वार हैं। किन्तु इसमें वस्तु, प्राभृत, प्राभृतप्राभृत और प्राभृतिका की व्याख्या नहीं की गई

है। इस प्रकार के विभाग पूर्ववर्त्ती अंगों में नहीं हैं। इन्हें इस प्रकार समझना चाहिए कि—पूर्वों में जो बड़े-बड़े अधिकार हैं, उन्हें वस्तु कहते हैं, उनसे छोटे अधिकारों को प्राभृतप्राभत तथा उनसे छोटे अधिकार को प्राभृतिका कहते हैं।

यह अंग सबसे अधिक विशाल है फिर भी इसके अक्षरों की संख्या संख्यात ही है। इसमें अनन्त गम, अनन्त पर्याय, असंख्यात त्रस और अनन्त स्थावरों का वर्णन है। द्रव्यार्थिक नय से नित्य और पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। इसमें संख्यात संग्रहणी गाथाएं हैं। पूर्व में जो विषय निरूपण किये गए हैं, उनको कुछ गाथाओं में संकलित करने वाली गाथाएं संग्रहणी गाथाएं कहलाती हैं।

द्वादशाङ्ग का संक्षिप्त सारांश

१११—इच्चेइयम्मि दुवालसंगे गणिपिडगे अणंता भावा, अणंता अभावा, अणंता हेऊ, अणंता अहेऊ, अणंता कारणा, अणंता अकारणा, अणंता जीवा, अणंता अजीवा, अणंता भवसिद्धिया, अणंता अभवसिद्धिया, अणंता सिद्धा, अणंता असिद्धा पण्णत्ता।

भावमभावा हेऊमहेऊ कारणमकारणे चेव।
जीवाजीवा भविअ-मभविआ सिद्धा असिद्धा य॥

१११—इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक में अनन्त जीवादि भाव, अनन्त अभाव, अनन्त हेतु, अनन्त अहेतु, अनन्त कारण, अनन्त अकारण, अनन्त जीव, अनन्त अजीव, अनन्त भवसिद्धिक, अनन्त अभवसिद्धिक, अनन्त सिद्ध और अनन्त असिद्ध कथन किए गए हैं।

भाव और अभाव, हेतु और अहेतु, कारण-अकारण, जीव-अजीव, भव्य-अभव्य, सिद्ध-असिद्ध, इस प्रकार संग्रहणी गाथा में उक्त विषयों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में बारह अंगरूप गणिपिटक में अनन्त सद्भावों का तथा इसके प्रतिपक्षी अनन्त अभावरूप पदार्थों का वर्णन किया गया है। सभी पदार्थ अपने स्वरूप से सद्रूप होते हैं और पर-रूप की अपेक्षा से असद्रूप। जैसे—जीव में अजीवत्व का अभाव और अजीव में जीवत्व का अभाव है।

हेतु-अहेतु—हेतु अनन्त हैं और अनन्त ही अहेतु भी हैं। इच्छित अर्थ की जिज्ञासा में जो साधन हों वे हेतु कहलाते हैं तथा अन्य सभी अहेतु।

कारण-अकारण—घट और पट स्वगुण की अपेक्षा से कारण हैं तथा परगुण की अपेक्षा से अकारण। जैसे—घट का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड होता है और निमित्त होते हैं, दण्ड, चक्र, चीवर एवं कुम्हार आदि। इसी प्रकार पट का उपादान कारण तन्तु, और निमित्त कारण होते हैं—जुलाहा तथा खड्डी आदि बुनाई के सभी साधन। इस प्रकार घट निज गुणों की अपेक्षा से कारण तथा पट के गुणों की अपेक्षा से अकारण और पट अपने निज-गुणों की अपेक्षा से कारण तथा घट के गुणों की अपेक्षा से अकारण होता है। जीव अनन्त हैं और अजीव भी अनन्त हैं। भव्य अनन्त हैं और अभव्य भी अनन्त ही हैं। पारिणामिक-स्वाभाविकभाव हैं। किसी कर्म के उदय आदि की अपेक्षा न रखने के कारण इनमें परिवर्त्तन नहीं होता। अनन्त संसारी जीव और अनन्त सिद्ध हैं।

सारांश कि द्वादशाङ्ग गणिपिटक में पूर्वोक्त सभी का वर्णन किया गया है।

द्वादशाङ्ग श्रुत की विराधना का कुफल

११२—इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसार-कंतारं अणुपरिअट्टिंसु।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टंति।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए विराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं अणुपरिअट्टिस्संति।

११२—इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक की भूतकाल में अनन्त जीवों ने विराधना करके चार गतिरूप संसार कान्तार में भ्रमण किया।

इसी प्रकार इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक की वर्तमानकाल में परिमित जीव आज्ञा से विराधना करके चार गतिरूप संसार में भ्रमण कर रहे हैं—

इसी प्रकार द्वादशाङ्ग गणिपिटक की आगामी काल में अनन्त जीव आज्ञा से विराधना करके चार गतिरूप संसार कान्तार में भ्रमण करेंगे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में वीतराग प्ररूपित शास्त्र-आज्ञा का उल्लंघन करने पर जो दुष्फल प्राप्त होता है वह बताते हुए कहा है—जिन जीवों ने द्वादशाङ्ग श्रुत की विराधना की, वे चतुर्गति-रूप संसार-कानन में भटके हैं, जो जीव विराधना कर रहे हैं वे वर्तमान में नाना प्रकार के दुःख भोग रहे हैं और जो भविष्य में विराधना करेंगे वे जीव अनागत काल में भव-भ्रमण करेंगे।

आणाए विराहित्ता—सूत्र में यह पद दिया गया है। शास्त्रों में संसारी जीवों के हितार्थ जो कुछ कथन किया जाता है वही आज्ञा कहलाती है। अतः द्वादशाङ्ग गणिपिटक ही आज्ञा है। आज्ञा के तीन प्रकार बताए गए हैं, जैसे—सूत्राज्ञा, अर्थाज्ञा और उभयाज्ञा।

(१) जमालिकुमार के समान जो अज्ञान एवं अनुचित हठ पूर्वक अन्यथा सूत्र पढ़ता है, वह सूत्राज्ञा-विराधक कहलाता है।

(२) दुराग्रह के कारण जो व्यक्ति द्वादशाङ्ग की अन्यथा प्ररूपणा करता है वह अर्थाज्ञा-विराधक होता है, जैसे गोष्ठामाहिल आदि।

(३) जो श्रद्धाविहीन प्राणी द्वादशाङ्ग के शब्दों और अर्थ दोनों का उपहास करता हुआ अवज्ञापूर्वक विपरीत चलता है, वह उभयाज्ञा-विराधक होकर चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

द्वादशाङ्ग-आराधना का सुफल

११३—इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीइवइंसु।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयंति।

इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीइवइस्संति।

११३—इस द्वादशाङ्ग गणिपिटक की भूतकाल में आज्ञा से आराधना करके अनन्त जीव संसार रूप अटवी को पार कर गए।

बारह-अङ्ग गणिपिटक की वर्तमान काल में परिमित जीव आज्ञा से आराधना करके चार गतिरूप संसार को पार करते हैं।

इस द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक की आज्ञा से आराधना करके अनन्त जीव चार गति रूप संसार को पार करेंगे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि द्वादशाङ्ग रूप गणिपिटक श्रुत की सम्यक् आराधना करने वाले जीवों ने भूतकाल में इस संसार-कानन को निर्विघ्न पार किया है, आज्ञानुसार चलने वाले वर्तमान में कर रहे हैं और अनागतकाल में भी करेंगे।

जिस प्रकार हिंस्र जन्तुओं से परिपूर्ण, नाना प्रकार के कष्टों की आशंकाओं से युक्त तथा अंधकार से आच्छादित अटवी को पार करने के लिए तीव्र प्रकाश-पुंज की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जन्म, मरण, रोग, शोक आदि महान् कष्टों एवं संकटों से युक्त चतुर्गतिरूप संसार-कानन को भी श्रुतज्ञानरूपी अनुपम तेज-पुंज के सहारे से ही पार किया जा सकता है।

श्रुतज्ञान ही स्व-पर प्रकाशक है, अर्थात् आत्म-कल्याण और पर-कल्याण में सहायक है। इसे ग्रहण करने वाला ही उन्मार्ग से बचता हुआ सन्मार्ग पर चल सकता है तथा मुक्ति के उद्देश्य को सफल बना सकता है।

गणिपिटक की शाश्वतता

११४—इच्चेइअं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ।

भुविं च, भवइ अ, भविस्सइ अ।

धुवे, निअए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे।

से जहानामए पंचत्थिकाए न कयाइ नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ। भुविं च, भवइ अ, भविस्सइ अ, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे। एवामेव दुवालसंगे गणिपिडगे न कयाइ नासी, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ। भुविं च, भवइ अ, भविस्सइ अ, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए, निच्चे।

से समासओ चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खित्तओ, कालओ, भावओ, तत्थ—

दव्वओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइं जाणइ, पासइ,
खित्तओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं खेत्तं जाणइ, पासइ,
कालओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वं कालं जाणइ, पासइ,
भावओ णं सुअनाणी उवउत्ते सव्वे भावे जाणइ, पासइ। ॥ सूत्र ५७ ॥

११४—यह द्वादशाङ्ग गणिपिटक न कदाचित् नहीं था अर्थात् सदैवकाल था, न वर्तमान काल में नहीं है अर्थात् वर्त्तमान में है, न कदाचित् न होगा अर्थात् भविष्य में सदा होगा। भूतकाल

में था, वर्तमान काल में है और भविष्य में रहेगा। यह मेरु आदिवत् ध्रुव है, जीवादिवत् नियत है तथा पञ्चास्तिकायमयः लोकवत् नियत है, गंगा सिन्धु के प्रवाहवत् शाश्वत और अक्षय है, मानुषोत्तर पर्वत के बाहरी समुद्रवत् अव्यय है। जम्बूद्वीपवत् सदैव काल अपने प्रमाण में अवस्थित है, आकाशवत् नित्य है।

कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है, कभी नहीं है, ऐसा नहीं है और कभी नहीं होंगे, ऐसा भी नहीं है।

जैसे पञ्चास्तिकाय न कदाचित् नहीं थे, न कदाचित् नहीं हैं, न कदाचित् नहीं होंगे, ऐसा नहीं है अर्थात् भूतकाल में थे, वर्तमान में हैं, भविष्यत् में रहेंगे। वे ध्रुव हैं, नियत हैं, शाश्वत हैं, अक्षय हैं, अव्यय हैं, अवस्थित हैं, नित्य हैं।

इसी प्रकार यह द्वादशाङ्गरूप गणिपिटक—कभी न था, वर्तमान में नहीं है, भविष्य में नहीं होगा, ऐसा नहीं है। भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। यह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।

वह संक्षेप में चार प्रकार का प्रतिपादन किया गया है, जैसे—द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से।

द्रव्य से श्रुतज्ञानी—उपयोग लगाकर सब द्रव्यों को जानता और देखता है।

क्षेत्र से श्रुतज्ञानी—उपयोग युक्त होकर सब क्षेत्र को जानता और देखता है।

काल से श्रुतज्ञानी—उपयोग सहित सर्व काल को जानता व देखता है।

भाव से श्रुतज्ञानी—उपयुक्त हो तो सब भावों को जानता और देखता है।

विवेचन—इस सूत्र में सूत्रकार ने गणिपिटक को नित्य सिद्ध किया है। जिस प्रकार पंचास्तिकाय का अस्तित्व त्रिकाल में रहता है, उसी प्रकार द्वादशाङ्ग गणिपिटक का अस्तित्व भी सदा स्थायी रहता है। इसके लिए सूत्रकर्त्ता ने ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य, इन पदों का प्रयोग किया है। पञ्चास्तिकाय और द्वादशाङ्ग गणिपिटक की तुलना इन्हीं सात पदों के द्वारा की गई है, जैसे—पञ्चास्तिकाय द्रव्यार्थिक नय से नित्य है। वैसे ही गणिपिटक भी नित्य है। विशेष रूप से इसे निम्न प्रकार से जानना चाहिए।

(१) ध्रुव—जैसे मेरुपर्वत सदाकाल ध्रुव और अचल है, वैसे ही गणिपिटक भी ध्रुव है।

(२) नियत—सदा सर्वदा जीवादि नवतत्व का प्रतिपादक होने से नियत है।

(३) शाश्वत—पञ्चास्तिकाय का वर्णन सदाकाल से इसमें चला आ रहा है, अतः गणिपिटक शाश्वत है।

(४) अक्षय—जिस प्रकार गंगा आदि महानदियों के निरन्तर प्रवाहित रहने पर भी उनके मूल स्रोत अक्षय हैं उसी प्रकार द्वादशाङ्गश्रुत की शिष्यों को अथवा जिज्ञासुओं को सदा वाचना देते रहने पर भी कभी इसका क्षय नहीं होता, अतः अक्षय है।

(५) अव्यय—मानुषोत्तर पर्वत के बाहर जितने भी समुद्र हैं, वे सब अव्यय हैं अर्थात् उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती, इसी प्रकार गणिपिटक भी अव्यय है।

(६) अवस्थित—जैसे जम्बूद्वीप आदि महाद्वीप अपने प्रमाण में अवस्थित हैं, वैसे ही बारह अंगसूत्र भी अवस्थित हैं।

(७) नित्य—जिस प्रकार आकाशादि द्रव्य नित्य हैं उसी प्रकार द्वादशाङ्ग गणिपिटक भी नित्य है।

ये सभी पद द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से द्वादशाङ्ग गणिपिटक और पञ्चास्तिकाय के विषय में कहे गए हैं। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से गणिपिटक का वर्णन सादि-सान्त आदि श्रुत में किया जा चुका है। इस कथन से ईश्वरकर्तृत्ववाद का भी निषेध हो जाता है।

संक्षिप्त रूप से श्रुतज्ञान का विषय कितना है, इसका भी उल्लेख सूत्रकार ने स्वयं किया है, यथा—

द्रव्यत:—श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्यों को उपयोग पूर्वक जानता और देखता है। यहाँ शंका हो सकती है कि श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्यों को देखता कैसे है? समाधान में यही कहा और चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है कि यह उपमावाची शब्द है, जैसे किसी ज्ञानी ने मेरु आदि पदार्थों का इतना अच्छा निरूपण किया मानो उन्होंने प्रत्यक्ष करके दिखा दिया हो। इसी प्रकार विशिष्ट श्रुतज्ञानी उपयोग-पूर्वक सर्वद्रव्यों को, सर्वक्षेत्र को, सर्वकाल को और सर्व भावों को जानता व देखता है। इस सम्बन्ध में टीकाकार ने यह भी उल्लेख किया है—'अन्ये तु "न पश्यति" "इति पठन्ति" अर्थात् किसी-किसी के मत से 'न पासइ' ऐसा पाठ है, जिसका अर्थ है—श्रुतज्ञानी जानता है किन्तु देखता नहीं है। यहाँ पर भी ध्यान में रखना चाहिए कि सर्व द्रव्य आदि को जानने वाला कम से कम सम्पूर्ण श्रुत-दश पूर्वों का या इससे अधिक का धारक ही होता है। इससे न्यून श्रुतज्ञानी के लिए भजना है—वह जान भी सकता है और कोई नहीं भी जान सकता—

श्रुतज्ञान के भेद और पठनविधि

११५—अक्खर सन्नी सम्मं, साइअं खलु सपज्जवसिअं च।
गमिअं अंगपविट्ठं, सत्तवि एए सपडिवक्खा ॥१॥

आगमसत्थग्गहणं, जं बुद्धिगुणेहिं अट्ठहिं दिट्ठं।
बिंति सुअनाणलंभं, तं पुव्वविसारया धीरा ॥२॥

सुस्सूसइ पडिपुच्छइ, सुणेइ गिण्हइ अ ईहए याऽवि।
तत्तो अपोहए वा, धारेइ करेइ वा सम्मं ॥३॥

मूअं हुंकारं वा, बाढंकार पडिपुच्छ वीमंसा।
तत्तो पसंगपारायणं च परिणिट्ठा सत्तमए ॥४॥

सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही होइ अणुओगे ॥५॥

से त्तं अंगपविट्ठं, से त्तं सुअनाणं, से त्तं परोक्खनाणं, से त्तं नन्दी।

॥ नन्दी समत्ता ॥

११५—(१) अक्षर, (२) संज्ञी, (३) सम्यक्, (४) सादि, (५) सपर्यवसित, (६) गमिक, (७) और अङ्गप्रविष्ट, ये सात और इनके सप्रतिपक्ष सात मिलकर श्रुतज्ञान के चौदह भेद हो जाते हैं।

बुद्धि के जिन आठ गुणों से आगम शास्त्रों का अध्ययन एवं श्रुतज्ञान का लाभ देखा गया है, उन्हें शास्त्रविशारद एवं धीर आचार्य कहते हैं—

वे आठ गुण इस प्रकार हैं—विनययुक्त शिष्य गुरु के मुखारविन्द से निकले हुए वचनों को सुनना चाहता है। जब शंका होती है तब पुनः विनम्र होकर गुरु को प्रसन्न करता हुआ पूछता है। गुरु के द्वारा कहे जाने पर सम्यक् प्रकार से श्रवण करता है, सुनकर उसके अर्थ—अभिप्राय को ग्रहण करता है। ग्रहण करने के अनन्तर पूर्वापर अविरोध से पर्यालोचन करता है, तत्पश्चात् यह ऐसे ही है जैसा गुरुजी फरमाते हैं, यह मानता है। इसके बाद निश्चित अर्थ को हृदय में सम्यक् रूप से धारण करता है। फिर जैसा गुरु ने प्रतिपादन किया था, उसके अनुसार आचरण करता है।

आगे शास्त्रकार सुनने की विधि बताते हैं—

शिष्य मौन रहकर सुने, फिर हुंकार—'जी हां' ऐसा कहे। उसके बाद बाढंकार अर्थात् 'यह ऐसे ही है जैसा गुरुदेव फरमाते हैं' इस प्रकार श्रद्धापूर्वक माने। तत्पश्चात् अगर शंका हो तो पूछे कि—"यह किस प्रकार है ?" फिर मीमांसा करे अर्थात् विचार-विमर्श करे। तब उत्तरोत्तर गुण-प्रसंग से शिष्य पारगामी हो जाता है। तत्पश्चात् वह चिन्तन-मनन आदि के बाद गुरुवत् भाषण और शास्त्र की प्ररूपणा करे। ये गुण शास्त्र सुनने के कथन किए गए हैं।

व्याख्या करने की विधि

प्रथम वाचना में सूत्र और अर्थ कहे। दूसरी में सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का कथन करे। तीसरी वाचना में सर्व प्रकार नय-निक्षेप आदि से पूर्ण व्याख्या करे। इस तरह अनुयोग की विधि शास्त्रकारों ने प्रतिपादन की है।

यह श्रुतज्ञान का विषय समाप्त हुआ। इस प्रकार यह अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुत का वर्णन सम्पूर्ण हुआ। यह परोक्षज्ञान का वर्णन हुआ। इस प्रकार श्रीनन्दी सूत्र भी परिसमाप्त हुआ।

विवेचन—सूत्रकारों की यह शैली सदाकाल से अविच्छिन्न रही है कि जिस विषय का उन्होंने भेद-प्रभेदों सहित निरूपण किया, अन्त में उसका उपसंहार भी अवश्य किया। इस सूत्र में भी श्रुत के चौदह भेदों का स्वरूप बताने के पश्चात् अन्तिम एक ही गाथा में श्रुतज्ञान के चौदह भेदों का कथन किया है। जैसे—

(१) अक्षर, (२) संज्ञी, (३) सम्यक्, (४) सादि, (५) सपर्यवसित, (६) गमिक, (७) अङ्ग-प्रविष्ट, (८) अनक्षर, (९) असंज्ञी, (१०) मिथ्या, (११) अनादि, (१२) अपर्यवसित, (१३) अगमिक, और (१४) अनंगप्रविष्ट। इस प्रकार सामान्य श्रुत के मूल भेद चौदह हैं, फिर भले ही वह श्रुत सम्यक् ज्ञानरूप हो अथवा अज्ञानरूप (मिथ्याज्ञान) हो। श्रुत एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय छद्मस्थ जीवों तक सभी में पाया जाता है।

श्रुतज्ञान किसे दिया जाय ?

आचार्य अथवा गुरु श्रुतज्ञान देते हैं, किन्तु उन्हें भी ध्यान रखना होता है कि शिष्य सुपात्र है या कुपात्र। सुपात्र शिष्य अपने गुरु से श्रुतज्ञान प्राप्त करके स्व एवं पर के कल्याण-कार्य में जुट जाता है किन्तु कुपात्र या कुशिष्य उसी ज्ञान का दुरुपयोग करके प्रवचन अथवा ज्ञान की अवहेलना करता है। ठीक सर्प के समान, जो दूध पीकर भी उसे विष में परिणत कर लेता है। इसलिए कहा गया है कि—अविनीत, रसलोलुप, श्रद्धाविहीन तथा अयोग्य शिष्य तो श्रुतज्ञान के कथंचित् अनधिकारी हैं, किन्तु हठी और मिथ्यादृष्टि श्रुतज्ञान के सर्वथा ही अनधिकारी हैं। उनकी बुद्धि पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

बुद्धि चेतना की पहचान है और दूसरे शब्दों में स्वत: चेतना रूप है। वह सदा किसी न किसी गुण या अवगुण को धारण किये रहती है। स्पष्ट है कि जो बुद्धि गुणग्राहिणी है वही श्रुतज्ञान की अधिकारिणी है। पूर्वधर और धीर पुरुषों का कथन है कि पदार्थों का यथातथ्य स्वरूप बताने वाले आगम और मुमुक्षु अथवा जिज्ञासुओं को यथार्थ शिक्षा देने वाले शास्त्रों का ज्ञान तभी हो सकता है, जबकि बुद्धि के आठ गुणों सहित विधिपूर्वक उनका अध्ययन किया जाय। गाथा में आगम और शास्त्र, इन दोनों का एक पद में उल्लेख किया गया है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि—जो आगम है वह तो निश्चय ही शास्त्र भी है, किन्तु जो शास्त्र है वह आगम नहीं भी हो सकता है, जैसे—अर्थ-शास्त्र, कोकशास्त्र आदि। ये शास्त्र कहलाते हैं किन्तु आगम नहीं कहे जा सकते। धीर पुरुष वे कहलाते हैं जो व्रतों का निरतिचार पालन करते हुए उपसर्ग-परिषहों से कदापि विचलित नहीं होते।

बुद्धि के गुण

बुद्धि के आठ गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही श्रुतज्ञान का अधिकारी बनता है। श्रुतज्ञान आत्मा का ऐसा अनुपम धन है, जिसके सहयोग से वह संसारमुक्त होकर शाश्वत सुख को प्राप्त करता है और उसके अभाव में आत्मा चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ जन्म-मरण आदि के दु:ख भोगता रहता है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को बुद्धि के आठों गुण ग्रहण करके सम्यक् श्रुत का अधिकारी बनना चाहिए। वे गुण निम्न प्रकार हैं—

(१) सुस्सूसइ—शुश्रूषा का अर्थ है—सुनने की इच्छा या जिज्ञासा। शिष्य अथवा साधक सर्वप्रथम विनयपूर्वक अपने गुरु के चरणों की वन्दना करके उनके मुखारविन्द से कल्याणकारी सूत्र व अर्थ सुनने की जिज्ञासा व्यक्त करे। जिज्ञासा के अभाव में ज्ञान-प्राप्ति नहीं हो सकती।

(२) पडिपुच्छइ—सूत्र या अर्थ सुनने पर अगर कहीं शंका पैदा हो तो विनय सहित मधुर वचनों से गुरु के चित्त को प्रसन्न करते हुए गौतम के समान प्रश्न पूछकर अपनी शंका का निवारण करे। श्रद्धापूर्वक प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने से तर्कशक्ति वृद्धि को प्राप्त होती है तथा ज्ञान निर्मल होता है।

(३) सुणेइ—प्रश्न करने पर गुरुजन जो उत्तर देते हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुने। जब तक समाधान न हो जाय तब तक विनय सहित उनसे समाधान प्राप्त करे, उनकी बात दत्तचित्त होकर श्रवण करे किन्तु विवाद में पड़कर गुरु के मन को खिन्न न करे।

(४) गिण्हइ—सूत्र, अर्थ तथा किये हुए समाधान को हृदय से ग्रहण करे, अन्यथा सुना हुआ ज्ञान विस्मृत हो जाता है।

(५) ईहते—हृदयंगम किये हुए ज्ञान पर पुनः पुनः चिन्तन-मनन करे, जिससे ज्ञान मन का विषय बन सके। धारणा को दृढतम बनाने के लिए पर्यालोचन आवश्यक है।

(६) अपोहए—प्राप्त किये हुए ज्ञान पर चिन्तन-मनन करके यह निश्चय करे कि यही यथार्थ है जो गुरु ने कहा है, यह अन्यथा नहीं है, ऐसा निर्णय करे।

(७) धारेइ—निर्मल एवं निर्णीत सार-ज्ञान की धारणा करे।

(८) करेइ वा सम्मं—ज्ञान के दिव्य प्रकाश से ही श्रुतज्ञानी चारित्र की सम्यक्-आराधना कर सकता है। श्रुतज्ञान का अन्तिम सुफल यही है कि श्रुतज्ञानी सन्मार्ग पर चले तथा चारित्र की आराधना करता हुआ कर्मों पर विजय प्राप्त करे।

बुद्धि के ये सभी गुण क्रियारूप हैं क्योंकि गुण क्रिया के द्वारा ही व्यक्त होते हैं। ऐसा इस गाथा से ध्वनित होता है।

श्रवणविधि के प्रकार

शिष्य अथवा जिज्ञासु जब अञ्जलिबद्ध होकर विनयपूर्वक गुरु के समक्ष सूत्र व अर्थ सुनने के लिए बैठता है तब उसे किस प्रकार सुनना चाहिए? सूत्रकार ने उस विधि का भी गाथा में उल्लेख किया है, क्योंकि विधिपूर्वक न सुनने से ज्ञानप्राप्ति नहीं होती और सुना हुआ व्यर्थ चला जाता है। श्रवणविधि इस प्रकार है—

(१) मूअं—जब गुरु अथवा आचार्य सूत्र या अर्थ सुना रहे हों, उस समय—प्रथम श्रवण के समय शिष्य को मौन रहकर दत्तचित्त होकर सुनना चाहिए।

(२) हुंकार—द्वितीय श्रवण में गुरु-वचन श्रवण करते हुए बीच-बीच में प्रसन्नतापूर्वक 'हुंकार' करते रहना चाहिए।

(३) बाढंकार—सूत्र व अर्थ गुरु से सुनते हुए तृतीय श्रवण में कहना चाहिये—'गुरुदेव! आपने जो कुछ कहा है, सत्य है' अथवा 'तहत्ति' शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

(४) पडिपुच्छइ—चौथे श्रवण में जहाँ कहीं सूत्र या अर्थ समझ में न आए अथवा सुनने से रह जाय तो बीच-बीच में आवश्यकतानुसार पूछ लेना चाहिए, किन्तु निरर्थक तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए।

(५) मीमांसा—पंचम श्रवण के समय शिष्य के लिए आवश्यक है कि गुरु-वचनों के आशय को समझते हुए उसके लिए प्रमाण की जिज्ञासा करे।

(६) प्रसंगपारायण—छठे श्रवण में शिष्य सुने हुए श्रुत का पारगामी बन जाता है और उसे उत्तरोत्तर गुणों की प्राप्ति होती है।

(७) परिणिट्ठा—सातवें श्रवण में शिष्य श्रुतपरायण होकर गुरुवत् सैद्धान्तिक विषय का प्रतिपादन करने में समर्थ हो जाता है। इसलिये प्रत्येक जिज्ञासु को आगम-शास्त्र का अध्ययन विधि-पूर्वक ही करना चाहिए।

सूत्रार्थ व्याख्यान-विधि

आचार्य, उपाध्याय या बहुश्रुत गुरु के लिए भी आवश्यक है कि वह शिष्य को सर्वप्रथम सूत्र का शुद्ध उच्चारण और अर्थ सिखाए। तत्पश्चात् उस आगम के शब्दों की सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति बताए। तीसरी बार पुन: उसी सूत्र को वृत्ति-भाष्य, उत्सर्ग-अपवाद, और निश्चय-व्यवहार, इन सबका आशय नय, निक्षेप, प्रमाण और अनुयोगद्वार आदि विधि से व्याख्या सहित पढ़ाए। इस क्रम से अध्यापन करने पर गुरु शिष्य को श्रुतपारंगत बना सकता है।

इस प्रकार नन्दी सूत्र की समाप्ति के साथ अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान और परोक्ष का विषय-वर्णन सम्पूर्ण हुआ।

नन्दीसूत्र-गाथानुक्रम

□□

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्‌धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा— आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे, अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं। जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

गर्जन और विद्युत् प्राय: ऋतु स्वभाव से ही होता है। अत: आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. निर्घात—विना वादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या वादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो पहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. यूपक—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्यया की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. यक्षादीप्त—कभी किसी दिशा में विजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत: आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. धूमिकाकृष्ण—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. मिहिकाश्वेत—शीतकाल में श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. रज उद्घात—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ हड्डी मांस और रुधिर—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश: सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. अशुचि—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. श्मशान—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. चन्द्रग्रहण—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. सूर्यग्रहण—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश: आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१६. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बेताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरडिया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूषालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इन्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेड़ता सिटी
४. श्री शा० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) जाड़न
११. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचंदजी वैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरीलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चोपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जवरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़तासिटी
२. श्री छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चोपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सलेम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलाल लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२० श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री जंवरीलालजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी वोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मिठालालजी कामदार, वैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखवचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रुणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी वोहरा, पीपलिया
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, वैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी वाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, व्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी वोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री वालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, वोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, व्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी वाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री माँगीलालजी मदनलालजी, चोरड़िया भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एन्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी वागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकन्दचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी वाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी
९५. श्री कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुमनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, भरतपुर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचंदजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०३. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैंरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रुणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्रीचांदमलजी लोढ़ा, बम्बई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर), मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालाल संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं. बैंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़